हनुमान के इस कथन का तात्पर्य यह, कि समाधि लग जाने पर उसका ' मैं ' राम में—परमात्मा में, ब्रह्म में—घुल जाता है—विलीन हो जाता है—ब्रह्मज्ञान यही है ।

अच्छा देखो, एक अमर्याद, विस्तीर्ण, पानी का विस्तार है—ऊपर पानी है, नीचे पानी है, जहां देखिये, पानी ही पानी है। और यह कल्पना करो कि शीत के योग से उसमें से कुछ पानी बर्फ हो गया है, अतएव उसे घनत्व प्राप्त हो गया है। बाद को यह भी समझ लो कि उस बर्फ में गर्मी पहुँचाई गई है; फिर वह बर्फ पिघल गई—फिर वह पानी ही बन गई ।

वह पानी का अनन्त विस्तार ही ब्रह्म है । बर्फ का घनरूप पाये हुए इस पानी के अंश, भक्तों को दीख पड़नेवाले, परमात्मा के दिव्य सगुणरूप हुए । भक्त की निष्ठा, प्रीति, भक्ति, आत्म-समर्पण, आदि को शीत समझो । अच्छा, उष्णता क्या है, तो सत् (ब्रह्म) और असत् (जगत्) का जो विचार अन्त में निर्विकल्प समाधि को साह्यभूत और कारणीभूत होता है वही विचार, और ' मैं मैं ' बकनेवाले अहंकार, का निःशेष लय ही उष्णता है ।

भक्त को (द्वैती उपासक को) प्रभु कदाचित् अपने अनन्त-रूप दिखलावेगा—भक्त के सामने वह अनेक रूपों से कदाचित् प्रकट होगा । पर माता की कृपा से समाधि में जो ब्रह्मपदारूढ़ हो चुका, उसके लिए वह फिर निराकार, अव्यय और केवल परमात्मा ही बना रहता है।

इस प्रकार भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग के ये सिरे अन्त में मिलते हैं—यही भक्तियोग और ज्ञानयोग का समन्वय है ।

जो सौभाग्य से सगुण-निर्गुण ईश्वर का अपरोक्षानुभव कर चुका है उसके प्रत्यय में यह आ जाता है कि चौबीस पदार्थ अथवा तत्व * (जगत्प्रपंच को मिला कर) माता से उत्पन्न हुए हैं।

जगत् क्या है? ईश्वर, आत्मा (जीवात्मा) और सृष्टि का ऐक्य।

ध्यान में रखना चाहिए कि मेरी माता जैसे एक होते हुए अनेक है, वैसे ही वह एक और अनेक दोनों से अतीत ब्रह्म भी है; अर्थात् एक होकर भी अनेक रूपों से नाट्य करनेवाली, अथवा अनेक रूप धारण करनेवाली प्रकृति और एक ही, परन्तु निर्विकार, ब्रह्म—इन दोनों का अन्तर्भाव मेरी माता ही में होता है। उसने आत्मा (जीवात्मा) के रूप से प्रत्येक मानवी तनु का आश्रय लिया है, इतना ही नहीं; किन्तु अनेक पदार्थों के रूपों से वही नाट्य कर रही है।

नवीन तत्व।

अद्वैत मत (अर्थात् जिस मत में ब्रह्म को केवल अमर्यादित और निरुपाधिक ईश्वर माना है) को निःशेष सत्य मानना चाहिए। इसका पहला कारण यह है कि ब्रह्म (निर्गुण) का समाधि में अनुभव होता है, और दूसरा कारण यह है कि माता यह साक्षात्कार कराती है कि ब्रह्म केवल है और उसका अनुभव सिर्फ समाधि ही में होता है, तथा वह और कुछ नहीं—सिर्फ मेरा ही निर्गुण अंग है। तथापि यह कोई भी, कदापि, नहीं कह सकता कि "सिर्फ मेरा ही मत (ईश्वरसम्बन्धी) निर्दोष, सत्य, सयुक्तिक, ग्राह्य और निर्बाध है; जो ईश्वर को सगुण मानते हैं वे झूठे हैं। सगुण ईश्वर सिर्फ पाखंड है। सगुण ईश्वर के हाथ में मोक्ष की कुंजी ही नहीं; इत्यादि, इत्यादि।"

* पांच स्थूल महातत्व, पांच सूक्ष्म महातत्व, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार।

शाब्दिक अद्वैती--घटाकाश, पटतन्तु, सुवर्णालंकार, सर्प-रज्जु, इत्यादि न्यायाडम्बर पर अद्वैत को नचा कर धन्यता माननेवाले--अथवा सिर्फ कोरे तत्वज्ञानी--जब तक केवल अपनी बुद्धिशक्ति पर अथवा तर्कशक्ति पर सारी उछल-कूद करते हैं, तब तक वे इस कूटक का अथवा इस प्रश्न का, यह उत्तर देते हैं कि, "यह भ्रान्ति (अर्थात् परमात्मा में जीवात्मा आने की बात) आई कहां से, सो कुछ हमें मालूम नहीं होता।"

शाब्दिक अद्वैतियों का कूटकः--पूर्ण आत्मा को--परमात्मा को--यह भावना कैसे प्राप्त होती है कि हम अपूर्ण हैं--पंगु हैं!

परन्तु साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभव, से जो उत्तर मिलता है वह बिलकुल अखंडनीय होता है। मेरी माता (ब्रह्म का सगुण अंग) यह बतलाती है कि, "मैंने ही, वेदान्त के ब्रह्म ने ही, यह सारा संसार निर्माण किया है--इस प्रपंच का कारण मैं ही हूं।" जब तक तुम यह कहते रहते हो कि 'मैं समझता हूं' या 'मैं नहीं समझता हूं' तब तक तुम्हारी यह भावना स्थिर रहती है कि हम कोई एक व्यक्ति हैं। इस प्रकार जब तक तुम्हारा व्यक्तित्व अबाधित है तब तक यह सब पसारा तुम्हें सत्य ही मानना चाहिए, मिथ्या नहीं मान सकते। मेरी माता फिर भी कहती है, "व्यक्तित्व, स्वत्व, अहंकार जब मैं बिलकुल निकाल डालती हूं--अहंकार का जब मैं बिलकुल लय कर देती हूं-- तभी परमात्मा का (मेरे निर्गुण अंग का) समाधि में अनुभव मिलता है।" और फिर उस दशा में मिथ्या या अमिथ्या, सत्य या असत्य, ज्ञान या अज्ञान का वाद ही नहीं रहता--वहां ये प्रश्न ही नहीं रहते। इसीको कहते हैं 'ब्रह्म का ज्ञान'।

बिन्दु ११।

साक्षात्कार और नवीन तत्व।

तब तक (जब तक माता की कृपा से अहंकार नष्ट नहीं होता और ब्रह्मज्ञान का सम्यक प्रत्यय नहीं आता तब तक) मेरा 'मैं' कायम ही रहता है; और अपने लड़कों को—भक्तों को—नाना दिव्य रूपों से दर्शन

भाग पहला:—सगुण ईश्वर की आवश्यकता।

देनेवाली; श्रीकृष्ण, चैतन्यदेव, इत्यादि अवतारी पुरुषों के रूपों से प्रकट होनेवाली; और चौवीस तत्वों के—जीव और जगत् के—रूपों से नटनेवाली मेरी सर्वसमर्थ माता का (सगुण परमेश्वर का) साक्षात्स्वरूप भी मेरे आगे मुझे दिखता रहता है। उस सगुण स्वरूप का ज्ञातृत्व भी मुझे नहीं छोड़ता। हाँ, सब जीवों में 'मैं' 'मैं' कहनेवाले और जीव को संसार-पाश में बान्धनेवाले अहंकार की धुरी यह जीव जो नहीं हटा सकता, यह भी उसी (माता) का प्रभाव है।

दूसरे, मेरी माता ही भक्त को भक्तिमार्ग दिखलाती है, और उसके अहंकार को अविद्या के चक्कर से छुड़ा कर विद्या के सुखमय प्रदेश में उसे लाती है। इस प्रकार वह उस अहंकार में रेषा का सूक्ष्मत्व लाती है। इसके सिवाय, उसका अनन्य सामर्थ्य तो देखिये।

वह अपने कृपापात्र जीव के अहंकार को मिटा कर उसमें ब्रह्मज्ञान उदित करती है। यह स्थिति आने के लिए, उसकी कृपा से जीवात्मा और परमात्मा की समरसता होनी चाहिए—जीवात्मा का परमात्मा में लय होना चाहिए।

अहंकार को हटा देने का सामर्थ्य तुममें नहीं है। जिन्होंने समाधि में ब्रह्मरस चखा है वे भी माता की इच्छा से, फिर नीचे की सिड्ढी पर उतरते हैं—जगत् की भावना उनमें फिर उत्पन्न होती है। और इसके बाद, सगुण ईश्वर का अनन्य-भाव से ध्यान अथवा चिन्तन करने भर के लिए उनमें अहं-वृत्ति फिर उत्पन्न होती है। सप्त स्वरों में 'नी' इस स्वर पर बराबर स्वर निकालना कितना कठिन है?

जब तक व्यक्ति के नाते से तुम्हारा स्वत्व कायम है तब तक यदि परमेश्वर चाहेगा तो, वह तुम्हें सगुण रूप से दर्शन देगा। अथवा जब तक तुम्हारा व्यक्तित्व लय नहीं हुआ तब तक, सगुण के सिवाय, परमेश्वर के अन्य किसी रूप की भी तुम्हें कल्पना नहीं हो सकती, अथवा तुम उसके किसी रूप का भी मनन, चिन्तन या आकलन नहीं कर सकते। ऐसा ही कुछ तुम्हारे अहंकार का स्वरूप है। तुम्हारे अहंकार की रचना ही ऐसी है।

अद्वैती और साधारण जन।

सोपाधिक अहंकार का—जीवात्मा का—परमात्मा में लय करना अद्वैत का साध्य है। परन्तु माता ने साधारण जनों के लिए इस साध्य की योजना नहीं की है। क्योंकि अहंकार की यह श्रृंखला ही कुछ ऐसी है कि अधिकांश लोग इस जन्म में अथवा आगे के कुछ थोड़े से जन्मों में, उसको नहीं तोड़ सकते।

अतएव जब तक वे सामान्य जन, समाधि तक न पहुंच सकें तब तक उन्हें सगुण ईश्वर का ही अनन्य भजन और चिंतन करना चाहिए। क्योंकि, सत्पुरुष, शास्त्र और साक्षात्कार, एक मत से, कह रहे हैं कि निरुपाधिक ईश्वर ही सोपाधिक हो कर—निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर—मनुष्य को, भीतर और बाहर, प्रतीत होता है। ये सगुण रूप कुछ कम सत्य

नहीं हैं, किन्तु, इसके विरुद्ध, शरीर अथवा मन, अथवा इस जगत् के पसारे से कहीं अधिक वे सत्य हैं। इसीलिए ज्ञानी पुरुष सगुण ईश्वर की आवश्यकता बतलाते हैं।

उपाग दूसरा:—माता का (सगुण परमेश्वर का) जीव और जगत् से ऐक्य।

इस सृष्टि (अथवा उत्क्रान्ति) के कार्य में मेरी माता ने स्वेच्छा से मेरी आत्मा (सोपाधिक आत्मा—जीवात्मा) की भूमिका ली है; इतना ही नहीं, वरन् बाह्य सृष्टि, अथवा जगत् के रूप से वही अवतीर्ण हुई है। एक बार निर्विकल्प समाधि का अनुभव लेकर जो जागृति में आता है उसमें बिलकुल सूक्ष्म (केवल रेखा के समान सूक्ष्म) अहंकार बाकी रहता है। सचमुच उसका अहंकार (स्वत्व) इतना दुर्बल होता है, कि उसके दिव्य चक्षु मात्र बाकी रहते हैं। इन दिव्य चक्षुओं के योग से उसे यह अनुभव होता है कि मेरी माता ही इन अनेक रूपों से—स्वयं मेरे, अन्य जीवों और जगत् के रूपों से—नाट्य कर रही है!

उत्क्रान्ति-मालिका में, भीतरी-बाहरी जगत् में, चौबीस तत्वों अथवा पदार्थों के रूप से नाट्य करनेवाली मेरी माता के दिव्य मुख का दर्शन प्रत्येक को नहीं हो सकता; वह दर्शन-सुख सब को नहीं मिल सकता। निर्विकल्प समाधि में जिसने जिसने निर्गुण ब्रह्म का साक्षात् अनुभव किया है, और सविकल्प समाधि में सगुण और साकार ब्रह्म का जिसे प्रत्यय आया है, उसीको सिर्फ उस दिव्य रूप का दर्शन हो सकता है।

सच है, समाधि में जिसकी अहंवृत्ति का लय होता है और ब्रह्म से तादात्म्य होकर उसका सम्यक् प्रत्यय जिसको आता है उसे एक अदृश्य शक्ति नीचे, जगत् में—जागृति में—

फिर खींच लाती है। वह अदृश्य शक्ति कौन है? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें फिर अपनी सर्वसमर्थ माता की ओर ही झुकना चाहिए। समाधि में अहंकार कायम रखना और उसे मिटा डालना, ये दोनों बातें, केवल एक उसीके हाथ में हैं।

तीसरा उपोग:—सर्वसमर्थ माता और कर्म; सगुण परमेश्वर के द्वारा क्या ब्रह्म-ज्ञान हो सकता है?

तत्त्वज्ञानी और तार्किक कहता है कि समाधि में पहुंचा हुआ योगी अपने कर्म के कारण ही—पूर्वजन्मार्जित कर्म के कारण ही—फिर जगत् में आ पड़ता है, उसका कर्म ही उसे जागृति में लाने का कारण होता है।

अर्थात् जब तक अहंवृत्ति कायम रहती है तब तक कर्ता और कर्म का जोड़ा नहीं छूटता। उसी प्रकार कार्य और कारण का भी लय नहीं होता। केवल यही नहीं; किन्तु करोड़ों जीव, चौबीस तत्त्वों से युक्त यह जगत्, भूत-वर्तमान-भविष्य आदि काल, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, इत्यादि सर्व भेदाभेद बिलकुल सत्य बने रहते हैं। उसी प्रकार इन सब भेदों का कारण बनानेवाला सर्वशक्तिमान् ईश्वर (मेरी माता)—सगुण-परमात्मा—भी बिलकुल सत्य ही रहता है।

साक्षात्कार से इस कथन की पुष्टि होती है। क्योंकि माता कहती है; कि "इन सब भेदों का कारण मैं ही हूं। सत्कर्म अथवा दुष्कर्म मेरे तंत्र से चलते हैं। कर्म का बन्धन है जरूर, पर उस बन्धन का कारण मैं ही हूं। बन्धन में डालना और बन्धन से निकालना ये दोनों बातें मेरे हाथ की हैं। सब कर्मों पर—सत् अथवा असत् कर्मों पर—मेरी ही सत्ता चलती है। इसलिए तुम सब मेरी ओर आओ, मैं तुमको इस संसार से—इस कर्मसागर से—पार कर दूंगी। फिर तुम चाहे जिस मार्ग से आओ; चाहे तो ज्ञानमार्ग से आओ; अथवा कर्ममार्ग

से आओ। तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें ब्रह्म का ज्ञान भी करा सकती हूं। समाधि तक पहुंचने के बाद भी यदि कर्म बाकी होगा तथा शरीर और अहंकार यदि कायम होंगे, तो ऐसा समझो, कि उस कर्म, शरीर और अहंकार को कायम रखने का प्रबन्ध मैंने ही, किसी विशिष्ट हेतु से, किया है।"

अपने लड़कों को—अपने भक्तों को—उसने (माता ने) इन सब बातों का ज्ञान, साक्षात्कार के द्वारा करा दिया है।

भक्त को तथा ब्रह्मज्ञान हो सकता है ?

अतएव, यदि कोई चाहता हो कि हमें ब्रह्मज्ञान हो, तो उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिए, बड़ी आतुरता से, उस माता की विनती करना चाहिए और सब प्रकार से उसी पर अपना भार डाल देना चाहिए—अनन्यगतिक होकर उसके शरण में जाना चाहिए—इतने पर, अन्त में, उसे वह ज्ञान अवश्य ही प्राप्त होगा।

ब्रह्मज्ञान के लिए ऐसा आतुर होकर भक्त जब मेरी माता (अथवा उसके किसी रूप) के पास आता है, तब उसकी भक्ति में अहंकार का मिश्रण रहता है; परन्तु अन्त में, माता की कृपा से, समाधि में उसके अहंकार का पूर्णतया अस्त हो जाता है।

कर्ता और कर्म के भेद का कारण सगुण ईश्वर (सगुण ब्रह्म)—मेरी माता—ही है। समाधि में यह अहंकार नष्ट करके वही (मेरी माता ही) ब्रह्म का ज्ञान करा देती है।

"यह वही करती है—" इस बात का ज्ञान हमें साक्षात्कार से होता है।

"जिस तत्वज्ञ का साक्षात्कार पर, तथा तर्कबुद्धि पर भी विश्वास नहीं होता, वह यह कहता है कि, " सगुण ईश्वर के द्वारा जीवात्मा को मुक्ति अथवा ब्रह्मज्ञान का लाभ कदापि नहीं हो सकता "।

तत्वज्ञ या ज्ञानी पुरुष जब यह कहता है कि 'ब्रह्म का ज्ञान मैं स्वयं ही कर सकता हूं' तब वह नीचे की दशा में ही (सापेक्ष अथवा दृश्य जगत् में)--मैं और तू का भेद जिसमें बना रहता है, ऐसी ही स्थिति में--रहता है। उस स्थिति में उन्हें स्वाभाविक ही सगुण ईश्वर--मेरी सर्वसमर्थ माता--का अस्तित्व मानना चाहिए।

यह कथन बिलकुल विलक्षण जान पड़ता है कि जीव अपनी संकुचित बुद्धि के बल पर ब्रह्म का ज्ञान स्वयं कर सकता है; परन्तु मेरी माता में यह ज्ञान करा देने का सामर्थ्य नहीं। अथवा जीव में स्वयं मुक्ति-पद प्राप्त करने का सामर्थ्य है; परन्तु मेरी सर्वसमर्थ माता में जीव को उस मुक्ति-पद पर पहुंचाने का सामर्थ्य नहीं !

उक्त तत्वज्ञ यह बात भूल जाते हैं कि सगुण और निर्गुण दोनों एक ही व्यक्ति के अंग हैं। जब तक हमें अपने व्यक्तित्व—स्वत्व अथवा अहंकार—की भावना रहती है तब तक परमेश्वर हमें अपनी अनन्तशक्ति का सगुण रूप ही दिखलावेगा। अर्थात् उसकी उस अनन्तशक्ति में ब्रह्म का ज्ञान करा देनेवाली शक्ति का भी अन्तर्भाव रहता है।

परन्तु केवल तर्क भी एक शिथिल मुसाफिर है ! सिर्फ उसके सहारे से चलना बड़ी अनिश्चितता और धोखे का काम है !

इसके अतिरिक्त जिस तर्कबुद्धि पर तत्वज्ञ पुरुष का सारा दारमदार रहता है वह भी तो सगुण ईश्वर ही से प्राप्त होती है।

अतएव, केवल अद्वैतवादियों के मत में एक नवीन तत्व की विशेषता हुई। वह नवीन तत्व यही है कि ब्रह्म का ज्ञान सगुण ईश्वर के द्वारा होता है, अथवा सगुण ईश्वर में ब्रह्मज्ञान करा देने का सामर्थ्य है।

चौथा उपांगः—'ब्रह्म' का नाम लेते ही सापेक्षता दौड़ती है।

अहंभाव का पूर्णतया लय हो जाने पर समाधि में ब्रह्म-साक्षात्कार होना और ब्रह्म का अस्तित्व अथवा नास्तिकत्व के विषय में कुछ भी प्रतिपादन न करते हुए निःशब्द हो जाना ही शुद्ध ज्ञान है। अद्वैत के विषय में ज्योंही बात निकाली गई कि, बस समझ लो, द्वैत आ गया! क्योंकि जहां एक आया कि फिर दूसरा भी आना ही चाहिए! एक का उच्चारण करते ही दूसरे का अस्तित्व आप ही आप सिद्ध हो जाता है। सारांश, जहां अद्वैत के विषय में शब्द निकला कि बस उसके साथ ही द्वैत खड़ा हो जाता है। ज्योंही ब्रह्म बोला गया—अर्थात् ज्योंही वह वाचा का विषय हुआ—कि तुरन्त ही उसके पीछे सापेक्षता लगी। क्योंकि, जब तक समाधि में निरुपाधिक या शुद्ध ब्रह्म का अनुभव नहीं मिला तब तक वह निरुपाधिक ब्रह्म, (शुद्धब्रह्म) बहुत होगा तो, 'सोपाधिक' के विरुद्ध अर्थ की कोई वस्तु होगा; अथवा वर्णमाला के कुछ अक्षरों से बना हुआ, सिर्फ, कोई शब्द होगा, बस!

नित्य के विषय में जहां हमने बात निकाली, कि बस यह लीलामय (अनित्य) जग आगे आवे ही गा। 'अव्यक्त' शब्द का उच्चारण करते ही व्यक्त की भावना अवश्य ही पीछे लगेगी। उदाहरणार्थ, प्रकाश आया कि फिर उसके विरुद्ध, अन्धकार का, विचार आवे ही गा, अथवा 'सुख का नाम लेते ही उसके प्रतिद्वन्द्वी दुःख की याद आवे ही गी।

जगत् का अनित्य, अथवा लीलामय, भाग जिसका है उसी का नित्य भाग भी है, और नित्य भाग जिसका है उसी का अनित्य भी है। (नित्य और अनित्य दोनों एक ही व्यक्ति के दो अंग हैं।)

नित्य की ओर यदि हमें जाना है तो अनित्य से—इस दृश्य जगत् से—होकर, मार्ग निकालते निकालते ही हमे जाना होगा ! अच्छा, नित्य से जब हम चलेंगे तब भी मार्ग ढूँढते ढूँढते लौट कर हमें अनित्य में ही—दृश्य जगत् में ही—आना होगा। (परन्तु हाँ, इतना अवश्य है कि जहां हम एक बार 'नित्य' से मिल आये कि बस, फिर यह दृश्य जगत्, पहले की तरह, मिथ्या न मालूम होते हुए, नित्य का अथवा अव्यक्त का केवल व्यक्तस्वरूप जान पड़ने लगता है।)

यदि तुम ब्रह्म का स्वरूप बतलाने लगो तो अवश्य ही प्रायः तुम उसका यथार्थ निरूपण या प्रतिपादन कभी नहीं कर सकोगे। तुम्हारे द्वारा उस पर और ही किसी बात का—तुम्हारे स्वत्व या अहंकार का—अध्यास अवश्य ही होगा। तुम्हारे स्वत्व के पुट अथवा रंग उस पर चढ़े बिना कभी न रहेंगे।

तात्पर्य इतना ही है, कि हमें फिर साक्षात्कार पर ही पूर्ण निर्भर रहना चाहिए। परमेश्वर ही (मेरी माता ही) कहता है कि, 'सगुण ईश्वर मैं ही हूं, और समाधि के अनुभव में आनेवाला निर्गुण ईश्वर (ब्रह्म) भी मैं ही हू।'

इधर देखिए, कि मट्ठे का अस्तित्व स्वीकार किए बिना हम

और मट्ठा, दोनों का अस्तित्व स्वीकार किए बिना, अन्य मार्ग ही नहीं है।

जब तक तुम्हारा व्यक्तित्व नहीं गया; जब तक, माता की इच्छा से, तुम्हारा अहंकार बना हुआ है, तब तक, जहां तुमने 'निरुपाधिक' का नाम लिया कि उसके साथ 'सोपाधिक' तयार ही है; 'नित्य' कहते ही 'अनित्य' सामने खड़ा रहेगा; तुम्हारे 'वस्तु' कहते ही उस 'वस्तु' के 'गुण' तुरन्त ही आगे आवेंगे, तुम 'निर्गुण' लाये कि 'सगुण' तुम्हारे पीछे लगा ही है; 'एक' का उच्चारण नहीं करने पाओगे कि 'अनेक' उसका साथी खड़ा ही रहेगा!

जब माता समाधि में तुम्हारा अहंकार (व्यक्तित्व) नष्ट कर डालेगी, तब ब्रह्म का सम्यक् प्रत्यय आवे ही गा। फिर सम्पूर्ण शब्द बन्द, और वहां जा कुछ होगा, वह वहां का वहीं! क्योंकि समुद्र की थाह लेने के लिए गई हुई नमक की पुतली जब अनन्त महासागर में तद्रूप हो गई, तब फिर वह (उस समुद्र के विषय में) क्या बोले? कुछ बोल ही नहीं सकती।

यह स्थिति यदि दृष्टान्त से वर्णन की जा सकती है, तो हम यह कह सकते हैं, कि समाधि के अनुभव में आनेवाला ब्रह्म मूल दूध है, उस अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त अथवा सगुणरूप नेनू है; और चौबीस तत्वों से युक्त यह जगत् मट्ठा है!

मेरी माता ने (ब्रह्म के सगुण अंग ने) यह कहा है कि, 'मैं वेदान्त का ब्रह्म हूं। ब्रह्मज्ञान देना मेरे हाथ में है। अहंकार मिटा कर और समाधि में ब्रह्मसाक्षात्कार करा कर मैं वह ज्ञान करा देती हूं।' एवंच, पहले यह है, कि यदि माता की कृपा होगी, तो, ज्ञानमार्ग से तुम ब्रह्मपद पा सकोगे। परन्तु इससे, विशेष कर इस कलियुग में,

> पाँचवाँ उपायः—भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग, दोनों ब्रह्मज्ञान को जाते हैं। शब्द और प्रार्थना का प्रभाव।

बहुत थोड़े लोग पहुँच सकते हैं। क्योंकि हममें जो देहात्मबुद्धि भरी हुई है उसका छूटना बहुत कठिन है। *

अथवा, माता की यह प्रार्थना, कि 'हमें भक्ति और ज्ञान दे करके तुम (ब्रह्म की ओर) जा सकोगे। आत्मसमर्पण और शुद्धप्रेम इत्यादि, भक्ति के अनेक अंग हैं। पहले उनके (भक्ति के अंगों के--नवधा भक्ति के) द्वारा मेरी माता (सगुण परमेश्वर) की ओर जाओ।

मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूं, कि यदि तुम्हारी प्रार्थना शुद्ध भाव की होगी तो मेरी माता उसे अवश्य सुनेगी। हाँ तुम्हें धैर्य अवश्य रखना चाहिए। क्योंकि अपने लड़कों को--भक्तों को--उसने वैसा साक्षात्कार ही दिया है।

अच्छा, यदि तुम उसके निर्गुण अंग का साक्षात्कार चाहते हो, तो भी उसको प्रसन्न करो। यदि उसने ध्यान दिया--यदि वह तुम पर कृपा करना चाहेगी (क्योंकि वह सर्वसमर्थ है) तो तुम समाधि में उसके निर्गुण अंग का भी अनुभव कर सकोगे और यही अनुभव ब्रह्मज्ञान है।

भक्त की इच्छा। हाँ, मुझे यहां यह अवश्य बतला देना चाहिए, कि जो भक्त है, वह ईश्वर का--मेरी माता का अथवा श्रीकृष्ण, चैतन्यदेव, इत्यादि उसके अवतारों में से किसी का, अथवा उसके अनन्त दिव्य रूपों में से किसी रूप का--केवल दर्शन हो जाने से साधारणतया बिलकुल सन्तुष्ट रहता है। साधारण तौर से भक्त की कुछ यह इच्छा नहीं होती कि उसे निर्गुण का पूर्ण अनुभव हो। उसकी यह बहुत इच्छा रहती है कि समाधि में हमारा अहंकार सब प्रकार से लुप्त न हो। उसे इसीलिये

* क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥--गीता

सन्तोष रहता है कि, हमारा अभिमान इतना बना रहे कि, जिससे हम आनन्दपूर्वक अपनी उपास्य मूर्ति के दर्शनसुख का अनुभव ले सकें। शक्कर से एक रूपता प्राप्त करने की अपेक्षा—शक्कर में मिल जाने की अपेक्षा—उससे अलग रहकर उसका मिठास लेना उसे ठीक जान पड़ता है।

ऐसे भक्त को मेरी माता सगुण रूप से—साकार होकर—दर्शन देती है, क्योंकि भक्तों पर—अपने बच्चों पर—उसका मन बहुत रहता है।

छठवाँ उपांगः—अपरोक्षानुभव। दिव्य दृष्टि के लक्षण।

देवता के रूप का जिसे पूर्णतया आकलन हो गया—देवता के प्रत्यक्ष दर्शनसुख का जिसने अनुभव कर लिया—उसे अपरोक्षानुभूति का हठ रखना ही चाहिए; क्योंकि परमार्थ में महत्व का विषय वही है।

पहले ही से इस प्रकार के वाक्य कह डालने में कोई अर्थ नहीं है कि:—"मैं ईश्वर का स्वरूप समझ गया—जो ब्रह्म भीतर-बाहर व्याप्त है उसे मैंने जान लिया। अहो! मुझे दिख पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु—पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल, पाषाण, सब कुछ—ईश्वर स्वरूप ही है! मैं केवल आनन्द की—सुख की—मूर्ति हूँ। मैं सुख-दुःखातीत हूँ। सोऽहम! सोऽहम!! इत्यादि।"

पहले साधन करना चाहिए। इसके सिवाय अन्य मार्ग ही नहीं है। उसके बिना सच्ची भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। जब तक साधन का सम्पादन नहीं हुआ तब तक हम चाहे जितना चिल्लाया करें, तथापि ब्रह्मज्ञान का गन्ध भी नहीं मिल सकता। तब तक सब बोलना-चालना व्यर्थ है।

क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान की सम्पत्ति, सुरक्षित रीति से, तहखाने में रक्खी हुई है और उसमें मजबूत ताला भी लगा है। उस तहखाने का ताला तुमने नहीं खोला। तुम मुख से (जब तक

साधन नहीं किया) तब तक ये वचन नहीं निकाल सकते कि:—"मैंने वह ताला खोल कर तहखाने में पैर रक्खा। देखिये, उस सम्पत्ति पर मैंने हाथ चलाया! ये रत्न, हीरे, माणिक कितने तेजस्वी हैं! ये देखिए, सब मेरे हाथ में आ गये।"

जिस पुण्यात्मा को परमेश्वर की दिव्य मूर्ति का साक्षात् दर्शन हो जाता है उसकी वृत्ति, बालक के समान सरल, और सादी बन जाती है। उसे यह जगत् कुछ निराले ही स्वरूप का भासने लगता है। इस जगत् की नामरूपात्मक भिन्नता का भास उसे नहीं जान पड़ता। उसके आगे जो दिव्य रूप प्रकट होता है उसे देख कर, भक्ति के मद से, बहुधा उसका भान चला जाता है। पवित्रता के जीवित स्रोत में वह तदाकार हो जाता है। इस कारण बहुधा 'शुचि' और 'अशुचि' के सम्बन्ध की भेदबुद्धि उसमें नहीं रहती।

अन्त में, उसकी जागृति बीच बीच में जाने लगती है और समाधि में जड़ के सदृश उसकी अवस्था होती है।

अपरोक्षानुभव प्राप्त होने तक मनुष्य को शुद्ध रहना चाहिए। और जगत् का—कामिनी और कांचन का—त्याग करना चाहिए।

बिन्दु १२।

श्रीरामकृष्ण और भक्तियोग।

सगुण परमेश्वर की आवश्यकता —जीवन के प्रश्न को हल करने का मार्ग।

ब्रह्मज्ञान का मार्ग रुद्ध करनेवाला जो यह "मैं" है उसका भावना छूटना कितना कठिन है ! विज्ञान तक पहुँच कर आत्मा चाहे मुक्त हो जाय, तथापि उसे कोई अदृश्य शक्ति—मेरी माता—खींच कर पीछे जागृति में लाती है, और उस समय भी उसमें यह "मैं" की भावना लगी रहती है—फिर वह चाहे बिलकुल सूक्ष्मावस्था ही में क्यों न हो—यह मैंने पहले बतलाया ही है।

देखिये, स्वप्न में आपने बाघ देखा। तो उस समय आपकी क्या दशा हो जाती है? आप नख-शिखान्त काँपने लगते हैं। आपकी छाती ज़ोर ज़ोर से धड़कने लगती है। बाद को, जागृति में आने पर, आपको विश्वास हो जाता है कि हमने अभी जो कुछ देखा वह सिर्फ स्वप्न था। परन्तु यह विश्वास हो जाने के बाद भी, जागृतावस्था में भी, आपकी छाती धड़कती ही रहती है।

पक्का 'मैं'।

यदि ऐसा है—यदि यह 'मैं' की भावना किसी तरह हमें नहीं छोड़ती—तो फिर अब क्या करना चाहिए? करना यही चाहिए कि उसके पीछे एक उपाधि लगा देनी चाहिए। वह उपाधि कौन सी? तो उसे राम-दास बना डालना चाहिए। संसारी जनों को 'मैं' और 'मेरा' का जो ध्यान लगा रहता है वह अविद्यामूलक अथवा अज्ञानमूलक है। सब

कुछ ईश्वर की इच्छा से होता है। मनुष्य का यह कहना, कि "मैं भूपति हूँ," "मैं धनी हूँ" और "ये सब वस्तुएं मेरी हैं" बिलकुल हास्यास्पद है।

अगले दो प्रसंगों पर तो परमेश्वर को हँसी ही आती है:--

(१) कोई मनुष्य बिलकुल बीमार होकर मृतप्राय हो रहा है। उसकी माता बहुत शोकाकुल हो रही है। ऐसे समय में वैद्यराज वहां आकर उसकी माता से कहते हैं:—"देखो, इसमें चिन्ता की कोई बात नहीं है। तुम्हारे लडके को चंगा कर देना मेरे हाथ है। परन्तु उस बिचारे वैद्य को यह नहीं मालूम है, कि परमेश्वर उस लड़के के आस-पास मृत्यु का जाल बिछा रहा है। उस वैद्य की गर्वोक्ति पर हँस कर परमेश्वर कहता है:—"इस मनुष्य को मृत्यु के मुख में तो मैं डाल रहा हूं," और यह मूर्ख वैद्य कह रहा है कि 'मैं तुम्हारे लड़के को चंगा करता हूं'।

(२) दो भाई आपस में अपनी स्थावर सम्पत्ति का बाँट कर रहे हैं। वे जंजीर लेकर सब जमीन माप रहे हैं। उसके दो भाग करके आपस में कह रहे हैं कि "यह भाग मेरा और यह भाग तेरा;" परन्तु परमेश्वर हँस कर कह रहा है, "हाँ, इन मूर्खों को क्या कहा जाय? ये कह रहे हैं कि यह जमीन हमारी है; पर ये यह नहीं समझते हैं कि जमीन का प्रत्येक भाग मेरा है"।

रईस और उसके माली का दृष्टान्त।

रईस लोगों के बाग होते हैं, और उन बागों पर माली नियत रहते हैं। जब कोई बड़ा आदमी किसी बाग को देखने आता है तब उस बाग का माली उसके पीछे पीछे चल कर, बड़े डौल और अभिमान से, उस बाग के भिन्न भिन्न भाग और बँगला इत्यादि दिखलाता है, और इस प्रकार कहता जाता है कि, "यह देखिये, महाराज,

यहां ये हमारे गुलाब के पौधे हैं। इधर ये हमारे नाशपाती के पौधे हैं। और उधर वे-देखिए, हमारे अमरूद, अनार, अनन्नास, जामुन, इत्यादि के वृक्ष हैं। यह हमारा कमरा—ये देखिये हमारी तसवीरें कैसी अच्छी हैं!' इत्यादि, इत्यादि।

मान लीजिए, आगे चल कर किसी कारणवश मालिक उस पर नाराज हो गया। अब वह उस माली का क्या करता है? और क्या करेगा? लात मार कर उसे बाग से निकाल देता है, कपडे-लत्ते उठाने के लिए भी वह उसे अवकाश नहीं देता!

अब देखिए। जो माली बडे उत्साह और अभिमान से कह रहा था कि "हमारा यह है" और "हमारा वह है" उसीकी ऐसी दशा हो जाती है!

अब, उस माली का यह 'मेरा' (या 'हमारा') क्या अज्ञानमूलक नहीं है?

बुद्धि पंगु है। श्रद्धा सर्वसमर्थ है। बुद्धि बहुत नहीं चलती, वह एक कर कहीं न कहीं ठहर जाती है। श्रद्धा अघटित कार्य सिद्ध कराती है।

हाँ, श्रद्धा के बल पर मनुष्य अपार महोदधि भी लीला से पार कर सकता है।

श्रद्धा का कर्तुमकर्तुं सामर्थ्य ।

लंका को जाने के लिए रामचन्द्र को समुद्र में पुल बांधने का परिश्रम करना पड़ा। परन्तु मानों संसार को श्रद्धा का अपार सामर्थ्य दिखलाने ही के लिए उन्होंने अपने भक्त—हनुमान—को सिर्फ श्रद्धा के बल पर ही वही समुद्र उलंघन करने में सफलता प्राप्त करा दी!

एक भक्त बिभीषण का बड़ा मित्र था। वह समुद्र पार करना चाहता था। इसके लिए उसने बिभीषण से सहायता चाही। बिभीषण ने क्या दिया? उन्होंने एक पत्ते में चुपके से राम-नाम लिख कर उसे वह पत्ता दे दिया और कहा, "इसे चुपके अपने

कपड़े में मजबूती के साथ बान्ध लो। इसके योग से तुम निश्चित समुद्र को पार कर सकोगे। परन्तु यह ध्यान में रखना कि यह पत्ता खोल कर देखना न चाहिए। जहां तुमने उसे खोल कर देखा कि बस गये पाताल को ! "

उस भक्त ने अपने मित्र के वचनों पर विश्वास (श्रद्धा) रक्खा। और सुरक्षित रीति से वह कुछ देर तक समुद्र में चलता गया; परन्तु पीछे से, दुर्भाग्यवश, उसे दुर्बुद्धि सूझी; और उसके शिर में यह कल्पना उठी कि " किसके सामर्थ्य से इतना बड़ा समुद्र सहज ही पार किया जा सकता है, यह कौन सी ऐसी चीज है, उसे देखना चाहिए "। उसने यह पत्ता खोला और तुरन्त ही समुद्र के पेट में वह चला गया !

अतएव श्रद्धा कर्तुमकर्तुं समर्थ है। उसके सामने सृष्टि के सम्पूर्ण बल लटपटा कर लंगड़े हो जाते हैं ! उसके बल पर आप, बिना किसी डर के और सुरक्षित रीति से, मेरु का उलंघन कर सकते है । यही नहीं, किन्तु पाप, अन्याय, अज्ञान, संसारासक्ति, इत्यादि सब उसके सामने से डर कर भागते है।

देखिये, श्रद्धा के बल का आश्रय मिले बिना धर्म-मार्ग का आक्रमण कदापि नहीं हो सकता । चाहे और कुछ न हो, परन्तु केवल श्रद्धा चाहिए।

परमात्मा पर श्रद्धा रखना चाहिए, इससे तत्काल ही सम्पूर्ण पाप भस्म हो जाते हैं।

मेरी माता का—जिश्वेश्वरी का—भक्त इस लोक में भवबन्धन से छूटता है—जीवन्मुक्त होता है। यह केवल आनन्दस्वरूप ही रहता है।

मुख्य श्रद्धा चाहिए। वैसी ही भक्ति भी। ईश्वर की सहायता बिना—साक्षात्कार बिना—सिर्फ विचार के—सद्

असद्विवेक के—बल पर माता की प्राप्ति होना, विशेषतः इस कलियुग में, अत्यन्त कठिन है।

इतना कह कर महाराज ने एक गीत गाया। उसे सब लोग तटस्थ वृत्ति से सुनने लगे। प्रत्येक का हृदय भर आया गीत समाप्त होने पर कोई कुछ नहीं बोला। बिलकुल स्तब्धता छाई हुई थी। महाराज का मन बड़ी देर तक माता के पदकमलों में लगा रहा।

* * * *

महाराज (विद्यासागर से)—अच्छा, देवता के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?

विद्यासागर (सब लोगों की ओर एक बार दृष्टि डाल कर):—माफ कीजिए। महाराज! इस विषय में आप से बात चीत करने के लिए मुझे अकेले ही कभी न कभी कोई मौका निकालना चाहिए। (हँसी।)

महाराजः—आपको वह सब अवश्य ही मालूम होगा। परन्तु सिर्फ आपको उसकी कुछ बहुत कीमत नहीं जान पड़ती। सागराधिपति वरुण की सम्पत्ति अगणित होती है— न जाने कितना सोना, हीरे, माणिक, इत्यादि उसके अधिकार में होते हैं। पर, यह थोड़े ही है कि उस सागराधिपति को अपने साम्राज्य के—अपने रत्नाकर के—सम्पूर्ण रत्नों की जानकारी हो! (हँसी।)

अच्छा, किसी धनवान् जमीदार ही को लीजिए। कभी कभी तो उसे अपने नौकरों के ठीक ठीक नाम भी मालूम नहीं रहते! (हँसी।)

वह जमीदार समझता है कि ऐसे हलके लोगों से परिचय रखना अपने बड़प्पन में बट्टा लगाना है! (हँसी।)

* * * *

महाराज (विद्यासागर से):—आप क्या एक बार दक्षिणेश्वर के बाग में न आवेंगे ? वह रम्य स्थान है, बहुत ही भव्य और सुन्दर है।

विद्यासागरः—अवश्य ! आप, कृपा करके, जब हमारे यहां पधारे, तब आपकी भेंट के लिए आना क्या मेरा कर्तव्य ही नहीं ?

महाराज (हँस कर):—यह देखिये, पंडितजी, मैं आपको बतलाये देता हूँ। हम ठहरे मच्छीमारों की डोंगियां, छोटी और हलकी—चाहे जहां जाने के लिए तयार है ! (हँसी)। और आप हैं बड़ी नाव की तरह ! आप यदि नदी में इधर-उधर जाने लगें तो कहीं ऐसा न हो कि, आप कदाचित् बालू की किसी रेती में ही धर रहें ! (हँसी।)

विद्यासागर (हँस कर):—हाँ, ठीक ही है। मैं समझ गया-पानी हाल ही में बरसा है ! (हँसी।)

प्रयाण।

रात के आठ बजने आये। दक्षिणेश्वर के मन्दिर में महाराज को ले जाने के लिए गाड़ी तयार हुई। महाराज कुछ देर के लिए ध्यानस्थ हुए। उन्होंने माता का ध्यान किया होगा। अपने यजमान (पंडित जी) पर कृपादृष्टि रखने के लिए उन्होंने माता की प्रार्थना तो नहीं की ?

वह श्रावण महीने का कृष्ण पक्ष था। महाराज चलने के लिए उठे। विद्यासागर हाथ में लालटेन लेकर महाराज के आगे आगे जीने से उतर कर अपने हाते से फाटक तक आये। वहीं महाराज और उनके शिष्यों को ले जाने के लिए गाड़ी खड़ी थी।

ये लोग जब फाटक के पास आये तब उन्हें वहां एक विलक्षण दृश्य देख पड़ा। लगभग ४० वर्ष की उम्रवाला एक मनुष्य वहां खड़ा था। वह अपने दोनों हाथ जोड़े हुए था।

वह सब सफेद कपड़े पहने हुए था और सिक्खों का सा साफा बान्धे हुए था। मुख हास्ययुक्त, रंग गोरा और नेत्र तेजस्वी थे। महाराज को देखते ही वह, भारी साफा से युक्त, अपना शिर पृथ्वी पर लचा कर, उनके चरणों में लीन हुआ।

महाराज.—कौन? बलराम, क्या तू है? अरे, तू यहां कहां?

बलराम (हँस कर):—महाराज, आपके ही चरणों के दर्शन के लिए मैं, इस फाटक के पास, बड़ी देर से खड़ा हूँ।

महाराजः—अरे! फिर भीतर क्यों नहीं आया?

बलराम (हँस कर):— मैं देरी से आया; अतएव मैंने यह उचित नहीं समझा कि बीच में ही आकर आपको कष्ट दूँ; इसीलिए यहां खड़ा रहा।

* * * *

महाराज शिष्यवर्ग के साथ गाड़ी में बैठे।

विद्यासागरः—(एम से) क्या गाड़ीवाले को मैं भाड़ा दूं?

एमः—नहीं, पंडितजी! आप तकलीफ न किजिए। भाड़ा इसे एक ने पहले ही दे दिया है।

इसके बाद पंडितजी ने हाथ जोड़ कर और कई बार नम्र होकर महाराज को प्रणाम् किया। अन्य लोगों ने भी ऐसा ही किया। गाड़ीवाले ने चाबुक लगा कर घोड़े छोड़ दिये; और गाड़ी उत्तर की ओर चल दी।

हाथ में लालटेन लिए हुए पंडित विद्यासागर, फाटक के पास, जमा हुए अन्य लोगों के साथ, कुछ देर तक उसी तरफ देखते रहे। विस्मय से चकित उनके मन में ऐसे विचार आयेः— देखिये तो इस, स्व-स्वरूप में रँगे हुए, मनुष्य को! इतना ज्ञानी है, पर बालक की तरह सरल है! कितना मृदुल! कितना आनन्दी! और कितना भक्तिपरायण है!

गृहस्थी का भार ढोते हुए सूख कर मृतवत् हो जानेवाले पृथ्वी के लोगों में संजीवनी भर कर उन्हें तेजःसम्पन्न बनाने

के लिए क्या प्रत्यक्ष विद्युत ने ही तो इसके रूप में अवतार नहीं लिया है? मनुष्य के शुष्क और तृषाक्रांत हृदय में ओस के समान आर्द्रता लाने के लिए क्या स्वयं प्रेम ने ही तो मूर्ति-स्वरूप धारण नहीं किया है? हताश और आतुर होनेवाले मनुष्य से यह कहने के लिए कि, "बेटा, पुनर्जन्म लेकर तुझे शुरु से फिर प्रेम (अर्थात् भक्ति) करना सीखना चाहिए" यह आकाश-वाणी तो नहीं हुई है? अथवा आधुनिक विचित्र सुधार के मद से उन्मत्त होनेवाले लोगों की आँखों में तेज-अंजन लगाने के लिए परलोक से यह कोई वैद्यराज तो नहीं आया है? ब्रह्मांड का कूटक हल करके समझानेवाली यह कोई विभूति तो नहीं है? हम इसे क्या कहें?

बिन्दु १३।

स्थान—दक्षिणेश्वर का मन्दिर।

लोग:—श्रीरामकृष्ण, नरेन्द्र, (विवेकानन्द), राखाल, एम और अन्य शिष्य।

महाराज आत्मचरित बतलाते हैं:—

श्रीरामकृष्ण आज आनन्द में थे; क्योंकि आज नरेन्द्र उनके दर्शन करने के लिए मन्दिर में आया था। नरेन्द्र ने स्नान किया और प्रसाद लिया।

उस दिन सोमवार था। अक्टूबर सन् १८८३ की सोलहवीं तारीख थी! आश्विन शुक्ला तिथि चतुर्थी थी। दुर्गापूजा का महोत्सव गुरुवार को होनेवाला था।

राखाल बहुत दिन से महाराज के पास ही रहता था। रामलाल और हजा भी वहीं थे। नरेन्द्र के साथ दो नवयुवक आये थे। एम भी वहीं था।

दस और ग्यारह के बीच में दोपहर का भोजन समाप्त हुआ। इसके बाद श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्र और अन्य शिष्यों से, विशेष कर नरेन्द्र से, क्षण भर वामकुक्षि करने के लिए कहा। बिछोना ज़मीन पर ही पड़ा था। नीचे चटाई, उस पर गद्दा, गद्दे पर सफेद चद्दर और तकिया इत्यादि लगी थी। महाराज नरेन्द्र के पास ही बिछौने पर पड़े हुए किसी बालक की तरह उससे तथा अन्य शिष्यों से बात-चीत कर रहे थे। उनकी दृष्टि नरेन्द्र की ओर थी, मुख पर हास्य झलक रहा था; अतएव मुख की शोभा परम रमणीय देख पड़ती थी। "जग में किस प्रकार रहना चाहिए"—यह सिखाने के लिए, आदर्श के तौर पर, कुछ बातें उन्होंने इस समय अपने शिष्यों के सामने—विशेष कर नरेन्द्र के सामने—उपस्थित कीं।

महाराजः—साक्षात्कार से मेरी वृत्ति जब बदल गई तब मुझे यह इच्छा होने लगी कि परमेश्वर की लीला सुननी चाहिए। अब मैं सदा इस बात की खोज में रहने लगा कि, भागवत, रामायण, महाभारत, इत्यादि पौराणिक ग्रन्थों का पठन कहां हो रहा है; और जहां इसका पता चलता; वहीं मैं नियम से जाने लगा। कृष्णकिशोर बाबू अध्यात्मरामायण पढ़ते थे। वहां मैं नित्य जाने लगा।

कृष्णकिशोर बाबू और उनकी श्रद्धा।

कृष्णकिशोर बाबू की श्रद्धा भी बड़ी अपूर्व थी! एक बार वे वृन्दावन की यात्रा को गये। रास्ते में एक जगह उन्हें एक बार प्यास लगी। वे पास ही के एक कुएँ पर गये। वहां एक मनुष्य खड़ा था। उससे उन्होंने कहा कि हमें थोड़ा सा पानी पिलाओ। उस मनुष्य ने कहा, मैं शूद्र हूं; आप ब्राह्मण हैं, अतएव मेरे हाथ का पानी आप कैसे पियेंगे! किशोर बाबू ने कहा "तू एक बार 'शिव'

कह दे, बस तू पवित्र हो जायगा।" उस मनुष्य ने वैसा ही किया और इसके बाद उसने पानी कुएँ से भरा; और वह पानी किशोर बाबू ने—ब्राह्मण होकर भी—पी लिया! इस श्रद्धा का भी कहीं ठिकाना है!

एक बार कोई साधु पुरुष नदी के किनारे अर्थात् घाट पर कुछ दिन तक रहते रहे। हमने उनके दर्शन के लिये जाने का विचार किया। एक दिन हलधारी (महाराज के चचेरे भाई) से मैंने कहा, कृष्णकिशोर और मैं उस साधु के दर्शन करने जाता हूं। क्या तुम भी हमारे साथ आते हो?" हलधारी ने उत्तर दिया "पार्थिव शरीर की कीमत मृण्मय पिंजरे से कुछ अधिक नहीं; अतएव ऐसे शरीर को धारण करनेवाले प्राणी के दर्शन को जाने से क्या मतलब है?"

पंडित हलधारी नित्य गीता का पारायण करते और जिस वेदान्त में यह प्रतिपादन किया गया है कि सिर्फ एक ईश्वर ही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है उसीका वे नित्य परिशीलन करते रहते। उनका यह उत्तर जब मैंने कृष्णकिशोर से बतलाया, तब वे क्रोध से लाल होकर बोले, "क्या हलधारी ऐसा कहते थे? सत्पुरुष के शरीर को—उस सत्पुरुष के शरीर को; जो ध्यान में, मन में, स्वप्न में, आसन में, शयन में, पान में, एक ईश्वर के सिवाय अन्य कुछ दीखता ही नहीं और जिसने ईश्वर के लिए संसार को और तदंगभूत विषय-सुख को तिलांजलि दे दी है—क्या वे केवल मृण्मय पिंजर मानते हैं?" क्या उन्हें इतना भी ज्ञान नहीं है कि सच्चे भक्त का शरीर प्राकृत मनुष्य की तरह मृण्मय नहीं होता; किन्तु चिन्मय होता है?" पूजा के लिए फूल तोड़ने जब वे दूसरे दिन देवी के बाग में आये तब उन्होंने हलधारी की ओर आंख उठा कर देखा भी नहीं! इतना वे उन पर क्रुद्ध हुए!

एक दिन उन्होंने मुझसे यह प्रश्न किया कि "तुमने अपना जनेऊ क्यों निकाल डाला?" पिछले आश्विन (१८६४) में गंगा की बाढ़ ने जिस प्रकार सभी कुछ बहा लिया उसी प्रकार पहले ही साक्षात्कार से मेरी वृत्ति में जब बिलकुल परिवर्तन हो गया तब मेरा सब कुछ आप ही आप छूट गया। बाहर की सब उपाधियाँ न जाने कहां की कहां बह गईं; बाह्य जगत् का ज्ञान ही नष्ट सा हो गया; फिर जनेऊ का या अंग में लपटी हुई धोती का पता किसे लगता है?

साक्षात्कार के बाद श्रीरामकृष्ण की स्थिति।

ब्रह्मानन्द में लीनता हो जाने के कारण दिन में मैं बहुत देर तक नग्न ही रहने लगा। उस समय जनेऊ फेंक देने के विषय में कृष्णकिशोर बाबू को मैंने सिर्फ इतना ही उत्तर दिया, कि "यदि आप पर कभी ईश्वर का पागलपन सवार होगा तो सब मालूम हो जायगा।"

और जैसा मैंने कहा वैसा ही हुआ भी। वे भी अन्त में ईश्वर के लिए पागल हो गये। वे अपने को एक कोठरी में बन्द करके और स्वस्थ बैठ कर केवल 'ॐ! ॐ!' का लगातार जप करने लगे।

उनके घरवालों को मालूम हुआ कि वे सचमुच ही पागल हो गये हैं। यहां तक कि वे लोग वैद्य को भी बुला लाये। नाटगॉर के डा० राम उनकी जांच करने के लिए आये।

कृष्णकिशोर ने डाक्टर साहब से कहा, "डाक्टर साहब! मेरा रोग आप खुशी से अच्छा कीजिये, इस पर मेरा कुछ भी कहना नहीं। परन्तु इधर कुछ दिनों से ईश्वर की कृपा से 'ॐ' की जो व्याधि मुझे लगी है उसे आप अवश्य ही न दूर कीजिए। उससे मुझे बड़ा आराम मिलता है।" (हँसी।)

सच्चा स्वरूप।

एक बार वे मुझे किसी विचार में मग्न हुए से देख पड़े। तब मैंने उनसे पूछा; क्या हुआ? उन्होंने कहा कि, महसूल मांगने सरकारी आदमी आया था। वह ताकीद कर गया है कि यदि तुम महसूल न दोगे तो तुम्हारे बर्तन-भांडे में बिकवा लूँगा; छोड़ूँगा नहीं। इस कारण मैं कुछ चिन्ता में हूँ" इस पर मैंने हँस कर कहा, "तो फिर इससे क्या हुआ? मान लो, उसने आपके बर्तन-भांडे बिकवा लिए; चाहे जो किया; चाहे तो आपको कैद करके बिना भाडे के मकान में ले जाकर डाल दिया; तो फिर इससे आपका क्या जाता है? आपका शरीर वास्तव में कुछ 'आप' नहीं हैं। अतएव, वह कुछ आपको—आपके सच्चे स्वरूप को—कैद कर नहीं सकता; क्योंकि आप तो सदा कहते ही रहते हैं कि "मैं केवल ख (आकाश) हूं"! (नरेंद्र तथा अन्य शिष्य हँसते हैं।)

हाँ, वे सदा कहते रहते कि "मेरा सच्चास्वरूप (परमात्मा) हमारे आसपास फैले हुए निराकार आकाश की तरह है। वे अध्यात्म-रामायण बड़ी भक्ति से पढ़ा करते। मैं

निराकार आकाश के समान।

बड़े कौतुक से सदा उनसे कहता कि, "आप 'ख' हैं। सुतात्मा ही आपका सच्चास्वरूप है; कुछ शरीर नहीं है।" उस दिन मैंने यह कह कर उन्हें जरा धीरज बँधाया, "कि कोई भी सरकारी आदमी आपको बांध नहीं सकता। आपके स्थूल शरीर को शायद वह बान्ध लेगा; पर स्थूल शरीर वास्तव में कुछ 'आप' नहीं हैं; यह आपको मान्य ही है।" (हँसी)

ईश्वरी पागलपन के आवेश में मैं सब लोगों के विषय में और प्रत्येक बात के विषय में बिलकुल निस्पृहता से बोलता था। मैं लोगों के दर्जे-वर्जे का बिलकुल ही विचार न करता था। धनवान् या बड़े लोगों का मेरे मन में डर ही न था।

किसी की परवा नहीं।

हमारे पास ही जो यह यदुमल्लिक की वाड़ी है उसमें एक दिन यतीन्द्रनाथ ठाकुर महाशय आये थे। उनसे मैंने प्रश्न किया कि "मनुष्य का सच्चा कर्तव्य क्या है?" उनसे मैंने यह भी पूछा कि "क्या अपना सम्पूर्ण ध्यान परमेश्वर की ओर रखना मनुष्य का आदि कर्तव्य नहीं है?" इस पर यतीन्द्र ने कहा, "हम ठहरे गृहस्थ आदमी। गृहस्थ मनुष्य मुक्ति कैसे पा सकते हैं? युधिष्ठिर को ही न देखिये। वे बड़े पुण्यात्मा थे तथापि एक बार असत्य बोलने के कारण उन्हें नरकलोक देखना ही पड़ा।" इस उत्तर पर मुझे बड़ा क्रोध आया और मैं तुरन्त ही बोल उठा, "तू बड़ा ही विचित्र आदमी है! अरे, यह तो तूने अच्छी तरह ध्यान में रक्खा है कि युधिष्ठिर को नरकलोक देखना पड़ा! पर भैया! उनकी सत्य प्रीति, ईश्वर-निष्ठा, क्षमाशीलता, सद्ग्राहकता, संसार-विषयक अनासक्ति, इत्यादि सद्गुणों के विषय में तेरा क्या कथन है?" मेरा मुँह और भी आगे वैसा ही चलता रहता, पर हृदय ने मेरा मुँह बन्द कर दिया। यह कह कर कि "मुझे कुछ आवश्यक कार्य है," यतीन्द्र बाबू तुरन्त ही चल दिये।

एक बार मैं कप्तान * के साथ सुरेन्द्र ठाकुर के घर गया। उन्हें देखते ही मैंने कहा, "इधर देखिए, बाबू साहब! मैं आपको राजा वाजा कुछ नहीं कहूंगा, क्योंकि वैसा कहने से झूठ बोलने का आरोप मुझ पर आवेगा।" कुछ देर तक हमारा उनका सम्भाषण हुआ; पर बीच में न जाने कितने लोगों ने आकर व्यत्यय डाला। उनमें कुछ युरोपियन भी थे। सारांश, मैंने देखा कि अन्य ससारी लोगों की तरह उनके पीछे भी बड़ी उपाधि लगी थी। उन्होंने यतीन्द्र ठाकुर (अपने बड़े भाई) के पास

* कप्तान का सच्चा नाम विश्वनाथ उपाध्याय था। ये महाराजा नेपाल की ओर से कलकत्ते में वकील के तौर पर रहते थे।

हमारे आने का समाचार कहला भेजा, परन्तु यतीन्द्र ने उलटे यह कहला भेजा कि मेरा गला दुखता है, अतएव मैं आ नहीं सकता।

एक दिन गंगा के किनारे वराहनगर के घाट पर एक तरुण ब्राह्मण नामसंकीर्तन करते हुए मुझे दीख पड़ा। परन्तु जब मैंने देखा कि उसका मन और कहीं है तब मैंने, उसका ध्यान परमेश्वर की ओर लाने के लिए, उसकी पीठ पर दो थप्पड़ें जमाईं! (हँसी।)

एक बार रानी रासमणि (दक्षिणेश्वर का मन्दिर बनवानेवाली) यहां मन्दिर में आकर रही थीं। एक दिन, जब कि मैं माता की पूजा करता था, वे मन्दिर में आईं और मुझसे भजन गाने के लिए कहा। मैंने भजन गाना प्रारम्भ किया, पर उनका ध्यान उस ओर था ही नहीं। वे पूजा के लिए फूल रखने में ही लगी थीं। यह देख कर उनके भी मैंने दो चपतें लगा दीं! बस, वे तुरन्त ही भक्तिभावपूर्वक हाथ जोड़ कर स्वस्थ बैठ गईं। (हँसी।)

अपने चचेरे भाई हलधारी से मैं अपनी यह बुरी आदत बतला कर बहुधा कहा करता, "मेरा बर्ताव कैसा विचित्र और उद्दण्ड हो रहा है! क्या इसका कोई उपाय नहीं है?" मैं माता की भी बिलकुल आतुर होकर प्रार्थना करता था, पर अन्त में माता की कृपा से मेरी वह आदत छूट गई।

श्रीरामकृष्ण काशी को जाते हैं; यात्रा का महत्व।

उस समय कुछ वृत्ति ही ऐसी हो गई थी कि भगवत्कथा को छोड़ कर अन्य शब्द मेरे कानों को बहुत बुरे लगते थे। जब कभी मैं लोगों को संसार की रूखी कथाएँ कहते हुए देखता तभी मैं स्वयं एकान्त में जाकर रोया करता। एक बार माथुर बाबु अपने साथ मुझे उत्तर-भारत की यात्रा को ले गये। हमने अनेक तीर्थ किये। काशी

श्रीरामकृष्ण परमहंस।

पहुँचने पर हम लोग कुछ दिन राजा बाबू के मकान पर ठहरे। एक दिन मैं कमरे में बैठा था। माथुर बाबू भी वहीं थे। वे राजा बाबू तथा उनके अन्य साथियों के साथ बात-चीत करते थे। उनकी कोरी संसार की गप्पें हो रही थीं। ऐसी कुछ बातें हो रही थीं कि "अमुक व्यवहार में इतने रुपये कमाये अथवा गमाये।" इधर मैं आप ही आप मन-माना रोया और माता से कहा, "मा! तूने यहां लाकर मुझे क्यों डाल दिया? इस तीर्थ से तो मैं अपने दक्षिणेश्वर के मन्दिर में ही अधिक सुखी था! ये लोग तीर्थ में आये तो देवदर्शन के लिए हैं; पर माता अब तू ही देख ले, ये 'कामिनी और कांचन' को छोड कर अन्य कोई बात ही नहीं करते! इससे तो हमारा वह मन्दिर का ही स्थान अच्छा था। क्योंकि वहां कम से कम ऐसे शब्द तो मुझे न सुनने पड़ते थे।"

इसके बाद महाराज ने नरेंद्र से थोडी देर सोने के लिए आग्रह किया; और स्वयं भी क्षणभर विश्रान्ति लेने के लिए छोटे पलँग पर जा पड़े।

विन्दु १४।

(नरेन्द्र आदि शिष्यों के साथ कीर्तनानन्द में।)

तीसरा पहर हुआ। नरेन्द्र कुछ भक्तिपूर्ण पद गाने लगा राखाल, लाटू, एम, नरेन्द्र का ब्रह्मसमाज-बन्धु प्रिय और हज़ इत्यादि लोग उपस्थित थे।

नरेन्द्र गाने लगा; मृदंग ठनकने लगीः—

पद।

ध्याइये मन! आत्माराम; भक्त विश्राम! ॥ ध्रु० ॥
सच्चिद्घन जो भवभयभंजन,
पूर्ण परात्पर निखिल निरंजन,
सुन्दर मूर्ति निजजनरंजन,
कमलेक्षण मेघश्याम; रूपललाम! १ ॥
राग-सुरंजित रूप चमकता,
कोटि-चन्द्रसम तेज विलसता,
चपला भी नहिं करती समता,
लख कर हो निष्काम; तेजोधाम ॥ २ ॥
हृदय कमल में सोज्वल रूप—
रख कर पाओ मोद अनूप,
बनो सर्वथा पुण्यस्वरुप,
पूज रे मन! आठो याम, पूरणकाम ॥ ३ ॥
चिदानन्द-सरसिज मकरन्द—
सेवन कर पाओ आनन्द,
बनो मुक्त तोड़ो भवबन्ध,
गाइये शुभ गुण अभिराम; पावन नाम ॥ ४ ॥

नरेन्द्र दूसरा पद गाने लगा—

पद

उस जगदीश की हो! मूर्ती मन-मन्दिर में लाओ ॥ ध्रु० ॥
प्रशान्त सोज्वल नयन-मनोहर सौन्दर्योदधिरूप,
मज्जन करिये उसमें सज्जन! हो आनन्द अनूप ॥ उस० ॥ १ ॥
अखिल इन्द्रियाँ नयन बना कर आतुरता से मित्र!
देखो उसको, भक्तिपूर्ण हो, तन-मन करो पवित्र ॥ उस० ॥ २ ॥
जैसे रवि-प्रकाश से सारा होता है तम दूर,
वैसे ही प्रभु के दर्शन से होगा सब भ्रम दूर ॥ उस० ॥ ३ ॥
चकोर शशि में, भ्रमर कमल में, रखता है ज्यों प्रेम,
अनन्य होकर प्रभु में त्यों ही रक्खो निश्चल नेम ॥ उस० ॥ ४ ॥

पद

पावन हरि का नाम! जप जप ० ॥ ध्रु० ॥
महा मधुर है सेवन कर लो, खर्च न एक छदाम ॥ १ ॥
प्रेमानन्द से नाम सुमिर लो, हो आओ निष्काम ॥ २ ॥
रे मन क्यों चिन्ता है करता? है समर्थ वह राम ॥ ३ ॥
हरिस्मरण से पाप कटेंगे होगा सुख अभिराम ॥ ४ ॥

मृदंग और करतालें बज रही थीं। कीर्तन का घोष हो रहा था। कीर्तन के रंग में नरेन्द्र और अन्य शिष्य महाराज के पास आनन्द से नाचने लगे। नाचने के साथ साथ यह पदखंड भी सब मिल कर गाते जाते थेः—

चिदानन्द-सरसिज-मकरन्द—
सेवन कर पाओ आनन्द,'
बनो मुक्त तोड़ो भवबन्ध,
गाइये शुभ गुण अभिराम; पावन नाम ॥

इसके बाद फिर वे एक दूसरा पदखंड गाने लगेः—

उस जगदीश की हो! मूर्ती मन मन्दिर में लाओ।

अन्त में, नरेन्द्र ने कीर्तन-रंग में बेभान हो मृदंग को अपने गले में लटका लिया और महाराज के साथ यह पद-खंड गाने लगाः—

पावन हरि का नाम। जप जप० ॥ ध्रु० ॥
महा मधुर है सेवन कर लो, खर्च न एक छदाम ॥ १ ॥

कीर्तन के अन्त में महाराज ने नरेंद्र का बार बार आलिंगन करके कहाः—"बेटा, तुझे अखंड शान्ति और सदानन्द की प्राप्ति हो! तू ने आज जो अनिर्वचनीय आनन्द मुझे दिया है। उसका कहां तक वर्णन करूं!"

महाराज के हृदय का भक्तिसागर आज जोर से उमड आया और स्वच्छन्दगति से वह अपनी मर्यादा के बाहर उछलने लगा।

रात के आठ बजने आये। तथापि भक्ति-सुख के मद्य से उन्मत्त होकर वे उत्तरवाली दालान में एकसारखे घूम रहे थे। किसी नवयुवक की तरह वे दालान के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सरपट के साथ घूम रहे थे। बीच बीच में वे माता से बोलते भी जाते थे! किसी पागल हुए मनुष्य की तरह वे एक बार अचानक जोर से बोल उठे, "तू मेरा क्या करेगी?"

महाराज के उपर्युक्त उद्गार का यही अर्थ तो न होगा कि माता ने जिसे अपनी कृपा की शाल ओढ़ा दी है उसे माया का जाडा कैसे लगेगा?

उस दिन रात को सब लोग वहीं रहनेवाले थे। अतएव श्रीरामकृष्ण के आनन्द की सीमा नहीं रही। यह जान कर, कि आज नरेंद्र भी यहीं रहेगा, उन्हें बहुत हर्ष हुआ।

रात को भोजन की तयारी हुई। महाराज की मा भी यहीं रहती थीं। उन्होंने रोटी-दाल आदि तयार करके भोजन के लिए सब को बुलाया। शिष्य लोग ऐसे ही कभी कभी यहां रह जाते थे। यहां का प्राय बहुत सा खर्च सुरेन्द्र चलाता था।

महाराज की कोठरी के आग्नेय ओर वाली दालान में पत्तल रक्खे गये थे। नरेन्द्र और अन्य शिष्य कोठरी के पूर्व ओर वाले दरवाजे में खड़े हुए बात-चीत कर रहे थे।

नरेंद्र (एम से):—अच्छा, आज-कल के लड़कों के विषय में आपका क्या मत है ?

स्कूल और कालेजों की परिपाटी के विषय में नरेंद्र का मत।

एम —वे कुछ बुरे नहीं होते; परन्तु उन्हें धर्मशिक्षा मिलनी चाहिए।

नरेंद्रः—मैं जितना कुछ देखा है उससे मुझे तो जान पड़ता है कि उनका अधःपात हो रहा है, उनकी दशा दिन-दिन बिगड़ रही है। अमेरिकन केसरिया तम्बाकू (बर्डस् आय्), व्यर्थ गप्पें हाँकना, कुसंगति, अपनी श्रेणी की पढ़ाई के घंटे छोड़ने की प्रवृत्ति, इत्यादि अनेक बातें आज-कल के लड़कों में सब जगह देखी जाती हैं।

एमः—हमारे समय में, हम जब विद्यार्थी थे तब, ऐसी बातें हमारे देखने या सुनने में नहीं आई थीं।

नरेन्द्रः—मैं समझता हूं, आप कभी ऐसे लड़कों में रहे न होंगे। मैंने अपनी पहचान के न जाने कितने लड़कों को बदमाशों के साथ बड़ी ढिठाई से बात-चीत करते हुए देखा है। उसमें आश्चर्य की बात इतनी है कि ऐसे लोगों से इनका परिचय कब और कैसे होता है !

एमः—क्या सचमुच ऐसा ही हाल है ?

नरेन्द्र —हाँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार हमारे कितने ही मित्र बिगड़ कर निकल चुके हैं। स्कूल और कालेजों के अधिकारी और लड़कों के पालक यदि इन बातों की ओर ध्यान दें तो क्या ही अच्छा हो।

इस प्रकार वे दोनों बातचीत कर रहे थे कि इतने ही में महाराज कोठरी से बाहर निकले और हँसते हँसते बोले —"क्यों, तुम्हारी क्या बात-चीत हो रही है ?"

'अन्या वाच विमुञ्चथ।'

नरेन्द्र —कुछ नहीं। हम लोग आपस में स्कूल और कालेजों के विषय में बात चीत कर रहे हैं। बात यह है कि वहां लड़कों का चाल चलन जैसा रहना चाहिए वैसा नहीं रहता।

इस पर महाराज एम की तरफ देख कर गम्भीरता के साथ बोले, "ऐसे विषयों पर बात चीत करना कुछ अच्छा नहीं। बात चीत करना ही है तो एक ईश्वर के विषय में वार्तालाप करना चाहिए, दूसरे किसी विषय में भी न बोलना चाहिए।* ये दोनों लडके हैं; पर तुम तो इनसे उम्र में बडे हो। तुम्हें तो समझना चाहिए था। तुम्हारा कर्तव्य था कि इन्हें सावधान करते और इनसे कहते कि ईश्वर को छोड कर अन्य विषय की बातचीत मत करो।"

यह सुन कर एम बिलकुल सिटपिटा गया और नरेन्द्र आदि अन्य शिष्य कुछ देर के लिए दबक गये। नरेन्द्र की उम्र उस समय करीब १९-२० वर्ष की थी और एम की २७-२८ वर्ष की थी।

इसके बाद लोग भोजन करने के लिए बैठे। महाराज वहीं खडे हुए हँसते हँसते नरेंद्र आदि शिष्यों को आग्रहपूर्वक भोजन करा रहे थे। सारांश, महाराज उस समय बडे आनन्द में थे। भोजन के बाद शिष्यमंडली विश्रान्ति के लिए कोठरी में आकर एक बिछी हुई चटाई पर बैठ गई। हँसते-खेलते हुए

नाम-संकीर्तन।

* आत्मान वा विजानाथ, अन्या वाच विमुञ्चथ।

महाराज से सब लोग बात-चीत रहे थे। वहां एक ब्रह्मानन्द का बाजार ही लगा था, ऐसा कहिए न ! बात-चीत होते होते महाराज नरेंद्र से बोले, "जय दयानिधान ! पापविदारण हारे—" यह पद एक बार कहो तो !

नरेंद्र ने पद गाना शुरू किया। अन्य शिष्यों ने मृदंग, करताल, इत्यादि बजाने का प्रारम्भ किया।

पद ।

जय दयानिधान ! पापविदारण-हारे ॥ ध्रु० ॥
तुम अतुल तेज के धारी ! हो कमलशयन सुखकारी ।
सद्गुणों के तुम खान, दीनों के रखवारे ॥ जय० ॥ १ ॥
ज्यों पूर्ण चन्द्र उगने पर । बढ़ता है अति ही सागर ।
त्यों भक्त सुजान, तुम्हें पाय सुख धारे ॥ जय ० ॥ २ ॥
पीकर सरसिज-रस भौंरे—बनते हैं जैसे बौरे ।
लीला कर गान, बने भक्त मतवारे ॥ जय० ॥ ३ ॥
तरते हैं भवनिधि भारी ! पाकर प्रभु ! कृपा तुम्हारी ।
बनें कृतकृत्य महान, ऋषि मुनि-योगी सारे ॥ जय० ॥ ४ ॥

कीर्तनानन्द में उन्मत्त होकर महाराज नाचने लगे। भक्तमंडली भी भजनरंग में मस्त होकर उनके चारों ओर नाचने लगी।

कीर्तन के बाद महाराज अपनी कोठरी के ईशान दिशा की ओर दालान में घूमने लगे। हजा दालान में उत्तर की ओर बैठा हुआ माला लिए हुए हरिनाम जप रहा था। महाराज भी कुछ देर बाद उसके पास जा बैठे। एम भी वहीं था और बीच बीच में महाराज कुछ बात-चीत करते जाते थे। महाराज ने एक शिष्य से पूछाः—"तुझे स्वप्न में कोई चमत्कार-वमत्कार तो नहीं देख पड़ते"

शिष्यः—हाँ, महाराज! उस दिन मैंने स्वप्न में एक विलक्षण चमत्कार अवश्य देखा था। मैंने देखा कि

स्वप्न में ईश्वरी चमत्कार।

यह सारा संसार मानों एक विस्तीर्ण जलाशय है। जिस ओर दृष्टि डालिए उस ओर पानी ही पानी! और कुछ नहीं। उस पानी का आदि अन्त नहीं! कुछ देर बाद वह जलाशय खलबलाने लगा। कुछ दूर पर कई नौका देख पड़ती थीं; उनमें से कुछ नौका फिर लहरों से जलाशय के पेट गडप्प हो गई। कुछ बच गई। उनमें से एक नौका में मेरी माता थी। और मैं जिस जहाज में था उस पर बिलकुल चुने हुए लोग थे। इतने ही में हमें एक ब्राह्मण देख पड़ा। क्या बतलाऊं, उसे देख कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ! क्योंकि यह आनन्दपूर्वक उस क्षुब्ध समुद्र पर चला जाता था—जैसे कोई मामूली जमीन पर चला जाता हो! मैंने उससे पूछा, "क्यों भाई! आप इस पानी पर जो बिलकुल बेधड़क चले जाते हो सो कैसे?" इस पर उस ब्राह्मण ने मुसकुरा कर उत्तर दिया, "अरे भाई! यहां डर किसका है? इस पानी में एक अच्छा पुल है, उसी पर से मैं बराबर चला जा रहा हूं!" मैंने कहा, "महाराज, आप जाते किस तरफ हैं? उसने उत्तर दिया, "मैं भवानीपूर को जाता हूं।" मुझे उत्कंठा हुई कि मैं भी उस सत्पुरुष का साथ करूं; इसलिए मैंने उससे कहा, "जरा ठहरिए, महाराज! मैं भी आपके साथ आता हू, मुझे भी वहीं जाना है।"

महाराजः—अरे भैया! यह सब हाल सुन कर मेरा शरीर रोमाँचित होता है!

शिष्य—उस ब्राह्मण ने हँस कर उत्तर दिया, "पर, भाई! मुझे जल्दी है। तुझे अभी बहुत देर लगेगी। यह रास्ता देख ले। और फिर चला आ!"

महाराजः—यह तेरी स्वप्नकथा तेरे मुख से सुनते हुए मेरी देह आनन्द से फडकती थी! मेरा शरीर आनन्द से रोमांचित होता था! अब तू गुरूपदेश के योग्य हुआ है।

बिन्दु १५।

पहले क्या? —ईश्वरप्राप्ति या समाजसुधार?

रात के ग्यारह बजे। नरेन्द्र आदि शिष्य सोने की तयारी में लगे। महाराज की कोठरी ही में जमीन पर बिछौने डाल कर वे पड़ रहे।

प्रभातकाल हुआ। कुछ शिष्य उठ कर बिछौने पर बैठ कर ईश्वर चिन्तन करने लगे। और

श्रीरामकृष्ण का प्रात स्मरण।

महाराज क्या कर रहे थे? वे अपनी अमृतसमान मधुर वाणी से नामघोष कर रहे थे। बालक की तरह दिगम्बर वृत्ति से वे कोठरी में इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। कोठरी में देवताओं के चित्र लगे हुए थे, उनमें से प्रत्येक चित्र के पास जा जा कर और दीवाल में अपना मस्तक घिस घिस कर वे उसे प्रणाम् करते थे। इसके बाद दरवाजा खोल कर उन्होंने गंगा का दर्शन किया। तत्पश्चात् हरिनाम लेते हुए वे बीच ही में बोल उठेः—माता सर्वत्र तू ही भरी हुई है। भागवत् (भगवान् का चरित्र-ज्ञान-भजन) तू ही है, भक्त तू ही है, भगवान् भी तू ही है, (भजन, भजक, भज्य की त्रिपुटी तू ही है)। वेद, पुराण, तंत्र, गीता, गायत्री, इत्यादि के रूपों से प्रकट होनेवाली तेरी वाणी और तुझमें भिन्नत्व नहीं है, माता, तेरे भक्त भी केवल तेरे ही स्वरूप हैं! ब्रह्म तू ही है; शक्ति तू ही है; पुरुष तू ही है;

प्रकृति तू ही है; विराट तू ही है; सराट् तू ही है; नित्य-लीलामयी तू ही है; चौबीस तत्व तू ही है।" गीता को सम्बोधन करके वे इतना ही बोले, "त्यागी, त्यागी, त्यागी।"

इतने ही में काली और राधाकांत के मन्दिर में मंगलारति शुरू हुई। शंख, घंटा, झांझ, नगाड़ा, इत्यादि की मिश्रित ध्वनि से वह सारा प्रान्त निनादित हो उठा। शिष्यमंडली उठी, उस समय देवी के बाग में पूजा के लिए फूल तोड़े जाते थे। नौबत-खाने से प्रभाती राग की कर्ण-मधुर लहरें आ रही थीं।

नरेन्द्रादि शिष्य प्रातर्विधि से निपट गये। इसके बाद ये प्रफुल्लित वदन से महाराज के पास आये। महाराज ईशान ओर की दालान में खड़े थे। उनके मुख पर हास्य झलक रहा था।

नरेन्द्रः एक बात हुई कि बस हुआ।

नरेन्द्रः—पंचवटी के पास अनेक नानकपंथी साधु बैठे हुए हमें देख पड़े।

महाराजः—हाँ, वे कल ही यहां आये हैं। (नरेन्द्र से) तुम सब एक बार साथ ही बैठो तो। मैं एक बार आँखों भर तुम्हें देखना चाहता हूं।

सब शिष्य एक चटाई पर साथ ही बैठ गये। महाराज ने आनन्द से उनकी ओर देखा। इसके बाद वे उनसे भाषण करने लगे।

नरेन्द्रः—स्त्रीजन-संग-साधन तंत्र में कहा है न?

महाराजः—स्त्रीजन-संग-साधन! हाँ! पर वह मार्ग अच्छा नहीं। तंत्र में ऐसा एक साधन कहा अवश्य है। पर वह बहुत अटपट है। उस मार्ग का स्वीकार करके सिद्धि-प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। उस मार्ग से साधक का पतन होना निश्चित ही है।

स्त्रियों के तईं मातृभाव।

श्रीरामकृष्ण-चरित

लेखक—श्रीयुत भास्कर रामचन्द्र भालेराव, "कविदास"।

यदि जगत् के इतिहास का सूक्ष्मावलोकन किया जाय तो यह सहज ही में मालूम हो सकता है कि आज तक जगत् में जो कुछ क्रांतिकारक घटनाएँ हुईं, वे सभी धर्म की ओट में या धर्म के ही कारण हुईं। गत १, २ शताब्दियों से आधुनिक शास्त्रों की अत्युन्नति हो जाने के कारण धर्म का ह्रास होने लगा और जड़वादक सिद्धांत दुनियाँ में फैलने लगे। इस कारण 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहम्' इस भगवद्वाक्यानुसार जनता में एकता, सहकारिताभाव, स्वधर्मव्रतपालन इत्यादिक गुणों के प्रचार के द्वारा सत्य धर्म की पुनर्स्थापना के लिये जो जो महात्मा इस अवनि तल पर उत्पन्न हुए, उन महात्माओं में श्रीरामकृष्ण परमहंस की प्रमुखता से गणना की जाती है। उनका चरित्र बड़ा ही उपदेशप्रद और मनोरंजक है, अतएव वह संक्षेप रूप में यहां पर लिखा जाता है।

बंगाल के हुगली ज़िले में कमरपुकर नामक एक ग्राम है। यहीं पर ता० २० फरवरी सन १८३४ ई० को महात्मा रामकृष्ण का जन्म हुआ। श्रीरामकृष्ण के सुयोग्य पिता बाबू खुदीराम चट्टोपाध्याय बड़े सुशील थे, अतएव कमरपूकर-निवासियों का उनपर अत्यन्त प्रेम था। पहिले वे कमरपूकर के पास ही के 'डेरे' नामक ग्राम में रहते थे। पर, उस ग्राम के ज़मींदार ने बाबू खुदीरामजी को झूठी साक्षी देने का अनुरोध करने पर खुदीरामजी ने उनका कहना अस्वीकार किया, जिससे उस ग्राम के जमींदार में तथा उनमें अनबन हो गई। इस कारण उन्हें बेवश 'डेरा' ग्राम को तजकर कमरपूकर को

साधनमार्ग में चलते समय स्त्रीजनों की ओर साधक तीन भावनाओं से देख सकता है—वीरभाव, दासीभाव और सन्तानभाव। वीरभावसाधन में साधक रमण और स्त्री रमणी; दासीभावसाधन में साधक दासी और स्त्री स्वामिनी और सन्तानभावसाधन में साधक सन्तान और स्त्री माता (मैं स्त्रीजनों की ओर मातृभाव से देखता हूं) दासीभाव बहुत बुरा नहीं। पर वीरभावसाधन से अपना पतन निश्चित ही रक्खा है। क्योंकि वह बहुत विकट है। सन्तानभाव ही शुद्धभाव है।

इतने ही में दो नानकपंथी साधु आये। वे महाराज को अभिवादन करके बोले—नमो नारायण। बाद को महाराज ने उन्हें बैठने के लिए कहा।

ईश्वर के विषय में कुछ असम्भव नहीं।

महाराजः—ईश्वर के विषय में कुछ भी असम्भव नहीं। उसका स्वरूप मुख से कोई वर्णन नहीं कर सकता। उसके विषय में सब कुछ सम्भवनीय है।

प्राचीन काल में दो योगी थे, ईश्वर-प्राप्ति के लिए वे साधन कर रहे थे। एक दिन नारदमुनि उनके आश्रमों के पास से जा निकले। उनमें से एक योगी नारदमुनि से बोला, "आप तो अभी वैकुंठ से पधारे होंगे? अतएव कृपा करके बतलाये कि नारायणजी इस समय क्या करते हैं।" नारद ने इस पर उत्तर दिया, "हाँ, आपका कहना सच है। मैं वैकुंठ ही से अभी आ रहा हूं। नारायण इस समय सुई के छिद्र से हाथियों और ऊटों को पार करा रहे हैं; मैंने स्वयं ऐसा होते हुए देखा है।" यह सुन कर उनमें से से एक योगी बोला "फिर उसमें आश्चर्य क्या है? ईश्वर के लिए कोई बात असम्भव नहीं।" पर दूसरा बोला, "यह कैसे हो सकता? यह बिलकुल असम्भव है। इससे तो यही जान पड़ता है कि आप वहां बिलकुल गये ही नहीं।"

पहला योगी बालक की तरह श्रद्धालु था। उसमें सच्ची श्रद्धा थी। क्योंकि यह विचित्र ब्रह्मांड जिसने निर्माण किया है, उसके लिए क्या असम्भव है?

नव बजने आये। महाराज अपनी कोठरी में बैठे थे। इतने में मनमोहन (एक शिष्य) कोननगर से सपरिवार आ पहुंचा। महाराज को प्रणाम करके वह बोला, "इन्हें मैं कलकत्ते लिए जाता हूं।" कुशल-प्रश्न पूछने के बाद महाराज उससे बोले, "आज प्रतिपदा है—आज का दिन अच्छा नहीं; और आज ही तू अपने बाल-बच्चों को कलकत्ते लिए जाता है! क्या कहूं भैया!" इतना ही कह कर वे हँसे और अन्य बातों की ओर चले।

नरेन्द्र और कलकत्ते के उसके मित्रों ने गंगा पर जाकर स्नान किया। इसके बाद कपड़े डालने के लिए वे महाराज की कोठरी में आये, उस समय महाराज बड़ी उत्सुकता के साथ नरेन्द्र से बोले, "जा, वटवृक्ष के नीचे बैठ कर कुछ देर ध्यान कर, आसन चाहिए?"

नरेन्द्र और उसके ब्रह्मसमाजी बन्धु पंचवटी में जाकर ध्यान करने लगे।

साढ़े दस बजे! कुछ देर बाद महाराज वहां आये। एम भी वहां आया। महाराज, नरेन्द्र तथा उसके अन्य मित्रों से बातचीत करने लगे।

ध्यान कैसे करना चाहिए।

महाराज (नरेन्द्रादि शिष्यों से):—ध्यान करते समय वृत्ति बिलकुल तल्लीन होनी चाहिए। ईश्वर में मन पूर्णतया निमग्न होना चाहिए। यदि हम ऊपर ही ऊपर तैरते रहें तो नीचे के रत्न हमारे हाथ लगने की क्या आशा है?

इसके बाद नरेन्द्र और उसके ब्राह्मबन्धु पंचवटी के चबूतरे से नीचे उतर आये और महाराज के आसपास खड़े हो गये। महाराज दक्षिणाभिमुख होकर उनसे बात-चीत करते हुए अपनी कोठरी की ओर चले। वे बोले, "बुड़ी मारने पर ही मगर तुम पर आक्रमण करेंगे; पर तुम्हारे शरीर में यदि हल्दी लगी होगी तो वे मगर तुम्हारी परछाई में भी खड़े न होंगे। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और मत्सर, यही छः मगर हैं। ये हृदयरत्नाकर के अगाध जल में निरन्तर फिरते रहते हैं। परन्तु विवेक, वैराग्यरूपी हल्दी यदि तुम्हारे शरीर में लगी होगी तो वे मगर तुम्हारी तरफ देखेंगे भी नहीं। केवल ईश्वर-मात्र सत्य है, बाकी सब कुछ मिथ्या है, यह विवेक के द्वारा मालूम होता है।

पहले ईश्वर का ज्ञान कर लो।

विवेकवैराग्य जब तक शरीर में भिद नहीं जाता तब तक चाहे जितना पांडित्य हो, उससे कोई लाभ नहीं। और व्याख्यान ही क्या कर लेंगे? ईश्वर सत्य है, और सब अनित्य है; इसीका नाम है विवेक। सिर्फ वही एक 'वस्तु' है और बाकी सब मिथ्या 'अवस्तु' है; यही विवेक है।

पहले हृदय-मन्दिर में उसकी प्रतिष्ठा करो; पहले ईश्वर का, अनुभवपूर्वक, ज्ञान कर लो। वक्तृत्व और भाषण भी चाहे करो; पर कब? ईश्वर को देख लेने पर—पहले नहीं। लोग एक ओर तो संसार-कर्दम में लोटते रहते हैं और दूसरी ओर शाब्दिक ब्रह्म की खिचड़ी पकाया करते हैं। जब विवेकवैराग्य का गंध भी नहीं है तब फिर सिर्फ 'ब्रह्म ब्रह्म' बकने से क्या मतलब? उससे लाभ क्या होगा? मन्दिर में देवता की स्थापना तो की नहीं—फिर

वक्तृत्व, व्याख्यान और समाज-सुधार पीछे हैं।

सिर्फ शंखध्वनि करने से क्या लाभ? अब हम तुम्हें एक बड़े मज़े की बात बतलाते हैं:—

हृदयमन्दिर में ईश्वर।

एक गाँव में पद्मलोचन नामक एक युवक सज्जन रहता था। वह 'पोदो' नाम से लोगों में प्रसिद्ध था। उस गाँव में एक गिरा हुआ मन्दिर था। उस मन्दिर की देवमूर्ति भी उस जगह पर न रही थी। मन्दिर पर और मन्दिर के आस-पास अश्वत्थादि वृक्षों के पत्ते बहुत से पड़े हुए थे और चारों ओर गन्दगी छाई हुई थी। पक्षी और चमगीदड़ इत्यादि प्राणियों ने उस मन्दिर को अपना निवासस्थान बना रक्खा था। वहां की पृथ्वी धूल और प्राणियों के विष्ठा से भर गई थी। उस मन्दिर में कभी कोई भी पैर नहीं रखता था।

देखा ? उसने देखा कि, अकेला पद्मलोचन (उपनाम पोदो) वहां है और वही ' भों-भों ' करके शंख बजा रहा है। यह देख कर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। मन्दिर का मार्जन नहीं हुआ था, जमीन पर विष्ठा इत्यादि की गन्दगी वैसी ही पड़ी थी, और किसी देवता की नवीन प्रतिष्ठा भी वहां नहीं हुई थी ! यह देख कर वह क्रोध से चिल्ला कर बोला, " अरे पोदो ! इस तेरे मन्दिर में माधव की मूर्ति का तो ठिकाना नहीं है; तब फिर केवल शंखध्वनि का यह कोलाहल क्यों मचा रक्खा है ? मन्दिर झाड़ना चाहिए, यह कूड़ा-चकरा और गन्दगी, जो अनेक वर्षों से एकत्र हो रही है उसे, निकाल डालना चाहिए; और मन्दिर की भूमि गंगोदक से धो डालना चाहिए। यह सब तो एक ओर रहा: और इस तेरी केवल शंखध्वनि से ही क्या होगा ? मन्दिर में रात-दिन ग्यारह चमगीदड़ † गन्दगी कर रहे हैं, उनको क्या पहले दूर न करना चाहिए ?

पहले हृदयमन्दिर में माधव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, पहले भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिए। यह न करते हुए सिर्फ ' भों-भों " करके शंख बजाने से क्या होगा ? भगवत्प्राप्ति, होने के पहले, उस मन्दिर की सब गन्दगी निकाल डालनी चाहिये। पापरूपी मल धो डालना चाहिते। इन्द्रियों की उत्पन्न की हुई विषयासक्ति को दूर कर देना चाहिए। अर्थात् पहले चित्त को शुद्ध करना चाहिए। जहां मन की शुद्धि हुई कि फिर उस पवित्र आसन पर भगवान् अवश्य ही आ बैठेगा। परन्तु यदि मलमूत्र की गन्दगी बनी रही तो माधव वहां कदापि न आवेगा। हृदय-मन्दिर की पूर्ण स्वच्छता होने पर माधव उस जगह प्रकट होगा। फिर चाहे तो शंख भी न

† ग्यारह इन्द्रियाँ—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन।

सिर्फ शंखध्वनि करने से क्या लाभ? अब हम तुम्हें एक बड़े मज़े की बात बतलाते हैं:—

हृदयमन्दिर में ईश्वर।

एक गाँव में पद्मलोचन नामक एक युवक सज्जन रहता था। वह 'पोदो' नाम से लोगों में प्रसिद्ध था। उस गाँव में एक गिरा हुआ मन्दिर था। उस मन्दिर की देवमूर्ति भी उस जगह पर न रही थी। मन्दिर पर और मन्दिर के आस-पास अश्वत्थादि वृक्षों के पत्ते बहुत से पड़े हुए थे और चारो ओर गन्दगी छाई हुई थी। पक्षी और चमगीदड़ इत्यादि प्राणियों ने उस मन्दिर को अपना निवासस्थान बना रक्खा था। वहां की पृथ्वी धूल और प्राणियों के विष्ठा से भर गई थी। उस मन्दिर में कभी कोई भी पैर नहीं रखता था।

एक दिन वहां बड़े आश्चर्य की बात हो गई। संध्या समय के बाद कुछ समय में उस उजाड़ मन्दिर से शंख की ध्वनि लोगों के कानों में आने लगी। लोग बड़े अचम्भे में पड़े। "भों-भों-भों-भों" करके यह शंख की ध्वनि इस मन्दिर में कौन करता है? पुरुष, स्त्री, लड़के, इत्यादि सब उसी मन्दिर की ओर चले, अवश्य ही उस गाँव के सब लोगों को मालूम हुआ कि उस मन्दिर में, इधर कुछ दिनों से किसीने देवमूर्ति स्थापित की होगी; और कोई भक्त इस समय उसकी पूजा करके आरती करता होगा। अतएव स्वाभाविक ही सब छोटे-बड़े लोगों की भीड़ उस मन्दिर के आगे आ लगी। सब लोग देवता का दर्शन करके आरती देखना चाहते थे; परन्तु भीतर जाने की आह किसीकी न पड़ती थी। सब लोग हाथ जोड़े, शंख की मधुर ध्वनि सुनते हुए, मंदिर के बाहर ही खड़े थे।

उनमें से एक ने धीरज धर कर धीरे से ही मन्दिर का द्वार खोला और भीतर देखा। उस समय उसने भीतर क्या

देखा ? उसने देखा कि, अकेला पद्मलोचन (उपनाम पोदो) वहां है और वही ' भों-भों ' करके शंख बजा रहा है। यह देख कर उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ। मन्दिर का मार्जन नहीं हुआ था, जमीन पर विष्ठा इत्यादि की गन्दगी वैसी ही पड़ी थी, और किसी देवता की नवीन प्रतिष्ठा भी वहां नहीं हुई थी! यह देख कर वह क्रोध से चिल्ला कर बोला, "अरे पोदो! इस तेरे मन्दिर में माधव की मूर्ति का तो ठिकाना नहीं है; तब फिर केवल शंखध्वनि का यह कोलाहल क्यों मचा रक्खा है? मन्दिर झाड़ना चाहिए, यह कूड़ा-चकरा और गन्दगी, जो अनेक वर्षों से एकत्र हो रही है उसे, निकाल डालना चाहिए; और मन्दिर की भूमि गंगोदक से धो डालना चाहिए। यह सब तो एक ओर रहा; और इस तेरी केवल शंखध्वनि से ही क्या होगा? मन्दिर में रात-दिन ग्यारह चमगीदड़ † गन्दगी कर रहे हैं, उनको क्या पहले दूर न करना चाहिए?

पहले हृदयमन्दिर में माधव की प्रतिष्ठा करनी चाहिए, पहले भगवत्प्राप्ति कर लेनी चाहिए। यह न करते हुए सिर्फ 'भों-भों" करके शंख बजाने से क्या होगा? भगवत्प्राप्ति, होने के पहले, उस मन्दिर की सब गन्दगी निकाल डालनी चाहिये। पापरूपी मल धो डालना चाहिते। इन्द्रियों की उत्पन्न की हुई विषयासक्ति को दूर कर देना चाहिए। अर्थात् पहले चित्त को शुद्ध करना चाहिए। जहां मन की शुद्धि हुई कि फिर उस पवित्र आसन पर भगवान् अवश्य ही आ बैठेगा। परन्तु यदि मलमूत्र की गन्दगी बनी रही तो माधव वहां कदापि न आवेगा। हृदय-मन्दिर की पूर्ण स्वच्छता होने पर माधव उस जगह प्रकट होगा। फिर चाहे तो शंख भी न

† ग्यारह इंद्रियाँ—पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और मन।

बजाओ! सामाजिक सुधार के विषय में तुम्हें बोलना है? अच्छा, बोलो। परन्तु पहले ईश्वर की प्राप्ति कर लो और फिर वैसा करो। ध्यान में रक्खो कि प्राचीन काल के ऋषियों ने ईश्वर प्राप्ति के लिए ही अपनी गृहस्थी पर तुलसीपत्र रख दिया था। बस, यही चाहिए। अन्य जितनी बातें तुम्हें चाहिए वे सब फिर तुम्हारे पैरों में आकर पड़ेंगी।

समुद्रतल के रत्नों की यदि तुम्हें आवश्यकता हो तो पहले बुड्डी मार कर समुद्र तल में जाओ। पहले बुड्डी लगा कर रत्न हाथ में कर लो। फिर दूसरी बात। पहले अपने हृदय मन्दिर में माधव प्रतिष्ठा करो, फिर शङ्ख ध्वनि की बात करो! पहले परमेश्वर को पहचानो, फिर चाहे व्याख्यान भाड़ो और चाहे सामाजिक सुधार करो!

बुड्डी मारने का श्रम कोई नहीं चाहते! साधन नहीं चाहते, भजन नहीं चाहते, विवेकवैराग्य नहीं चाहते! बस, दो अक्षर सीख लिए और लगे लम्बी लम्बी आँखें निकाल कर, व्याख्यान देने! और हुए कृतार्थ!

सद्‌गुरु।

जनशिक्षा का कार्य कुछ सहज नहीं, बड़ा कठिन है। भगवान् का दर्शन पहिले चाहिए। दर्शन हो जाने के बाद, भगवान् की आज्ञा मिलने पर जनशिक्षा का कार्य हाथ में लेना उचित है। जिसे भगवान् का दर्शन हो जाय और भगवान् की आज्ञा जिसे मिल जाय उसीको व्याख्यान देने के लिए अपनी जिह्वा उठाना चाहिए।

विन्दु १६।

विवाहित पुरुषों के विषय में।

महाराज बातें करते करते अपने कमरे के बरामदे में चले गये। मणि भी वहीं खड़ा था और नरेन्द्रादि सब शिष्य भी वहीं थे।

महाराज बार बार कह रहे थे कि जिसके पास विवेक और वैराग्य नहीं है उसको परमेश्वर का दर्शन कभी नहीं हो सकता। इस समय मणि की उमर २७-२८ साल की थी। उसका विवाह भी हो गया था। महाराज की उक्त बातें सुन कर वह अपने मन में चिंता करने लगा और कहने लगा "क्या विवेक और वैराग्य का यही अर्थ है कि सन्यासी के समान संसार का—गृहस्थाश्रम का—कामिनी और कांचन का—त्याग कर दिया जाय?"

गृहस्थाश्रमी मनुष्य की चिंता।

मणिः—महाराज, जब कि स्त्री यह कहती है कि "यदि तुम मेरी ओर न देखोगे—यदि तुम मेरी कुछ भी परवाह न करोगे—तो मैं अपनी जान दे दूंगी।" तब क्या किया जाय?

महाराज (गम्भीरतापूर्वक):—जो स्त्री अपने पति के ईश्वर-चिंतन में बाधा डालती है उसका त्याग खुशी से कर देना चाहिए। वह अपने नसीब का फल भोगती रहेगी। चाहे वह आत्महत्या करे या और कुछ करे। जब कि पति ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग का आक्रमण कर रहा हो; उस समय जो स्त्री अज्ञानवश विघ्न उपस्थित करती है उसको मूर्तिमान अविद्या ही कहना चाहिए।

मणि चिंतासागर में डूब गया। नरेन्द्रादि सब शिष्य भी क्षण-भर स्तब्ध हो गये। किसीके मुहँ से एक शब्द भी न निकला।

महाराज, कुछ समय तक, इसी तरह बोलते रहे। मणि दीवाल से माथा टिकाए चुपचाप खड़ा था। तब उसकी ओर झुक कर महाराज ने धीरे से कहा "परन्तु जिसके अंतःकरण में ईश्वर की भक्ति होती है, उसकी बात ही अलग है! सब लोग उसके आधीन हो जाते हैं। स्त्री की तो बात ही क्या, परन्तु सत्ताधीश राजा और बड़े बड़े दुष्ट लोग भी उसकी आधीनता में रहने लग जाते हैं! यदि हमारे अंतःकरण में भक्ति-भाव हो तो वे लोग भी धीरे धीरे ईश्वर के मार्ग में लग जाते हैं। यदि ईश्वर के विषय में पति की आंतरिक भक्ति शुद्ध होगी तो उसकी स्त्री उसकी इच्छा के विरुद्ध कभी बर्ताव न करेगी। ईश्वर की कृपा से उसके भी मन में भक्ति-भाव का उदय हो जायगा और वास्तविक सहधर्मचारिणी के समान वह अपने पति की सहायता करने लगेगी।" मणि के हृदय की चिंता-रूपी आग उक्त वाक्सुधा से बुझ गई—उसका मन पूर्ववत् शांत हो गया।

मणिः—महाराज, यह संसार बड़ा भयानक है!

महाराजः—इसमें सन्देह नहीं कि यह सांसारिक जीवन उस मनुष्य के लिए बहुत भयानक है, जिसके अंत:करण में ईश्वर के विषय में प्रेम और भक्ति न हो। चैतन्यदेव ने एक बार नित्यानंद से कहा था कि "जो मनुष्य सांसारिक विषयों का बंदा-गुलाम हो गया उसको मुक्ति नहीं मिल सकती।" परन्तु जो मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा रखता है उसको कुछ भय नहीं। ईश्वर की प्राप्ति हो जाने के बाद यदि मनुष्य इस संसार के सब विषयों का उपभोग करता रहे तो उसकी कोई हानि न होगी।" चैतन्यदेव के शिष्यों में बहुतेरे संसारी जन थे, परन्तु वे नाममात्र ही के लिए 'संसारी' कहलाते थे।

* * * *

अपना निवासस्थान बनाना पड़ा। बाबू खुदीरामजी बड़े ईश्वर-भक्त अतएव पापभीरु थे। उनकी पत्नी—श्रीरामकृष्ण की मातृदेवी—श्रीमती चंद्रामणि देवी भी अत्यन्त दयाशील थीं। वह अपनी वृद्धावस्था के दिन बिताने के लिये अपने पुत्र के पास, दक्षिणेश्वर ही में, आ रही थीं। उनके उदार विचारों के विषय में एक घटना बहुत ही प्रसिद्ध है। एक बार राणी राशमणि के जामात्र और रामकृष्ण के शिष्य मथुरा बाबू ने उन्हें ४ हज़ार रुपयों की तुच्छ भेंट स्वीकृत करने का बहुत अनुरोध किया; परन्तु माता चन्द्रामणि देवीजी ने उसे स्वीकार नहीं किया। पर, जब बहुत इंकार करने पर भी मथुरा बाबू ने नहीं माना तब उन्होंने कहा, 'यदि तुम मानते ही नहीं हो तो मुझे इस द्रव्य में से दो पैसे की 'इलाम्च' ला दो!' माताजी की उस निस्पृहता पर मथुरा बाबू अत्यन्त चकित हुए और बोले, 'माताजी! यदि आपमें इस निस्पृहता रूपी गुण का आविर्भाव न होता तो आपकी कोख मे रामकृष्ण जैसे महात्मा सुपुत्र कदापि उत्पन्न नहीं होते। वास्तव में श्रीरामकृष्ण के चरित्र-कार्य का अधिकांश श्रेय उनके सत्यनिष्ठ पिता और निस्पृह माता को ही है। अस्तु।

श्रीरामकृष्ण अपनी बाल्यावस्था में बड़े ही सुंदर थे, जब वे ६ वर्ष के हुए, तब उनके पिता ने उन्हें पाठशाला में भर्ती कराया। वहां पर उन्होंने कुछ पढ़ना और लिखना सीखा। पर जोड़ बाकी, गुणा-भाग इत्यादि गणित विषयक प्रश्नों को उन्होंने बिलकुल नहीं पढ़ा।

जब उन्होंने साधारण शिक्षा प्राप्त कर ली तब वे पाठशाला को तिलांजलि देकर घर पर ही रहने लगे। उनके माता पिता ने जब उन्हें निठल्ला घूमते हुए देखा, तब श्रीरघुवीर का पूजन उनको सौंप दिया। वे अपने ऊपर सौंपे हुए कार्य को बड़ी प्रेम-भक्ति से करते थे। प्रातःकाल को ईश्वर स्मरण से निपटेरा

इस प्रकार बातें करते करते दोपहर का समय हो गया। भगवान् का भोग आदि समाप्त हुआ। महाराज ने भी भोजन पाया। नरेन्द्रादि सब शिष्यों ने महाराज के साथ थोड़ा थोड़ा प्रसाद ग्रहण किया।

बिन्दु १७।

महाराज की समाधि।

दुर्गापूजा की नवरात्र के बाद पूर्णिमा हुई। उस दिन शुक्रवार था—तारीख २७ अक्टोबर सन् १८८२ ई० थी। महाराज दक्षिणेश्वर के मन्दिर में, अपनी कोठरी में विजय और हरलाल के साथ बैठे थे। इतने में एक आदमी ने कहा, बाबू केशवचन्द्र सेन आये हैं, वे नौका में बैठे हैं और नौका घाट ही पर खड़ी है।

कुछ समय के बाद केशवबाबू के कुछ शिष्य भी वहां आये और महाराज को प्रणाम् करके बोले "महाराज, आपके लिए नौका घाट पर खड़ी है। केशवबाबू ने प्रार्थना की है कि आप नौका में चलने की कृपा कीजिये।" सन्ध्या के चार बजने का समय था। केशवबाबू की नौका में विहार करने के लिए महाराज डोंगी में बैठे। विजय भी आपके साथ था। डोंगी में बैठते महाराज बाह्यशून्य हो गये—उनकी समाधि लग गई।

एम केशवबाबू की नौका में बैठा था। महाराज की डोंगी नौका की ओर आती देख वह अत्यन्त आनन्दित हो गया। महाराज की बाह्यशून्य, स्तब्ध, निश्चल और समाधिस्थ मूर्ति की ओर टकटकी बान्धकर वह देखने लगा। वह केशवबाबू की नौका में बैठ कर कलकत्ते से तीन बजे चला था। उसकी यह इच्छा थी कि श्रीरामकृष्ण परमहंस और केशवबाबू के सम्मेलन के समय जो

दिव्य आनन्द होगा उसका कुछ अनुभव करें और उन दोनों की बात-चीत सुन कर अपने श्रवणों को पवित्र करें। केशवबाबू ने अपने साधुचरित तथा अद्वितीय वक्तृता से अनेक बंगाली युवकों के मन मोहित कर लिए थे। उनके हृदय में केशवबाबू के सम्बन्ध में आत्मभाव उत्पन्न हो गया था---वे लोग उनको आदर और प्रेम से देखते थे। केशवबाबू अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वान् और दर्शनशास्त्र में पारंगत थे। वे मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे। यथार्थ में, यह आश्चर्य की बात है कि केशवचन्द्रसेन जैसे ब्रह्मसमाज के अगुआ पुरुष में रामकृष्ण परमहंस के सम्बन्ध में, इतना प्रेम और आदर था कि वे हमेशा महाराज से मिलने आया करते थे! यद्यपि इन दोनों महानुभावों में उत्तर-दक्षिण-ध्रुव के समान अंतर था, तथापि उनके हृदय का सम्मेलन देख पड़ता था। हम यही जानने के लिए उत्कंठित हो रहा था कि उक्त सम्मेलन किस मानसिक भूमिका में और किस प्रकार हुआ है।

महाराज निराकारवादी थे और केशवबाबू भी निराकारवादी था, इस विषय में दोनों का मत एक समान था। परन्तु महाराज साकारवादी भी थे—वे ब्रह्मचिंतन में निमग्न रहा करते थे और पुष्पचंदन आदि से देव-देवियों की, प्रतिमाओं की, पूजा भी किया करते थे। केवल इतना ही नहीं; किन्तु मूर्ति की पूजा करते करते भक्तिभाव से उन्मत्त होकर वे नाचने और गाने भी लगते थे! सन्यासी होकर गद्दी और पलंग पर सोते थे! कभी गेरुए वस्त्र पहिनते; तो कभी कोट, बूट भी चढ़ा लेते! केशवबाबू केवल निराकारवादी ही थे। वे किसी देव-देवियों की प्रतिमाओं की पूजा करना निंदनीय समझते थे। वे स्त्री-पुत्रों सहित गृहस्थाश्रम में रहते थे। अंग्रेजी में व्याख्यान देते, समाचारपत्रों में धार्मिक चर्चा करते और इसी तरह अन्य कार्य भी किया करते थे।

पहले पहल विजय केशवबाबू का अनुयायी था। उनके पंथ का त्याग करके वह अब साधारण ब्रह्मसमाज का अनुयायी हो गया था। केशवबाबू ने, अपने सामाजिक तत्वों के विरुद्ध, अपनी कन्या का विवाह छुटपन ही में कर दिया था; इसलिए विजय ने अनेक बार उनकी निन्दा की थी। विजय को यहां अचानक देख कर केशवबाबू कुछ आश्चर्यचकित से हो गये।

संसाररूप कारागृह।

इस बात का उल्लेख ऊपर किया ही गया है कि सब लोग टकटकी लगा कर महाराज की ओर देख रहे थे। कुछ समय के बाद महाराज की समाधि का उत्थान हुआ, तौभी उनकी आन्तरिक वृत्तियाँ ब्रह्मभाव ही में लीन थीं। धीमी आवाज से महाराज कहने लगे "हे माता, तू मुझे यहां क्यों लायी? ये सब लोग कारागृह में बंधे पड़े हैं! क्या मैं इस कारावास से इन लोगों को मुक्त कर सकता हूं?" महाराज के मुख से ये वचन क्यों निकले? कदाचित् आपने सोचा होगा कि ये सब लोग संसाररूप कारागृह में बंधे पड़े हैं—ये लोग समाधि-रूप स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकते—ये लोग आत्मा के दिव्यप्रकाश की ओर देख भी नहीं सकते—विषय सम्बन्धी कर्मों से इनके हाथ-पैर बंध गये हैं। सच बात है; सांसारिक जनों को अपने कारागृह के पदार्थों के सिवाय और कुछ दीख ही नहीं पड़ता। ये लोग यही समझते हैं कि शारीरिक सुख और विषय-कर्म—कामिनी और कांचन—के विना जीवन की सफलता हो नहीं सकती। इन्हीं सब बातों को सोच-समझ कर महाराज ने उक्त वाक्य अपने मुख से निकाले होंगे।

महाराज को धीरे धीरे बाह्य-ज्ञान होने लगा। गाजीपुर के नीलमाधव बाबू भी उस मंडली में बैठे थे।

देह और आत्मा।

जब महाराज बाह्य-वृत्ति में जागृत हुए तब नीलबाबू और उनके एक साथी गाजीपुर के पौहरी बाबा के विषय में बातें करते रहे।

एक साथी:—महाराज, बड़े सौभाग्य की बात है कि हम लोगों को पौहरीबाबा का दर्शन हुआ है। वे गाजीपुर में रहते हैं। आप ही के समान सत्पुरुष हैं।

महाराज अब तक भाषण करने की स्थिति में न थे; उनका हृदय ब्रह्मानंद में निमग्न था; इसलिए उनके मुख से एक भी शब्द न निकलता था। जिस मनुष्य ने बाबा की बात छेड़ी थी उसकी ओर देख कर वे सिर्फ हँसे। यह देख कर वह आदमी फिर बोला "महाराज, बाबा ने आपकी तसवीर अपने कमरे में लगा रक्खी है।"

महाराज ने अपने शरीर की ओर अंगुली का संकेत किया और हंसते हुए कहा "यह सिर्फ तकिया का आच्छादन है। महाराज का भावार्थ यह था कि देह नश्वर है, उसमें रहनेवाला देही अविनाशी है। ऐसे नश्वर देह की तसबीर से क्या लाभ होगा? मनुष्य के हृदय में जो देही अर्थात् ईश्वर रहता है उसीका आदर करना चाहिए, उसीके चित्र की ओर गौरव-पूर्ण दृष्टि से देखना चाहिए।

महाराज:—एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि भक्त का हृदय ही ईश्वर का निवासस्थान—मन्दिर—है। इसमें संदेह नहीं कि वह सारे जगत् में व्याप्त है, तथापि भक्त का हृदय ही विशेष रूप से उसका निवासस्थान कहा जाता है। जैसे किसी श्रीमान् के अनेक घर होते हैं, परन्तु उसका खास घर सदा नियमित रहता है। इसी तरह भक्त का हृदय भी ईश्वर का विशेष स्थान है। यदि ईश्वर का दर्शन करना हो तो मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वर के विशेष निवासस्थान में जाय।

ईश्वर का निवासस्थान है।

ज्ञानी अथवा वेदान्ती लोग जिसको ब्रह्म कहते हैं उसीको योगी-जन आत्मा और भक्त-जन भगवान् कहते हैं। जब कोई ब्राह्मण देव की पूजा करता है तब उसको

"पुजारी" कहते हैं; और जब वह "रसोई" बनाने का काम करता है। तब उसको "रसोइयाँ" कहते हैं; परन्तु दोनों अवस्थाओं में वह ब्राह्मण ही है।

ईश्वर एक है, उसके नाम अनेक हैं।

अद्वैतवादी।

जब कोई वेदांती ज्ञान-मार्ग का अवलम्ब करके ब्रह्म-प्राप्ति का यत्न करता है तब वह विचार करते करते "नेति नेति" कहता है। अर्थात् वह कहता है कि यह ब्रह्म नहीं है, यह ब्रह्म नहीं है, जीव ब्रह्म नहीं है, जगत् ब्रह्म नहीं है इत्यादि, इस प्रकार विचार करते करते जब मन स्थिर हो जाता है, तब वह वासनाओं के आघात से डिगता नहीं, अर्थात् जब मन का पूर्ण रीति से लय हो जाता है, तभी समाधि सिद्ध होती है, तभी ब्रह्म ज्ञान प्राप्त होता है और तभी "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" इस तत्व का साक्षात् अनुभव होता है। पदार्थों की नामरूपात्मकता केवल स्वप्न के समान है। इस बात का वर्णन शब्द-द्वारा नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म कैसा है। ब्रह्म कोई व्यक्ति भी नहीं है। यह बात केवल अनुभव से प्रतीत होती है।

भक्त अथवा द्वैतवादी।

ऊपर इस बात का वर्णन किया गया है कि वेदान्ती अथवा ज्ञानी लोग क्या कहते हैं। अब यह देखना चाहिए कि भक्त लोग इस विषय में किस तरह विचार करते हैं। वे सब अवस्थाओं को सत्य ही मानते हैं। वे इस जगत् को भी सत्य मानते हैं—स्वप्नवत् नहीं मानते। उनकी दृष्टि से नाम और रूप भी सत्य है। वे कहते हैं कि ईश्वर सगुण है, वह अनेक गुणों का निधि है, इस संसार की प्रत्येक वस्तु उसीकी बनाई हुई है, सारा ब्रह्मांड उसीके ऐश्वर्य को प्रकट करता है आकाश, नक्षत्र, चंद्र, सूर्य, पर्वत, समुद्र और जीव-जन्तु इत्यादि परमेश्वर ही ने

उत्पन्न किये हैं। जिस प्रकार वह हृदय के भीतर है उसी तरह वह बाहर भी है। उत्तम भक्त यह कहता है कि चौबीस* तत्व—जीव, जगत् इत्यादि सब कुछ—उसीमें भरे हैं। शकर में शकर मिला देने से जैसे उसकी मिठास स्वयं शकर को नहीं मालूम हो सकती, उस तरह की स्थिति में रहना भक्त पसंद नहीं करता। शकर से अलग रह कर शकर की मिठास चखते रहना उसको बहुत पसंद है। (सब लोग हंसते हैं।)

क्या तुम जानते हो कि भक्त का भाव कैसा होता है? वह कहता है "हे ईश्वर, तू प्रभु है मैं तुम्हारा दास हूं; तू मेरी माता है, मैं तेरा बालक हूं।" भक्त की यह भावना नहीं होती, कि मैं "ब्रह्म हूं।"

योगीजन इस बात का यत्न करने में लगे रहते हैं कि परमात्मा का साक्षात्कार हो। आत्मनिग्रह करके जीव और शिव—जीवात्मा और परमात्मा—का संयोग करना ही उनका मुख्य उद्देश होता है। जो मन विषयों के पीछे मदान्ध होकर दौड़ता रहता है उसको अपने आधीन करना—उसको स्थिर करना—यही उनका प्रथम कर्तव्य होता है। जब इस प्रकार मन स्थिर हो जाता है तब वे उसको परमेश्वर का ध्यान करने में लगा देने का यत्न करते हैं। यही कारण है कि योगीजनों को अपने अभ्यास की प्रथमावस्था में निर्जन प्रदेश में रह कर और स्थिरासन होकर, अनन्य भाव से, परमात्मा का चिंतन करना पड़ता है।

स्मरण रहे कि मूल वस्तु एक ही है, केवल नामों की भिन्नता है। जो ब्रह्म है वही आत्मा है और वही भगवान्। ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म कहता है, योगी परमात्मा कहता है और भक्त भगवान् कहता है। वस्तु एक है नाम भिन्न भिन्न हैं।

विंदु १८।

सगुण ईश्वर, आदिशक्ति और उसका ऐश्वर्य।

केशवबाबू की नौका धीरे धीरे कलकत्ते की ओर जाने लगी। नौका में बैठनेवाले सब लोग रामकृष्ण परमहंस के मुख की ओर देख रहे थे और उनके मुखारविंद से टपकनेवाले वाक्सुधा के विंदुओं का पान करने में तल्लीन हो रहे थे। पर उन्हें इस बात का ख्याल ही न रहा कि हमारी नौका चल रही है या नहीं। कुछ समय के बाद दक्षिणेश्वर का मंदिर पीछे रह गया—उस मनोहर देवालय का दृश्य दृष्टिपथ के बाहर चला गया। नीचे की ओर गंगाजी के निर्मल तथा पवित्र जल में नीलवर्ण आकाश प्रतिबिंबित हुआ था। जल-पथ पर, अनेक लहरों को काटती हुई, अग्निबोट बड़े वेग से चली आ रही थी। परन्तु इन बातों की ओर उन लोगों का ध्यान न था। वे उस हास्य-वदन, आनंदमय और प्रेमपूर्ण मूर्ति की ओर देखने ही में निमग्न थे। महाराज की बातें बंद नहीं हुईं—वे फिर कहने लगे—

ब्रह्म और शक्ति।

महाराजः—वेदान्ती या ब्रह्मज्ञानी लोग कहते हैं कि केवल ब्रह्म ही एक 'वस्तु' है—इसके अतिरिक्त जो कुछ है सो सब 'अवस्तु' है। केवल ब्रह्म सत्य है, अन्य सब जगत् मिथ्या है। वे कहते हैं कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय, जीव, जगत् इत्यादि सम्पूर्ण दृश्य केवल शक्ति—माया—माता का खेल है। विचार-दृष्टि से यह जगत् स्वप्न के समान मिथ्या है और शक्ति भी वैसी ही है। परन्तु जब तक विषय शून्या-

वस्था प्राप्त नहीं होती, जब तक मन का लय सिद्ध नहीं होता और जब तक समाधि का अनुभव नहीं होता तब तक शक्ति या माया के उस पार चला जाना सम्भव नहीं है—चाहे कोई 'नेति, नेति' तत्व को दिन-रात रटा करे। 'मैं ध्यान करता हूं,' 'मैं चिंतन करता हूं' इत्यादि भाव माया के—शक्ति के—द्योतक हैं।

ईश्वर एक है।

तात्पर्य यह है, कि ब्रह्म और शक्ति में कुछ भेद नहीं है। यदि ब्रह्म सत्य है तो उसकी शक्ति या माया भी सत्य है। क्या किसीने ऐसी आग देखी या सुनी है कि जिसमें दाहकशक्ति न हो? अग्नि के साथ ही उसकी दाहक शक्ति भी रहती है। यदि अग्नि सत्य मानी जाय तो उसकी दाहक-शक्ति भी सत्य होनी चाहिए। अग्नि के बिना केवल दाहक शक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, अथवा दाहक-शक्ति के बिना केवल अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती। दूसरा उदाहरण लीजिए; क्या सूर्य के बिना केवल किरणों की, या किरणों के बिना केवल सूर्य की, कल्पना की जा सकती है? नहीं। इसी तरह बिना ब्रह्म के शक्ति की अथवा बिना शक्ति के ब्रह्म की भावना नहीं की जा सकती। यदि नित्य वस्तु (ब्रह्म) की भावना करना हो तो उसकी लीलाशक्ति या माया का त्याग नहीं किया जा सकता। आदिशक्ति लीलामयी है। वही उत्पत्ति, स्थिति और लय करती है। उसीका नाम कालीमाता है।

काली माता ब्रह्म है, ब्रह्म कालीमाता है। वस्तु एक ही है जो स्वयं निष्क्रिय है, जो उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि कुछ भी कार्य नहीं करती, ऐसी जब मेरी भावना होती है तब मैं उसे ब्रह्म कहता हूं। और जब मेरी यह भावना होती है कि वही इन सब कार्यों को करती है तब मैं उसीको काली

कहता हूं, शक्ति कहता हूं। क्योंकि एक ही, सिर्फ नाम और रूप का भेद है।

सब धर्मों का समन्वय। पदार्थ एक ही है, परन्तु भिन्न भिन्न भाषाओं में उसके भिन्न भिन्न नाम हैं। जैसे जल, वॉटर, पानी, वारि, एक्वा इत्यादि। तालाब के चारों ओर कई एक घाट होते हैं। एक घाट पर हिंदू पानी पीते हैं और वे उसे 'जल' कहते हैं। दूसरे घाट पर मुसलमान रहते हैं और वे 'पानी' कहते हैं। यदि तीसरे घाट पर कोई अंग्रेज हो तो वह उसे 'वॉटर' कहेगा और चौथे घाटवाला लेटिन भाषा में 'एक्वा' कहेगा। यथार्थ में पानी एक ही है; परन्तु केवल शब्दों में भेद है। इसी तरह परमेश्वर भी एक है और उसके नाम अनंत हैं। कोई 'अल्ला' कहते हैं, और कोई राम, कृष्ण, हरि, विष्णु, नारायण, दुर्गा, जीजस (ईसामसीह), बुद्ध इत्यादि कहते हैं।

केशवबाबू --महाराज! कालीमाता किन किन रूपों से लीला करती है--इस लीलामय जगत् में कार्य करती है? कृपापूर्वक इस विषय पर कहिए।

महाराज (हँसते हँसते):--वह अनेक भावों से लीला करती है। कभी तो वह महाकाली होती है अर्थात् निरुपाधिक, निरंजन, निराकार रहती है। कभी वह नित्यकाली हो जाती है अर्थात् इस जगत् के समान नाशवान् नहीं रहती। कभी वह स्मशानकाली बन कर मृत्यु पर अपना अधिकार करती है और एक क्षण में रक्षाकाली होकर अपने बालकों की रक्षा करती है। कभी वह श्यामाकाली होकर अपने भक्तों को आनंद देती है। तंत्रों में महाकाली और नित्यकाली का वर्णन किया गया है। जब यह सारा ब्रह्मांड शून्यावस्था में था, जब यह सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी; जब चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, पृथ्वी और समुद्र आदि कुछ भी नहीं थे उस समय महाकाली अपने निराकार रूप में महा-

पाकर वे ईश्वर के भजन-पूजन में ही अपना काल बिताते थे। रामायण, महाभारत तथा भागवतादिक धार्मिक ग्रन्थों का मनन और पठन करना उन्हें अत्यन्त प्रिय था। उनकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी, अतएव उन्हें धार्मिक कथाओं तथा अन्यान्य छोटी-मोटी बातों का भी कभी विस्मरण नहीं होता था। वे अपने विचारों एवम् घटित घटनाओं को आचार रूप में परिणत करना अधिक पसन्द करते थे। देवी देवताओं की प्रतिमाओं के दोषगुणों से वे भली भांति परिचित थे। उनकी बनाई हुई श्रीकृष्णमूर्ति अभी श्रीदक्षिणेश्वर देवालय में प्रतिष्ठित है।

श्रीजगन्नाथपुरी को जानेवाले यात्री कमरपूकर की ओर से ही जाते थे; अतएव गदाधर (श्रीरामकृष्ण का पूर्वनाम) उन यात्रियों की सेवा कर उनका उपदेश सुनते थे। प्रवासी यात्री भी उन्हें बहुत चाहते थे जिससे उनका तथा उनके नगर का नाम दूर दूर देशों तक फैल गया था। जब गदाधर १०, १२ वर्ष के थे तब वे एक दिन एक खेत से ' अनूर ' नामक ग्राम की ओर जा रहे थे। उस समय नीलाकाश स्वच्छ और निरभ्र था और कुछ खग आकाश में भ्रमण कर रहे थे। वह विचित्र दृश्य बड़ा मनमोहक और तेजपुंज था, इस कारण उसे देखकर गदाधर के मन में कोई ऐसा विचार आया और उस विचार का उनके अंतःकरण पर इतना प्रभाव पड़ा कि वे एकदम मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़े। कहते हैं उनकी उक्त मूर्च्छारूपी समाधि उनकी पहिली ही समाधि थी। एक बार वे लाहा ज़मींदार के यहाँ भोजन करने के लिये गए। वहां पर परमार्थ विषयक कुछ बातें छिड़ीं। सभी पंडित उन पारमार्थिक कूट प्रश्नों का हल करने का प्रयत्न करने लगे। पर, वे हल नहीं कर सके। इतने में एक कोने में बैठे हुए १०, १२ वर्ष के बालक ने उन्हें हल कर दिया। सभी पंडित उस बालक—गदाधर—की विलक्षण प्रतिभा पर मुग्ध हो गये!

काल में लीन होकर रहती थी। महाकाली में अनेक कोमल भाव हैं--वह वरदायिनी है, प्रेमदायिनी है और इसी रूप से वह प्रत्येक मनुष्य के घर में पूजी जाती है। जिस समय महामारी, दुर्भिक्ष, धरणीकम्प, अनावृष्टि, अतिवृष्टि इत्यादि आपत्तियाँ आती हैं उस समय वह रक्षाकाली के भाव से पूजी जाती है। स्मशानकाली की संहार मूर्ति होती है। जिस समय वह मृतशरीर, भूत, पिशाच और डाइन इत्यादि के सहवास में, स्मशान में, निवास करती है, उस समय के उसके भयानक रूप का वर्णन नहीं किया जा सकता।

उत्पत्ति का वर्णन।

उसकी उत्पत्ति इस प्रकार होती है। जब इस जगत् के विनाश का अर्थात् प्रलय का समय समीप आता है उस समय यह मेरी माता सृष्टि के बीज को एकत्रित करके अपने पास रख लेती है। जो स्त्री गृहस्थी के काम-काज में निपुण होती है वह एक घड़े में अनेक आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करती रहती है। (केशवबाबू और अन्य लोग हँसते हैं।)

महाराज (हँसते हँसते):--हाँ भाई, बात तो ऐसी ही है। मेरी माता भी इसी तरह सृष्टि के बीज को एकत्रित करके अपने पास रखती है।

काली का प्रभाव।

यह आदिशक्ति जिस प्रकार सृष्टि के भीतर है उसी प्रकार सृष्टि के बाहर भी है। जगत् की उत्पत्ति के बाद वह जगत् ही में निवास करती है। उसको मकड़ी के समान और जगत् को जाले के समान जानो। जैसे मकड़ी पहले अपने पेट से जाला बाहर निकालती है और फिर उसी जाले में आप रहने लगती है, वैसे ही इस शक्ति को भी जानो। मेरी मा

जगत् का आधार और आधेय भी है। वही जगत् का निमित्त कारण है और उपादान कारण भी है।

काली मेरी माता है। क्या उसका रंग काला है? नहीं। वह वस्तुत दूर है—उसका रूप मानवी ज्ञान को अगम्य है; इस लिए वह कदाचित् काली सी देख पड़ती हो; परन्तु यदि उसका स्वीकार किया जाय—उसकी पूजा की जाय—उसका ज्ञान हो जाय—तो जान पड़ेगा कि उसका रंग काला नहीं है; किन्तु अत्यंत मनोहर है।

आकाश भी दूर से नीला देख पड़ता है; परन्तु यदि अपने समीप का आकाश देखा जाय तो उसका कोई रंग ही नहीं है। समुद्र का जल भी दूर से नीला देख पड़ता है; परन्तु जब उसके पास जाओ और थोड़ा सा जल हाथ में लेकर देखो तो मालूम होगा कि उस जल में कोई रंग ही नहीं है। इसी तरह काली के समीप—मेरी माता के निकट—जाकर उसको देखो, उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करो, उसका साक्षात्कार लाभ करो; तब यह देख पड़ेगा कि वह निर्गुण और निराकार ब्रह्म ही है।

इतना कहते कहते महाराज प्रेमोन्मत्त होकर, शिव और शक्ति की अभिन्नता के विषय में, कुछ गाने लगे और फिर बोलने लगेः—

इसी आदिशक्ति के कारण मनुष्य बद्ध या मुक्त होता है। यह इसी माता का प्रभाव है, कि इस संसार में अनेक जीव 'कामिनी और कांचन' के मोहजाल में फँस जाते हैं। ज्योंही मेरी माता किसी मनुष्य की ओर कृपादृष्टि से देखती है त्योंही वह संसार की माया से मुक्त हो जाता है। वह अपने बालक को भवसागर पार करा देती है। यथार्थ में वह भवबंधन-हारिणी और तारिणी है। वह अत्यंत लीलावती है। यह सारा संसार उसीकी लीला है। वह इच्छामयी और आनंद-

मयी है। लीला मात्र से, इच्छा मात्र से, वह अपने भक्तों को संसार-बंधन से मुक्त कर देती है!

एक ब्रह्मसमाजीः—महाराज! आपने कहा, कि यदि माता चाहे तो वह सब को मुक्त कर सकती है।

जीवात्मा की पंगुता। तो फिर यह बताइये कि उसने हम सब लोगों को इस संसार में बद्ध क्यों कर दिया?

महाराजः—केवल उसकी इच्छा! उसकी यही इच्छा है कि संसार में इस प्रकार की लीला हो। मानों उसने सब जीवों को गुप्त रीति से कह दिया है "बच्चा, जाओ; जब तक मैं फिर आज्ञा न दूं तब तक संसार में रहो।" ऐसी अवस्था में न तो जीव का कोई दोष है और न हमारे मन का। ज्योंही उसकी कृपा होगी त्योंही वह अपने बालकों को मुक्त कर देगी। वह तुरन्त ही हमारे मन की विषय-वृत्ति नष्ट कर डालेगी और हम मुक्त हो जायँगे। अनन्य भाव से उसकी कृपा प्राप्त करनी चाहिए।

इसके बाद कुछ समय तक, महाराज इस भाव से गाते रहे, कि मैं एक सांसारिक जीव हूं, इस अवस्था में मैं बहुत दुखित हूं, तेरी कृपा के बिना मेरा उद्धार न हो सकेगा। अंत में महाराज ने कहा कि यह जीव इसी माया से मोहित होकर भवसागर में गोते लगाता रहता है।

बिन्दु १९।

कर्मयोग,—संसार और निष्काम कर्म।

एक ब्रह्मसमाजीः—महाराज, क्या यह बात सच है कि सर्व संग परित्याग किए बिना मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती?

महाराजः—नहीं, नहीं। तुमको सर्व संग परित्याग की क्या आवश्यकता है? तुम जैसे हो वैसे ही बने रहो। यह संसार-सुख और दुःख का मिश्रण है। यद्यपि तुम लोग इस संसार में बद्ध हो, तथापि इस बात की ओर ध्यान रक्खो कि तुम्हारा मन सदा ईश्वर की भक्ति में लीन रहे—तुम सदा उसकी कृपा-प्राप्त करने का यत्न करते रहो। यदि ऐसा न करोगे तो सद्गति न होगी। एक हाथ से दुनियाँ के सब काम-काज करो और दूसरे हाथ से प्रभु के चरणों को दृढ़ता से पकड़े रहो। जिस समय कोई भी काम काज न हो उस समय दोनों हाथों से प्रभु की सेवा में लगे रहो।

देखिए, सब बातें केवल मन ही पर अवलम्बित होती हैं। यदि तुम्हारा मन बद्ध हो तो तुम भी बद्ध हो जाते हो और यदि तुम्हारा मन मुक्त हो तो तुम भी मुक्त हो जाओगे। मन का रंग पानी के समान है, जो रंग उसमें दिया जायगा, वही उसका रूप हो जायगा। उसमें लाल रंग डालो वह लाल देख पड़ेगा; पीला रंग डालो, पीला हो जायगा। मन स्वयं निर्गुण है। केवल स्थिति के कारण ही उसमें गुण या अवगुण देख पड़ते हैं। देखिये, अंग्रेजी लिखा-पढ़ा आदमी आप ही आप "सिट्-फिट्, पट्-मेट्" बोला करता है।

स्थिति की शक्ति।

संस्कृत जाननेवाला पंडित "घटपटादि" कहा करता है। यह सब अभ्यास, आदत या स्थिति का परिणाम है। यदि मन को कुसंगति लग जाय तो उसका परिणाम हमारे आचार, विचार और उच्चार पर भी प्रगट होने लगता है। इसके बदले यदि मन को अच्छी संगति में—भक्तजनों के समागम में—लगा दिया जाय तो वह ईश्वर-चिंतन में रममाण हो जाता है, और फिर ईश्वर की कथाओं के अतिरिक्त उसको कुछ नहीं सुहाता।

सारांश यह है, कि सब बातें मन ही पर अवलम्बित हैं। वह सच मुच बहुरूपी है। जैसा देश हो वैसा ही, वह, वेष बना लेता है। देखिए, मनुष्य के एक ओर स्त्री और दूसरी ओर कन्या है। दोनों के शरीरों पर वह प्रेमभाव से अपना हाथ धरता है—अथवा दोनों को प्रेमभाव से आलिंगन देता है; परन्तु स्त्री विषयक प्रेमभाव और कन्या-विषयक प्रेमभाव में जमीन-असमान का अंतर होता है! यद्यपि भाव दो प्रकार के और भिन्न भिन्न हैं, तथापि मन एक ही है!

बिन्दु २०।

ईसाई धर्म, ब्राह्मसमाज और पापवाद।

श्रीरामकृष्ण (ब्रह्मसमाजियों से):—सच बात है, कि बंधन के लिए मन ही कारण है और मोक्ष के लिए भी मन ही कारण है। मैं मुक्त पुरुष हूं, चाहे मैं जन-समाज में रहूं अथवा वन-समाज में; चाहे मैं संसार में रहूं अथवा संसार के बाहर; तौभी मुझे किसी प्रकार का बंधन नहीं है। मैं राजाधिराज का बालक हू, मैं ईश्वर का पुत्र हू। मुझे बांध कौन सकता है?

यदि किसी आदमी को साँप काटे और वह यह भावना करे कि मुझे विष की बाधा हुई ही नहीं तो उस पर विष का कोई परिणाम नहीं होगा। इसी प्रकार यदि मन में दृढ़तापूर्वक यह भावना की जाय कि मैं बद्ध नहीं हूं, मैं मुक्त ही हूं, तो मनुष्य यथार्थ में मुक्त ही हो जायगा।

एक समय की बात है कि एक ईसाई ने मुझे एक पुस्तक दी। मैंने कहा इसको पढ़ कर मुझे अर्थ बताओ। क्या कहूँ, उस पुस्तक में आरम्भ से अंत तक "पाप" ही "पाप" भरा था। (केशवबाबू की ओर) ब्रह्मसमाजियों को भी "पाप" के सिवाय और कुछ नहीं दीख पड़ता। यदि कोई मनुष्य यह कहता रहेगा कि "मैं बद्ध हूं, मैं बद्ध हूं," तो सच मानों कि, उसके भाग्य में बद्धता ही बनी रहेगी। इसी प्रकार जो अभागी मनुष्य रात दिन यह रटता रहेगा कि "मैं पापी हूं, मैं पापी हूं" तो इसमें संदेह नहीं कि वह पापी ही हो जायगा।

यदि कोई मनुष्य श्रद्धायुक्त अंतःकरण से ईश्वर का नाम लेगा तो उसके सब पाप नष्ट हो जायगे—निःसन्देह वह मुक्त हो जायगा। हरिनाम के विषय में ऐसी दृढ़ भावना होनी चाहिए "मैं ईश्वर का नामस्मरण करता हूं, अब मेरे पास पाप कैसे रह सकते हैं। पाप के लिए अब मेरे पास कोई स्थान नहीं है। अब मैं बद्धदशा में नहीं रह सकता"। कृष्णकिशोरबाबू एक पापभीरु हिन्दू और सदाचार निष्ठ ब्राह्मण हैं। एक समय वे वृन्दावन की यात्रा को गये थे। मंदिरों में दर्शन करते करते उन्हें प्यास लगी। तब वे एक कुआँ पर पानी पीने को गये। वहां एक आदमी खड़ा था। उससे उन्होंने कहा "बाबू, तू कौन जात है, मुझे थोड़ा पानी पिला दे," यह सुन कर उस आदमी ने कहा "महाराज, मैं नीच जाति

का चमार हूं।" इस पर कृष्णकिशोर ने कहा "कोई हर्ज नहीं, तू मुख से राम का नाम ले और मुझे पानी पिला।"

ईश्वर के नाम में ऐसी ही कुछ अद्भुत सामर्थ्य है। यदि उसके नाम का स्मरण किया जाय तो मनुष्य का शरीर और मन सच-मुच पवित्र हो जाता है।

तुम लोग पाप और नरक इत्यादि अमंगल भावनाओं से अपने मन को दूषित क्यों करते हो? एक वार अपने मुख से यह कहो कि "हे भगवन्, जो काम न करना चाहिए वह मैंने किया और जो काम करना चाहिए वह मैंने नहीं किया।" वस, इतना कह कर उसके पवित्र नाम की शक्ति में विश्वास रक्खो। तुम्हारे सब पाप भस्म हो जायँगे।

यह कहते ही कहते महाराज प्रेमोन्मत्त हो गये और हरि-नाम गाने लगे।

माता की प्रार्थना।

मैं अपनी माता की प्रार्थना करता हूं कि मुझे केवल भक्ति दे। हाथ में पुष्प लेकर मैं अपनी माता के चरणों पर अर्पण करता हूं और यह प्रार्थना करता हूं कि "हे माता, मेरे मन में शुद्ध और अव्यभिचारिणी भक्ति उत्पन्न कर। माता! मुझे न तो पुण्य चाहिए और न पाप। इन दोनों की मुझे कोई जरूरत नहीं—मैं इन दोनों को तेरे चरणों पर अर्पण करता हूं। मुझे सिर्फ भक्ति चाहिए, वही मुझे दे। 'यह ज्ञान है—यह अज्ञान है, इन दोनों बातों की मुझे जरूरत नहीं। मैं सिर्फ तेरी भक्ति का भूखा हूं! यह शुचित्व है और वह अशु-चित्व'—इन दोनों की कीमत मेरे लिए समान है—मैं न तो तेरे धर्म की परवाह करता और न अधर्म की। मैं इन सब बातों को तेरे आधीन किए देता हूं। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मेरे मन में, तेरे चरणों के विषय में, निर्मल प्रेम-भाव रहने दे—वस, यही मेरी प्रार्थना है।"

क्या संसार में रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति हो नहीं सकती? अवश्य हो सकती है। राजा जनक को 'राजर्षि' क्यों कहते हैं? इसीलिए न, कि उन्होंने सब राज-काज करके भी ईश्वर की प्राप्ति कर ली! मनुष्य संसार में रह कर संसार से अलिप्त हो सकता है। परन्तु इसमें संदेह नहीं, कि चुटकी बजाते ही राजा जनक की योग्यता किसी को नहीं आ सकती। इस बात को न भूलना चाहिए कि राजा जनक को अनेक वर्षों तक निर्जन स्थान में बैठ कर कठिन तप करना पड़ा था; इसलिए यह उचित है कि प्रत्येक मनुष्य कुछ समय तक अरण्य या निर्जन स्थान में रह कर पहले तपश्चर्या करे। यदि कोई मनुष्य संसार के सब झगड़ों को छोड़ कर सिर्फ तीन दिन ईश्वर का चिंतन करके उसके नाम पर प्रेम के आँसू बहावे, तो भी उसका काम हो जायगा। यही क्यों? यदि एक दिन भी इस प्रकार ईश्वर का चिंतन किया जाय तो अकल्पित लाभ होगा। संसारीजन अपनी स्त्री और बालबच्चों के लिए घड़ा भर आँसू बहा देंगे; परन्तु वे ईश्वर के प्रेम के लिए एक बूंद भी नहीं गिरने देना चाहते! कहिए, यह बात सच है न! मैं सच कहता हूं कि यदि संसारीजन भगवत्-प्राप्ति के लिए कभी कभी एकांतवास का स्वीकार किया करें तो बहुत लाभ हो!

ब्रह्मसमाज और राजा जनक।

यदि ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाला कोई साधक पुरुष सदा सांसारिक कार्य में निमग्न रहेगा, यदि वह सदा विषयों ही में निमग्न रहेगा, तो प्राथमिक अवस्था में उसका मन ईश्वर का ध्यान करने में स्थिर न हो सकेगा। सांसारिक विषयों का मोह ही अनेक प्रकार का विघ्न उत्पन्न करता है। देखिए, रास्ते पर जो वृक्ष लगाये जाते हैं उनकी क्या दशा होती है। जब तक वे छोटे रहते हैं तब तक अनेक प्रकार से उनकी रक्षा

करनी पड़ती है। यदि ऐसा न किया जाय तो गाय, बकरे इत्यादि उसे खा जाते हैं, इसलिए जब तक प्राथमिक अवस्था में रह कर अभ्यास करना हो तब तक साधक को, सांसारिक मोह के भय से, अवश्य अपनी रक्षा करनी चाहिए। जब भक्ति-रूप पौधा दृढ़तापूर्वक जम जायगा, जब उसकी जड़ें बहुत मजबूत हो जायँगी तब उसको किसी प्रकार का भय न रहेगा। ऐसे अनेक बड़े बड़े वृक्ष तुमने देखे होंगे कि जिनके नीचे मस्त हाथी बांधे जाते हैं, तोभी उन वृक्षों को कोई हानि नहीं पहुंचती।

संसारी मनुष्य का मन अनेक विचारों में फँसा रहता है। उसकी सब इन्द्रियाँ विषय सुख की प्राप्ति में निमग्न रहती हैं; इसलिए वे मन को ईश्वर का ध्यान करने नहीं देतीं, क्योंकि ऐसी अवस्था में मन प्राय इन्द्रियों के आधीन रहता है। संसारी मनुष्य का मन अपने परम पिता ईश्वर को भूल जाता है और 'कामिनी तथा कांचन' के चिंतन में रात दिन लगा रहता है। इस प्रकार विषयों का ध्यान करते करते उसकी सब इन्द्रियां विकृत हो जाती हैं; इसलिए यह अत्यंत आवश्यक बात है कि मन को विषयों के चिंतन से हटा कर ईश्वर के चिंतन में लगाने के लिए कुछ समय तक एकान्तवास किया जाय। जिस कमरे में कोई बीमार आदमी सोता हो, उसीमें यदि ऐसे पदार्थ रक्खे हों कि जिनको देख कर रोगी का मन ललचाया करे तो यह उसके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। जब तक वह बीमार है तब तक उसके सामने ऐसा कोई पदार्थ न होना चाहिए कि जो कुपथ्य करनेवाला हो। ऐसी अवस्था में उसको किसी दूसरे कमरे में रखना हितदायक होगा। यही बात पारमार्थिक अभ्यास करनेवाला साधक को भी लागू है।

सब से पहले विवेक ही का आश्रय करना चाहिए। इसके बाद वैराग्य का अभ्यास करना चाहिए। जब ये दोनों बातें सिद्ध हो जांय तब तुम मनमाना, संसारसागर में घूमते रहो,

तुम्हारी कोई हानि न होगी। परन्तु ध्यान में रक्खो कि इस संसार-समुद्र में कामक्रोधादि अनेक जलचर रहते हैं; इसलिए यदि तुम यहां निर्भयता से रहना चाहते हो तो वैराग्य का आश्रय कभी मत छोड़ो। वैराग्य का आश्रय करने से कामक्रोधादि शत्रुओं का कोई भय न रहेगा। सत्, असत् विचार को 'विवेक' कहते हैं। ईश्वर ही एक सत् अर्थात् नित्य वस्तु है; शेष सब कुछ असत् अर्थात् अनित्य है। इसी बोध को विवेक कहते हैं।

ईश्वर की आत्यंतिक भक्ति।

विवेक और वैराग्य के साथ एक और बात होनी चाहिए, अर्थात् ईश्वर के सम्बन्ध में आत्यंतिक अनुराग, प्रेम या भक्ति होनी चाहिए। वृंदावन की गोपियाँ इसी अनुराग में मस्त थीं। भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों में उनका प्रेम अत्यंत निर्मल था।

गोपियों के शुद्ध प्रेम का वर्णन करते करते महाराज गाने लगे, और उस प्रेमरस में इतने निमग्न हो गये कि उनकी आँखों से आँसू की धारा बहने लगी। उसी प्रेम के आवेश म उन्होंने केशवबाबू तथा अन्य लोगों से कहा, "तुम लोग ब्रह्मसमाजी हो; तुम मानते हो कि ईश्वर निराकार है। तुम लोग ईश्वर के अवतार नहीं मानते। उसकी लीलाओं पर तुम्हारा विश्वास नहीं है। अच्छा है, न मानो, कोई हर्ज नहीं; राधा और कृष्ण को तुम लोग मानो या न मानो; परन्तु इसमें संदेह नहीं कि श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए गोपियों को जो व्याकुलता हुई थी वह अवश्य अनुकरणीय है।

जब इस प्रकार की व्याकुलता—इस प्रकार की तड़फड़ाहट—रोम रोम में भिद जायगी तब भगवान् श्रीकृष्ण दूर नहीं हैं—वह तुम्हारे हृदय ही में प्रगट हो जायँगे।

खुदीराम चट्टोपाध्याय के तीन पुत्र और दो कन्याएं थीं। गदाधर अपने पिता के सब से छोटे पुत्र थे। गदाधर के ज्येष्ठ भ्राता रामकुमारजी उस ग्राम की पाठशाला Village school में नौकर थे। ज्यों ही उनके पिता खुदीरामजी का देहावसान हुआ, त्यों ही वे अपने भ्राता गदाधर सहित कलकत्ते गए और उन्होंने वहीं पर निज की पाठशाला स्थापित की। उस समय गदाधर की आयु १२, १३ वर्ष की थी, अतएव उनके भ्राता ने उन्हें विद्याध्ययन करने का अनुरोध किया। पर, रामकृष्ण ने उत्तर दिया कि, ' मुझे व्यावहारिक विद्या के पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। मैं इन जड़ पदार्थों की अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ वस्तु (देव) जिस विद्या की सहायता से प्राप्त होगी उसी आत्मविद्या का अभ्यास करूंगा।"

सन १८५४ ई० में जानबाजार की रानी रासमणि देवीजी ने श्रीगंगाजी के दक्षिणेश्वर में श्रीकाली माता का एक मंदिर बनवाया और रामकृष्ण के ज्येष्ठ बंधु—रामकुमारजी—उस मंदिर के पुजारी बनाए गए। रानी रासमणि शूद्रा थीं, अतएव उच्च वर्णीय लोग मंदिर में भोजन करने के लिये नहीं आयेंगे। इस डर से रानी ने देवालय का सारा प्रबन्ध अपने गुरू को सौंप दिया। मूर्ति की प्राणप्रतिष्ठा करने के दिन बड़ा भारी भोज्य हुआ। उस समय गदाधर ने अपने भ्राता को शूद्रा रानी की नौकरी करने के उपलक्ष्य में बहुत कुछ खरीखोटी सुनाई। उस दिन श्रीकालीमाता के मंदिर में १५, २० हज़ार मनुष्यों ने भोजन किया। पर रामकृष्ण ने वहां पर भोजन नहीं किया। वे उस दिन भूखे ही रह कर दूसरे दिन कलकत्ते चले गए। पर भ्रातृस्नेह से आकर्षित होकर वे पुनः लौटे और उसी देवालय में रहने लगे। पहिले कुछ दिनों तक तो उन्होंने गंगातट को ही अपना निवासस्थान बनाया। परंतु जब उनके बन्धु अस्वस्थ हो गए, तब उन्हें वेवश उस मंदिर के

बिन्दु २१।

गुरु और शिष्यः परमेश्वर ही सद्गुरु है।

केशवबाबू की नौका शीघ्र गति से कलकत्ते की ओर चली जा रही थी। हवड़ा का पुल पीछे रह गया। सरकारी बगीचा समीप आया। नौका में बैठनेवालों को यह नहीं मालूम हुआ कि हम कितने दूर चले आये, क्योंकि वे लोग रामकृष्ण-वाक्सुधा के बिन्दु-प्राशन करने में तल्लीन हो रहे थे।

इसके बाद केशवबाबू ने महाराज को कुछ फलाहार दिया। सब लोगों ने आनंद से मिल कर फलाहार किया। उस समय सब के मन में यही प्रतीत होता था कि मानो हम किसी मंगलोत्सव में शामिल हैं! आनंद और प्रेमरस की लूट हो रही है।

इतने में महाराज के ध्यान में यह बात आ गई कि विजय और केशवबाबू हिलमिल कर तथा प्रेमभाव से वर्ताव नहीं करते हैं। इन दोनों की मानसिक अवस्था और आचरण में जब संकोच देख पड़ा, तब आपने सोचा कि इनके मन का मैल दूर कर देना चाहिए। यह बात साधु पुरुषों के लिए स्वाभाविक ही है।

महाराज (केशवबाबू से):—देखिए, यहां यह विजय खड़ा है। जान पड़ता है कि तुम दोनों के मन आपस में शुद्ध नहीं हैं! कुछ तो भी झगड़ा-बखेड़ा हो गया है। इस प्रकार मन मैल कर लेना अच्छी बात नहीं है। पुरानी बात है कि, शिव और राम में भी ऐसा ही झगड़ा हुआ था। (सब लोग हँसते हैं।) शिव, राम के गुरू हैं। यद्यपि दोनों की लड़ाई हुई, तथापि अंत में दोनों मिल गये! यद्यपि शिव और राम में इस तरह मेल हो गया, तथापि भूतप्रेतादि शिव के अनुचरों में तथा राम के वानरों में झगड़ा-बखेड़ा होता ही रहा! तुम्हारे लिए

कोई हर्ज नहीं—तुम अभी मेल कर लोगे, परन्तु तुम्हारे अनुयाइयों की क्या दशा होगी? हाँ, सच है, मैं समझता हूं कि ये लोग तुम्हारे ही आचरण का अनुकरण करेंगे। (सब हँसते हैं।)

क्या यह विजय आपका नहीं है? क्या आप दोनों एक नहीं हो? मतभेद तो इस दुनियां में सदा ही बना रहेगा। दस-बीस बर्तन यदि एकत्र रक्खे जायँ तो वे आपस में टकराया ही करेंगे। बाप—बेटों में झगड़े हो जाते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। प्राचीन समय से यही बात होती चली आई है। मौका आ जाने पर लव और कुश को अपने पिता और चाचा (राम और लक्ष्मण) आदि से भी युद्ध करना ही पड़ा! इसी प्रकार आपका एक स्वतंत्र 'समाज' है, और विजय भी चाहता है कि अपना एक अलग 'समाज' हो। इसमें बुराई क्या है? (लोग हँसते हैं।)

ईश्वर की सृष्टि में मतभेद के लिए बहुत स्थान हैं, इसका कुछ काम है—उपयोग भी है। सब लोग जानते हैं कि प्रत्यक्ष भगवान् ही ने, श्रीकृष्णरूप धारण करके, वृन्दावन में अनेक लीलाएँ कीं। अब प्रश्न यह है, कि यदि उन लीलाओं का हेतु यही था कि अव्यभिचारी भक्ति—प्रेम लक्षणा भक्ति—की महिमा प्रगट की जाय, तो जटिल (ढोंगी) और कुटिल (वक्र) जनों ने गोपालकृष्ण के साथ विरोध क्यों किया? मैं समझता हूं, कि यदि उन जटिल जनों ने ऐसा विरोध किया न होता, तो उन लीलाओं की प्रेम-महिमा इतनी कदापि न बढ़ती! (हास्य)।

किया करते। यही उचित भी है। यद्यपि इस प्रकार दोनों में मतभेद था, तथापि गुरू के मन में अपने शिष्य के विषय में 'अपनत्व' का भाव नष्ट नहीं हो गया था। तात्पर्य यह है कि कितना ही मतभेद क्यों न हो; परन्तु उस मतभेद का पर्यवसान द्वेष या वैर में न होना चाहिए। मतभेद से 'अपनत्व' नहीं नष्ट हो जाना चाहिए।

यह व्याख्यान सुनते ही सब लोग शांत और आनंदित हो गये। श्रीरामकृष्ण ने केशवबाबू से फिर कहा "इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि तुम्हारे शिष्य तुमको छोड़ कर अलग हो जाते हैं। यह दोष तुम्हारा ही है, क्योंकि शिष्यवर्ग में शामिल करने के पहले तुम किसी मनुष्य के स्वभाव और गुण की पूरी पूरी जाँच नहीं करते। बाहर से देखने में प्रायः सब लोग समान ही देख पड़ते हैं। परन्तु उन सब लोगों की प्रकृति समान कभी नहीं होती। कुछ लोगों में सतोगुण प्रधान होता है, कुछ लोगों में रजोगुण प्रधान होता है और कुछ लोग तो केवल तमोगुणी ही होते हैं। इन तीनों गुणों के न्यूनाधिक मिश्रण से और भी अनेक प्रकार के लोग देख पड़ते हैं। इन भिन्न भिन्न स्वभाव के लोगों की ठीक ठीक जांच होनी चाहिए।"

रामकृष्ण और माता का सम्बंध।

अब यदि मेरे विषय में जानना चाहो तो मेरी माता (काली) ने मेरे मन की रचना कुछ और ही प्रकार की बनाई है। मैं छोटे बालकों के समान खाता हूं, पीता हूं और आनंद में रहता हूं। इसके अतिरिक्त जो कुछ हुआ करता है वह सब मेरी माता जाने। मुझे किसी बात की चिंता नहीं है। गुरु, कर्ता और बाबा—इन तीन शब्दों से मैं बहुत डरता हूं—इन शब्दों के सुनते ही मेरा जी कांपने लगता है। मैं कर्ता नहीं हूं। कर्तृत्व माता की ओर है। मैं उसके हाथ का एक छोटा

सा खिलौना हूं। इस संसार में मुझे 'बाबा' कहलाने की इच्छा नहीं है। परमेश्वर किसी एक ही—अपने ही—कुटुंब में है—अन्यत्र नहीं है—इस प्रकार की संकुचित भावना के बदले यह भावना अंतःकरण में रखना चाहिए कि 'सारे ब्रह्माण्ड में एक ही परमेश्वर अनेक भूतों के रूप से भरा है' और इसी सर्वव्यापक भावना के अनुसार परमेश्वर का स्मरण, चिंतन और आराधना करना चाहिए। यही बात मुझे पसंद है। परमेश्वर ही अपना सच्चा 'गुरु' है।

सच्चा गुरु यही एक परमेश्वर है जो कि सच्चिदानंदरूप है। यही हमारा सच्चा मार्गदर्शक है। मैं सदा बालकभाव से रहना पसन्द करता हूं। बालक की सब दारमदार माता पर होती है। वह स्वयं केवल असमर्थ होता है। यदि माता कहीं दूर चली जाय तो बालक बेचैन हो जाता है। यही दशा मेरी है। मुझे अपनी माता—परमेश्वर—के सिवाय और किसी का सहारा नहीं है।

परमेश्वर ही सद्गुरु है।

इस संसार में गुरु अनेक हैं—गुरु की कमी नहीं है। मनुष्य गुरु बहुतेरे हैं। गुरु की पैंठ करना सब लोग जानते हैं। गुरु-पद की अभिलाषा सब लोग किया करते हैं; परन्तु शिष्य होना कोई नहीं चाहता! यथार्थ में शिष्यों ही की सब से अधिक आवश्यकता है।

लोकशिक्षा का कार्य—लोकोपदेश का कार्य—कोई सहज काम नहीं है। वह बहुत महत्त्व का और कठिन काम है। जिस भाग्यवान् मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार हुआ होगा—जिसको भगवान् का आदेश हुआ होगा—वही आदिष्ट गुरु हो सकता है। नारद और शुकदेव आदि महात्माओं को आदेश हुआ था; शंकराचार्य को भी आदेश हुआ था। यदि वह आदेश

आदिष्ट गुरु।

प्राप्त न होगा और तुम अपने ही मन से, गुरू या उपदेशक का काम करने लगोगे, तो तुम्हारी बात कौन सुनेगा? कलकत्ते के आदमियों का हाल तो आप को मालुम ही है। उन लोगों को हमेशा नया जोश चाहिए। उनकी दशा दूध के समान है। जब दूध गरम करने के लिए आग पर रक्खा जाता है और आग जलने लगती है तब दूध उफनने लगता है; ईन्धन बाहर निकाल डालो और आगको कुछ ठंडा कर दो तो दूध बरतन के भीतर घुस जाता है। यही हालत कलकत्तेवालों की है। उन्हें हमेशा कुछ न कुछ उत्तेजक बातें मिलती ही रहनी चाहिए–हमेशा कुछ नई बातें चाहिए। जब कोई ' ताज़े तार की खबर ' नहीं मिलती तो उनके हृदय के ' तार ' बेसुर हो जाते हैं!

जब पानी पीने की इच्छा होती है तब वे कुँआ खोदने का यत्न करते हैं। परंतु ज्योंही कुछ कठिन और पथरीली जमीन देख पड़ी त्योंही काम बंद कर दिया जाता है। दूसरी जगह कुंआ खोदने का काम शुरू किया जाता है। यदि यहां भी जमीन अच्छी न देख पड़ी तो उसे छोड़ कर तीसरी जगह ढूंढने लगते हैं! इस तरह उनकी सारी आयु कुंआ खोदने ही में बीत जाती है—परन्तु पानी का एक भी बूंद उन्हें नहीं मिलता। ऐसे लोगों के मत की क्या कीमत की जाय!

आदेश का ज़ोर

अच्छा, कुछ लोग ऐसे भी होते हैं कि जब उनके मन में कोई विशेष विचार आता है तब वे यही मान लेते हैं कि यह ईश्वर का आदेश है परंतु यह उनका मिथ्या भ्रम है। आदेशयुक्त-स्फूर्ति—ईश्वर की प्रेरणाशक्ति–कोई रास्ते पर की चीज़ नहीं है! सच्चा आदेश तभी होता है जब कि ईश्वरका साक्षात्कार होता है—जब ईश्वर के साथ प्रत्यक्ष बातचीत करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। ओह! आदेश प्रत्यक्ष भगवान का शब्द है उसके ज़ोर—उसकी शक्ति–का वर्णन कौन कर सकता है!

लगे तो समाजमें उनकी हँसी ही होगी । स्वयं अपने पास तो ज्ञान का कोई अधिकार नहीं और चले दूसरों को सिखाने ! अंधा आदमी दूसरे अंधे को रास्ता कैसे दिखा सकता है ! इससे तो यही भला है कि किसी प्रकार का उपदेश न किया जाय । अनधिकारी उपदेशकों और शिक्षकों की शिक्षा से लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है। बुरी दवाई लेने से कुछ दवाई न लेना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि विपरीत परिणाम तो न होगा ! जब तक ईश्वर की कृपा—ईश्वर की प्राप्ति—नहीं होती तब तक अंतर्दृष्टि—ज्ञानदृष्टि—तीव्र नहीं होती । जब ज्ञानदृष्टि खुल जाती है तभी किसी रोग का निदान किया जा सकता है—तभी उस रोग को हटाने का उपाय बताया जा सकता है-और तभी उस उपाय से लाभ भी होता है।

सारांश यह है कि पहले 'आदेश' होना चाहिए, फिर 'उपदेश' करना चाहिए। विना आदेश के जब उपदेश देने का यत्न किया जाता है तब मन में यह वृथाभिमान उत्पन्न होता कि 'मैं कोई उपदेशक हूं'—' मैं गुरू हूं और वह शिष्य है। अहंकार का जन्म केवल अज्ञान से होता है। 'मैं कर्ता हूं' यह भावना* केवल अज्ञान ही से खडी होती है ।ज्योंही मनुष्य इस भावना के फंदे में पड़ जाता है त्योंही वह दुःख और अशांति का अनुभव करने लगता है। करनेवाला और करानेवाला, ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं है-वही सब कुछ करता है और कराता है । मैं कौन हूं ? मैं क्या कर सकता हूं ? -जब इस प्रकार का बोध अंतःकरण में जागृत रहता है और जब इसी बोध के अनुसार मनुष्य के सब कर्म होते रहते हैं तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

* "अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते—" गीता ।

उसके सामने पर्वत भी छार छार हो जायगा। यदि किसी व्याख्यान में इस आदेश का जोर न होगा तो उसका कोई प्रभाव न होगा-उससे कोई लाभ न होगा। स्वयं व्याख्यान ही में कौन सी शक्ति होती है? लोग सुनेंगे, ताली बजावेंगे और धन्यवाद देंगे; परन्तु सब बातों का फल क्या होता है? लोग, अपनी जगह से उठते ही, व्याख्यान की सब बातें भूल जाते हैं! इधर एक कान से सुनते हैं, उधर दूसरे कान से वही हवा निकल जाती है! जब व्याख्यान के विचारों की यह दशा होती है तो आचार की कौन कहे! आचार तो अभी बहुत दूर है!

अनादिष्ट गुरु का निषेध।

कमारपूरकर एक गांव है। वहां हालदारपूरकर नाम का एक तालाब है। हर दिन सबेरे लोग वहीं दिशा जाया करते थे। तालाब का पानी बिगड़ गया था। इससे बहुतेरे लोग नाराज थे। जो लोग तालाब पर स्नान संध्या करने जाया करते, वे क्रोध के मारे गाली-गलोज किया करते थे। परन्तु उनकी कौन सुनता था? यही हाल रोज बना रहता था। जगह कभी साफ रहने नहीं पाती थी। तब हैरान होकर कुछ लोगों ने सरकार में अर्जी दी। बस, तुरन्त ही काम हो गया। सरकार का एक सिपाही आया। उसने वहां एक इश्तहार लगा दिया "तालाब का पानी कोई मैला न करे।" इन शब्दों का प्रभाव देखिये कि, दूसरे दिन से वहां का सब मैला हट गया। (सब लोग हँस पड़े)।

इसका तात्पर्य क्या है? तात्पर्य यही है कि, जिसको लोकशिक्षा का काम करना है-उसकी कमर में 'आदेश' की 'चपरास' लटकती रहनी चाहिए। परवाना चाहिए-आज्ञापत्र चाहिए-अधिकार का कोई चिन्ह चाहिए। यदि इस प्रकार का कोई अधिकार न हो और मनुष्य उपदेशक का काम करते

लगे तो समाजमें उनकी हँसी ही होगी। स्वयं अपने पास तो ज्ञान का कोई अधिकार नहीं और चले दूसरों को सिखाने! अंधा आदमी दूसरे अंधे को रास्ता कैसे दिखा सकता है! इससे तो यही भला है कि किसी प्रकार का उपदेश न किया जाय। अनधिकारी उपदेशकों और शिक्षकों की शिक्षा से लाभ के बदले हानि ही अधिक होती है। बुरी दवाई लेने से कुछ दवाई न लेना ही अधिक श्रेयस्कर है क्योंकि विपरीत परिणाम तो न होगा! जब तक ईश्वर की कृपा—ईश्वर की प्राप्ति—नहीं होती तब तक अंतर्दृष्टि—ज्ञानदृष्टि—तीव्र नहीं होती। जब ज्ञानदृष्टि खुल जाती है तभी किसी रोग का निदान किया जा सकता है—तभी उस रोग को हटाने का उपाय बताया जा सकता है-और तभी उस उपाय से लाभ भी होता है।

सारांश यह है कि पहले 'आदेश' होना चाहिए, फिर 'उपदेश' करना चाहिए। बिना आदेश के जब उपदेश देने का यत्न किया जाता है तब मन में यह वृथाभिमान उत्पन्न होता कि 'मैं कोई उपदेशक हूं'—' मैं गुरु हूं और वह शिष्य है। अहंकार का जन्म केवल अज्ञान से होता है। 'मैं कर्ता हूं' यह भावना* केवल अज्ञान ही से खड़ी होती है! ज्योंही मनुष्य इस भावना के फंदे में पड़ जाता है त्योंही वह दुःख और अशांति का अनुभव करने लगता है। करनेवाला और करानेवाला, ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं है-वही सब कुछ करता है और कराता है। मैं कौन हूं? मैं क्या कर सकता हूं? -जब इस प्रकार का बोध अंतःकरण में जागृत रहता है और जब इसी बोध के अनुसार मनुष्य के सब कर्म होते रहते हैं तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

---

* "अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते—" गीता।

बिन्दु २२।

कर्म-विचारः—कर्म साध्य हैं या साधन ?

श्रीरामकृष्ण—(केशवादि भक्तों को):—आपका कथन है कि 'हम, लोगों का कल्याण करते हैं।' परन्तु जिस जगत् के कल्याण का बीड़ा जो तुमने उठाया है वह क्या एक छोटी सी टोकरी में भरा है ? अच्छा, यह तो कहो कि जगत का कल्याण करनेवाले तुम लोग कौन हो ? भाईयो, पहले अनेक साधनों के द्वारा साक्षात्कार का अनुभव करो। पहले उसीकी प्राप्ति कर लो। जब यह शक्ति प्राप्त हो जायगी तब लोकहित के लिये कमर कसो। तबतक कुछ न करो—केवल साधन ही करते रहो

एक ब्राह्म भक्तः—महाराज, क्या आपके कहने का यह मतलब है कि जब तक साक्षात्कार का लाभ न हुआ हो तब तक हम लोगों को सब काम छोड़ देना चाहिये ?

श्रीरामकृष्णः—नहीं; कर्मत्याग की क्या जरूरत है ? वह कैसे होगा ? ईश्वर का चिंतन, स्मरण और कीर्तन इत्यादि नित्य-कर्म सब करते रहना चाहिये।

ब्राह्मभक्तः—तो क्या आपका यह उद्देश्य है कि, हम लोग इस संसार के सब काम छोड़ दें—विषय कर्मों का त्याग कर दें ?

श्रीरामकृष्णः—नहीं यह भी ठीक नहीं है; जिन कामों के किये बिना जीवन का निर्वाह नहीं हो सकता—जो काम अत्यन्त आवश्यक हैं अर्थात जो मनुष्य के स्वाभाविक कर्तव्य हैं-उन्हें करना ही चाहिये। और प्रत्येक काम करते समय परमेश्वरसे यह प्रार्थना करनी चाहिये कि "हे भगवन्, हमें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम अपने सब कर्तव्यकर्म निष्काम-भाव से कर सकें।"

सारे कारोबार अपने पर लेने पड़े। थोड़े दिनों तक उनके द्वितीय बन्धु रामेश्वरजी को भी पूजादिक प्रबन्ध का भार सौंपा गया था।

श्रीरामकृष्ण ऐसे मनोभाव से देवी की पूजा करते थे, जिसे देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। जब लोग उन्हें पूजा में बैठे हुए देखते तो उन्हें ऐसा आभास होता था, मानों देवी प्रत्यक्ष रूप से ही उन्हें दर्शन दे रही है। वे कभी कभी स्वयं ही माला गूँथते थे। देवी का भजन करते समय वे बिलकुल तन्मय होकर इस प्रकार प्रार्थना करते, "हे माताजी! मुझपर दया करो और दर्शन दो! मैं धन, प्रतिष्ठादिक कुछ भी नहीं चाहता। मुझे तो केवल तुम्हारे दर्शन की ही अत्यावश्यकता है!"

श्रीरामकृष्ण जिसको विश्वासपात्र समझते थे, उस पर उनका पूर्ण विश्वास था। काली देवी की मूर्ति को वे अपनी माता ही नहीं वरन जगन्माता समझते थे। वे उस मूर्ति को प्राणप्रतिष्ठित मूर्ति समझते थे। वह मूर्ति उनकी समर्पित नैवेद्य का स्वीकार करती है, इसका भी उन्हें आभास होता था। पूजा समाप्ति के अनन्तर वे काली माता की मूर्ति के सन्मुख प्रार्थना कर अपनी माता के ही सदृश बड़े प्रेम से बात-चीत भी करते थे। पर, इतना करने पर भी जब उन्हें माता के दर्शन नहीं होते तो वे बड़े व्याकुल होते।

बहुत से लोग तो उन्हें पागल कहते थे और बहुत से लोगों का यह मत था कि उनका पगलापन उनकी माता के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा का ही चिन्ह है। किसीने उनकी माता तथा भाई को यह भी सुझा दिया कि उनका विवाह कर देने से पगलापन दूर हो जायगा। तब तो उनकी माता ने उन्हें विवाहरूपी बंधनों से बंधित करने का निश्चय कर लिया और उन्हें कमरपूकर ले जाकर रामचन्द्र मुखोपाध्याय का पुत्री, शारदा देवी, से उनका विवाह कर दिया। उस समय

इस प्रकार प्रार्थना करते समय अंतःकरण सद्गदित हो जाना चाहिये, आंखों से प्रेमाश्रु बहने लगना चाहिये और बुद्धि सात्विक भाव में स्थिर हो जानी चाहिये। प्रार्थना करते समय यह भी कहना चाहिये कि "हे प्रभो, ऐसा कीजिये कि हमारे हाथ से विषय-कर्म दिन दिन कम होते जांय क्योंकि जितना जितना कर्म का अधिक व्याप होगा उतना ही तुम्हारे चरणों की ओर से मेरा ध्यान हटता चला आवेगा। भूल करना तो मनुष्य का स्वभाव ही है। मैं निष्काम भाव से कर्म करने का, अपनी ओर से बहुत प्रयत्न करता हूं; परन्तु न जाने क्यों भूल हो जाती है। कार्य हो जाने पर मालूम होता है कि वह सकाम था—सहेतुक था। दानधर्म किये जाते हैं, सदावर्त खोले जाते हैं और बड़े बड़े परोपकार के काम किये जाते हैं; परन्तु आश्चर्य यह है कि इन सब कामों में नाम कमाने की इच्छा लोक मान्यता की इच्छा, गुप्त रीति से बनी ही रहती है। यह इच्छा न जाने कब, कैसे और क्यों आ जाती है?"

एक बार शम्भू मलिक ने मुझसे कहा था कि "रुग्णालय, दवा-पाठशाला, तालाब और कुंआ इत्यादि अनेक लोकोपयोगी काम मुझे करने हैं।" इस पर मैंने कहा "यह सब ठीक है; परन्तु लोक-कल्याण के काम करते समय, तुम्हारी बुद्धि में निष्काम-भाव होना चाहिये। इसके सिवाय यह भी नियम होना चाहिये कि जो काम अत्यंत आवश्यक हों, जो काम सामने उपस्थित हो जांय, पहिले उन्हींको हाथ में लेना चाहिये। इस बात की खोज करते बैठना चाहिये कि अब कौन सा काम किया जाय। काम करने की चिंता अपने मन में न लगा लेना चाहिये नहीं तो कार्य का विस्तार बहुत बढ़ जावेगा, वह तुम्हारी शक्ति के बाहर हो जावेगा, और तुम्हारा मन रात-दिन उसी काम के चिन्तन में फंसा रहेगा। तब तुम ईश्वर को

साध्य अथवा उद्देश।

रचना का और व्यवस्था का वर्णन कैसे हो सकता है ? रास्ता खूब चौड़ा था और धूल जम जाने के वास्ते पानी छिड़का गया था, रास्ते के दोनों तरफ सुन्दर और भव्य इमारतें थीं ! इसके सिवाय चांदनी रात भी थी ? वे इमारतें राजगृह के सरीखी सुन्दर थीं और चंद्र के शीतल किरणों के पड़ने से स्वस्थ विश्रांति ले रही हैं, ऐसा देख पड़ता था। हर एक घर के दरवाजे के पास बिजली का दीपक था। और घर का सब अन्तर्भाग दीपक के प्रकाश में प्रकाशित था; हारमोनियम के सुर में सुर मिला कर श्राव्य स्त्रियों के गाने और आलापने की ध्वनि कान पर पड़ने से मन को बहुत आनन्द होता था।

जिस समय गाड़ी ऐसे रमणीय राजमार्ग से चली जा रही थी उस समय महाराज आत्मानन्द में निमग्न थे। कुछ देर के बाद आपने कहा मुझे प्यास लगी है, क्या किया जाय ? नन्दलाल ने इण्डिया क्लब के सामने गाड़ी खड़ी की। पानी लाने के लिये वह अटारी पर गया। वह कांच के ग्लास में पानी लाया। महाराज ने हंस कर प्रश्न किया, यह ग्लास अच्छा साफ धोया है ? नन्दलाल ने कहा, हां। तब महाराज ने पानी पिया।

गाड़ी फिर चलने लगी। महाराज बालक-वृत्ति से गाड़ी के बाहर देख रहे थे। रास्ते पर आदमी, जानवर, गाड़ी और घोड़े इत्यादि देख कर उन्हें बहुत आनंद होता था।

कलकत्ते के कोलूटोला में नन्दलाल उतर गया। इसके बाद गाड़ी सुरेशमित्र के घर के सामने खड़ी हुई। सुरेश, महाराज का बड़ा भक्त था; परन्तु उस समय वह घर पर न था। उसने एक नया बग़ीचा मोल लिया था उसी ओर वह चला गया था। घर के आदमियों ने अतिथियों के लिये नीचे का एक कमरा खाली कर दिया।

इतने में एक कठिनाई आ पड़ी। कोचवान् को गाड़ी का किराया देना था। वह कौन दे ? यदि सुरेश घर में होता तो

वह अवश्य देता। महाराज ने एक शिष्य से कहा "घर में स्त्रियों से भाड़े के लिये पैसे मांगलाओ। क्या वे नहीं जानतीं कि इस के मालिक हमारे यहां आया करते हैं" (सब लोग हंसते हैं)

नरेन्द्र (विवेकानंद) का घर समीप ही था। महाराजने उसको बुला भेजा। इतने में घर के लोगों ने महाराज को अटारी पर ले जाकर अच्छे कमरे में बैठाला, वहां एक दरी और

विवेकानंद।

तकिया वगैरा बैठने का सामान सब तैयार था। दीवाल पर एक सुन्दर तस्वीर लटक रही थी। सुरेश ने उसे इस उद्देश्य से बनवाया था कि उसको देखते ही सब धर्मों का एक ही कारण तुरन्त ध्यान में आजाय। इस चित्र में यह भावार्थ दृश्य रूप से प्रगट किया गया था कि श्रीरामकृष्ण केशवबाबू को समझा रहे हैं कि "हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, इत्यादि सब धर्मों और वैष्णव, शाक्त, शैव इत्यादि सब धर्म-पंथों का समन्वय कैसा होता है और अन्त में ये सब भिन्न भिन्न धर्म तथा भिन्न भिन्न पंथ मनुष्य को एक परमेश्वर ही की ओर कैसे ले जाते हैं।"

महाराज हंसते २ बातें कर रहे थे। इतने में नरेन्द्र भी वहां आ पहुंचा। इससे महाराज का आनन्द और भी बढ़ गया। महाराज ने कहा "आज हम लोग केशवबाबू के साथ नौकाविहार करने गये थे। बहुत आनंद हुआ। विजय भी था। और सब लोग थे। बहुतेरी बातें हुईं। विषय भी बहुत अच्छा था। एम को ओर उंगली दिखा कर कहा इससे पूछो सच है या नहीं।" एम ने कहा हां महाराज।

(रात बहुत हो गई थी। तौभी सुरेश नहीं आया) साढ़े दस बज गये। महाराज दक्षिणेश्वरकी ओर जाने के लिए तैयार हुए। अब अधिक समय तक वहां बैठे रहने की उनकी इच्छा न थी।

दरवाज़े पर गाड़ी लाई गई। महाराज गाड़ी में जा बैठे। नरेन्द्र और एम ने महाराज को प्रणाम किया और वे दोनों अपने अपने घर चले गये।

(श्रीरामकृष्ण, केशवचन्द्रसेन की 'कमलकुटी' नामक घर में उनसे भेंट करने जाते हैं)

बिन्दु २४।

शक्ति और उसके स्वरूप।

" पश्यति तव पन्थानम्। "

जयदेव।

ता० २८ नवम्बर सन १८८४ के दिन, दो बजने के बाद, एक तरुण गृहस्थ 'कमल कुटी' के सामने, रास्ते पर, इधर-उधर टहल रहा है। रास्ता, 'कुटी' के पास ही, उत्तर-दक्षिण की ओर गया था। उस गृहस्थ की ओर दृष्टि डालने से ऐसा मालूम होता है कि वह आनन्दपूर्वक किसीकी मार्ग-प्रतीक्षा कर रहा है।

'कमलकुटी' के उत्तर की ओर 'मंगलवाड़ी' नामक स्थान में केशवबाबू की समाज के अनेक ब्रह्मभक्त रहते हैं। केशवबाबू 'कमलकुटी' में रहते हैं। वे इस समय इतने बीमार हैं कि उनके जीने का किसी को भरोसा नहीं है।

रामकृष्ण का केशवबाबू पर बहुत प्रेम है; इसलिये आज वे केशवबाबू से भेंट लेने के लिये आनेवाले थे। दक्षिणेश्वर से चल दिये। रास्ते पर, बड़ी आतुरता के साथ, वह गृहस्थ —उनका

एक शिष्य—उन्हींकी मार्ग प्रतीक्षा करते घूम रहा था। उनके दर्शनों के लिये उसकी उत्कंठा लग रही थी। एक के बाद एक गाड़ी आती है। कोई गाड़ी आई, कि वह शीघ्रता से उसे देखने के लिये दौड़ा। उसके देखने का कारण यही था कि शायद इसी गाड़ी में महाराज आये हों। परंतु प्रत्येक बार उसकी आशा टूट जाती थी।

दुपहर के समय वह गाड़ियों के आने-जाने की शोभा देख रहा था। रास्ते के सामने ही विक्टोरिया कालेज बना है। कुछ देर वह कालेज की ओर देखता रहा। उस कालेज में ब्रह्मसमाजियों की स्त्रियां तथा लड़कियां पढ़ने आती हैं। कालेज के उत्तर दिशा में एक बाग बहुत रमणीय, मनोहर और व्यवस्थित है। उस बाग में, बीचो-बीच, एक खूबसूरत मकान है। उसमें कोई अंग्रेज रहता है। वह गृहस्थ रास्ते पर से उस घर के सब भागों की ओर भली-भांति देख सकता था।

आज इस घर में आदमियों की भीड़ बहुत देख पड़ती है। उन लोगों के मुखों पर उदासी के चिन्ह प्रकट होते हैं जिनको देखने पर ऐसा मालूम होता है कि यहां पर कोई आज शोक-समाचार—बुरा मामला—है। इस प्रसंग को भी वह गृहस्थ देख रहा था। थोड़ी ही देर में वहां पर एक प्रेत वाहक (मुर्दा ले जानेवाली) गाड़ी आई, कोचवान तथा अन्य नौकर चाकरों की काली पोशाक थी। उनके उस शोक-वेष पर से ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है कि वहां पर किसीकी मृत्यु होगई है। कोई जीवात्मा इस मृण्मय शरीर को छोड़ कर चला गया है, इस मर्त्य-धाम को छोड़ कर कोई आत्मा चली गई है! कोई आत्मा इस लोक में आई और इस लोक को छोड़ कर पुनः चली गई!

"परन्तु कहां गई?' यह प्रश्न उस गृहस्थ के, जोकि उस रास्ते पर टहल रहा था, मन में आया और वह खड़ा होकर

वेचारने लगा कि, ' जीवात्मा संसार को छोड़ कर कहां जाता है ? ' वह अव्यक्त से आता है और पुनः अव्यक्त में ही नष्ट हो जाता है ! "

उत्तर दिशा से फिर कोई गाड़ी आती हुई देख पड़ी। क्या महाराज आये, यह देखने के लिये उसने फिर गाड़ी की ओर दृष्टि फेरी; परन्तु फिर भी निराशा हुई।

सन्ध्या समय के पांच बजनेवाले थे कि महाराज की गाड़ी आकर खड़ी हुई। रुद्र तथा अन्य एक दो शिष्य साथ ही में थे, राखाल और एम भी साथ ही थे।

केशवबाबू के लोगों ने आगे बढ कर महाराज का स्वागत किया और वे उनको ऊपर ले गये। दीवानखाने के दक्षिण ओर एक तख़्त पर महाराज बैठ गये।

बहुत देर होने के कारण, केशवबाबू को देखने के लिये, महाराज एकदम अधीर हो गये, केशवबाबू अन्दर कोठरी में सो रहे थे। वे बिलकुल अधीर हो गये हैं ऐसा देखकर केशवबाबू के शिष्यने कहा कि, उनकी अभी आंख लगी है. अतएव थोड़ी देर के लिये धैर्य धारण कीजिये, अभी वे बाहर आकर आपके दर्शन करेंगे। ' केशवबाबू की दशा को विचार कर शिष्य मण्डली ने तो धैर्य्य धारण किया, परन्तु, केशवबाबू को देखने के लिये, महाराज की आतुरता उत्तरोत्तर बढ रही थी। प्रसन्न, अमृत इत्यादि बाबू के शिष्यों के नजदीक, बात चीत करने लगे।

श्रीरामकृष्ण (केशवबाबू के शिष्यों से).—देखो, उनको बाहर आने की कोई आवश्यकता नहीं, हमीं अन्दर जाकर उनको देख लेंगे।

प्रसन्न (नम्रता से):—महाराज, एक क्षण धैर्य धरो; वे अभी बाहर आवेंगे।

श्रीरामकृष्णः—क्या कहूं, तुम बिना कारण बीच ही में रो रहे हो, देखो! मेरे मन में क्या होता है, वह मुझे ही मालूम मेरे मन में यह आता है कि, एक समय उनको नेत्रभर देखूं

श्रीरामकृष्ण थोड़ी देर चुप रहे, इसलिये प्रसन्न, केशवबाबू ही के विषय में, बात चीत करने लगे।

प्रसन्नः—महाराज, आज कल उनकी चित्तवृत्ति में कुछ ये सा फरक पड गया है। सिर्फ आप

माता से भाषण। के समान उनकी भी दशा हुई है। देखे तब वे अपनी माता से बात क करते हैं! माता का बोलना, अपने ही तरह उनको सुन पड है, उसको सुन कर कभी वे हसते हैं और कभी रोते हैं।

केशवबाबू जगज्जननी के साथ बोलते हैं, बालक की तरह हस हैं, रोते हैं, इस वार्ता को सुनकर महाराज का मन बहुत प्रसन्न हुआ वे बाह्यशून्य होने लगे देखते ही देखते उनकी समाधि लग गई

महाराज समाधिस्थ हैं! बिलकुल हल चल नहीं! उन मूर्ति किसी काठ पुतली की तरह बिलकुल स्तब्ध थी! ठंड दिन थे, इसलिए वे हरी बनात का कोट पहिने थे, शरीर उ आसन युक्त—होकर हाथ स्वस्तिकाकार रखे थे। दृष्टि बिल कुल स्थिर थी! इस तरह वे पूर्ण समाधिमग्न हुए थे! इस दश में बहुत देर होगई, परन्तु तिस पर भी समाधिभंग होने समाधि उतरने—के कोई चिन्ह नहीं दृष्टिगोचर होते थे।

सन्ध्या समय हुआ, दीवानखाने में दीपक जलाया गय उसी समय से महाराज भी भान पर—देह पर—आने लगे उनको दीवानखाने में ले चलने के लिये मण्डली खटपट कर लगी। बड़ी कठिनता से, एक दफ उनको उठाकर, एक गद्द पर बैठा दिया। दीवानखाने में, सब जगह शीशे लगे थे, इस लिये सब जगह दीपक ही दीपक का प्रकाश चम चमा रहा थ जिससे दीवानखाना बहुत शोभायमान दिखता था।

गद्दी पर बैठते ही महाराज भावाविष्ट—समाधि मग्न—हो गये। उनकी समाधि अच्छी तरह नहीं उतरी थी। किसी नशेले आदमी की तरह अपने ही रंग में हंसते थे। गद्दी, कुरसी बेंच वगैरा सब सामान की ओर एक दफे देखा; अनन्तर वे अपने मनसे, माता से बोलने लगे।

रामकृष्ण (कुरसी वगैरे देखकर):—किसी समय इसका उपयोग होता था यह सत्य है, परन्तु अब ?—अब इसका कोई उपयोग नहीं। केशवबाबू का अन्तिम समय आया है, अब ये शीघ्र ही इस नश्वर शरीरको छोड़ कर माता के पास जानेवाले हैं। क्या उक्त महाराज के दिव्यदृष्टि देखने ही के कारण, उनके मुंह से तो नहीं निकले होंगे?

साक्षात्कार और आत्मा का अमरत्व।

राखाल उनका एक शिष्य पास ही बैठाथा, उसकी ओर देख कर महाराज प्रेम से बोले, 'राखाल, क्या तू है?'

, इतने ही में फिर माता से बोलने लगे! वाह! माता, क्या तू आई? यह बनारसी पोशाक तुझे कितनी शोभायमान लगती है! माता, यों ही क्यों कष्ट सहती है? बैठ, तू बैठ जा।"

महाराज महाभाव के नशा में थे! दीवानखाने में बहुत उजेला था। धीरे धीरे दीवानखाना ब्राह्मभक्तों से बिलकुल भर गया। लाटू, राखाल और एम इत्यादि महाराज के शिष्य, महाराज के पास ही बैठे थे। महाराज भावावस्था में, आत्मा के अमरत्व के लिये, अपने ही से बोलते थे। क्या यह उनकी ज्ञानदृष्टि से स्पष्ट जान पड़ता था कि केशवबाबू की आत्मा देह को परित्याग कर देगी? आप कहने लगे, " आत्मा देह से निराली है। परमात्मा के दर्शन होने के बाद मनुष्य की देहात्मबुद्धि—देह यही आत्मा होती है, यह बुद्धि—छूटना अशक्य है। जो अज्ञानी हैं—जिनको ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ—उनकी

ही बुद्धि—यह देहात्म बुद्धि—चपकी है । देह, आत्मा नहीं है, यह वस्तुस्थिति ज्ञानदृष्टि से बिलकुल स्पष्ट दिखती है ।

कच्ची सुपारी का बकला सुपारी में खूब चपका रहता है । इस दशा में सुपारी और बकला को अलग अलग करना बहुत कठिन है; परन्तु अच्छी तरह पकी हुई सुपारी को ऐसा नहीं होता उसका बकला चपका नहीं रहता पकी सुपारी के फल हिलाने से अन्दर सुपारी के खड़खड़ाने की आवाज आती है; जिससे जान पड़ता है कि सुपारी और बकला अलग अलग है । इसी तरह ईश्वर के दर्शन हुये—ईश्वर की प्राप्ति हुई—कि देहबुद्धि आप ही आप नष्ट होजाती है । पहिले देह और आत्मा का निराला निराला बोध होता है । "

इतने ही में एक आदमी अन्दर से आया जिसकी आकृति में सिर्फ हड्डी-चर्म के सिवाय और कुछ नहीं था ! उसकी आकृति देखने से ऐसा जान पड़ता था कि कोई पिशाच धीरे धीरे महाराज की ओर आता है ! दीवाल पकड़े-पकड़े वह आकृति पास ही में आ रही है ! अन्त में वह बिलकुल गद्दी के पास, जिस पर कि महाराज बैठे थे, आई; परन्तु उस समय महाराज, गद्दी से उतर कर नीचे बिछौने पर बैठे थे । वह आकृति बहुत कष्ट से गद्दी के पास आकर बैठ गई । उसने महाराज के चरण को अच्छी तरह पकड़ लिया । वह आकृति अर्थात् केशवबाबू ही थे । केशवबाबू थे, ऐसा कहने की अपेक्षा यदि ऐसा कहा जाय तो अधिक शोभायमान लगेगा कि केशवबाबू की पूर्वाकृति की केवल छाया ही थी । जिसने अपनी वक्तृता के दिव्य प्रभाव से श्रोतृ-समूह से, सैकड़ों बार ' धन्य, धन्य ' का शब्द ग्रहण किया, जिनके दर्शन हुये कि अपनी दृष्टि सार्थक हुई, ऐसा सब को मालूम होता है; तरुण बंग वासियों को जो ईश्वर के समान मालूम होते हैं; ब्रह्मसमाजियों में जो व्यासगद्दी पर बैठ कर कथा सुनाते हैं; जिनकी सत्यशील, पुण्यशील पवित्र

रामकृष्ण की आयु २४ वर्ष तथा उनकी पत्नी शारदादेवी की आयु ५ वर्ष की थी। कहते हैं कि जब उनकी माता वधू-संशोधन में लगी थीं तब रामकृष्ण ने शारदा देवी विषयक सारी बातें अपनी माता से कहीं और कहा कि यह कन्या दैवी स्वभाव की है और यही मेरी पत्नी बनने के योग्य है। माता ने भी अपने पुत्र की इच्छानुसार उनका शारदा देवी से ही विवाह कराया।

विवाहविधि से निपटेरा पाकर श्रीरामकृष्ण पुनः दक्षिणेश्वर को आए और कालीमाता के ही भजन तथा पूजन में रत रहने लगे। वे कालीमाता से पूर्ववत् ही बातचीत किया करते और माता का दर्शन न होने के कारण अत्यन्त दुखित होते थे। वे प्रतिदिन सूर्यास्त के समय कहते, 'माताजी! यह भी दिन व्यर्थ ही व्यतीत हुआ! तुम मुझे शीघ्र ही क्यों नहीं दर्शन देती? उनके इस पगलेपन को देखकर लोग उन्हें सचमुच ही पागल कहने लगे थे। मथुराबाबू का रामकृष्ण पर अत्यन्त अनुराग था, अतएव उन्होंने उनके उस पगलेपन के मिटाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया। पर, उससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने, जब कि वे अपनी माता के विरह से अत्यन्त दुःखित हो गए थे, आत्महत्या करने की ठानी। इतने में समाधि में माता ने आकर दर्शन दिया। तब से माता बराबर दर्शन देकर रामकृष्ण के मन का भ्रम दूर करने का प्रयत्न करती थी। इससे उनकी दिनचर्या में एक महदंतर दिखाई दिया। वे अपना अधिकांश समय समाधि में ही बिताने लगे, जिससे वे माता से इतने तन्मय होगए कि माता को फूल, चंदनादिक चढ़ाने की अपेक्षा वे अपने सिर पर ही उन्हें चढ़ाने लगे। मथुराबाबू को उनकी प्रगाढ़ प्रतिभा एवम् अनुपम मातृभक्ति का साक्षात्कार हुआ; अतएव उन्होंने पूजन का कार्य रामकृष्ण के भाई 'हृदय' को सौंपकर उन्हें उस कार्य से मुक्त किया।

अतएव मनोहर और वन्द्य मूर्ति, श्रोताओं के मन को भक्ति-रस में, निमग्न कर देती थी; जिसने, बालक की तरह ऋजु, निर्व्याज और एकनिष्ठ मन से माता का, ब्रह्मसमाज में कीर्तन करके, श्रोताओं के मन में प्रभाव डाला है—इतनी जिसकी वाणी में मोहकता, मधुरता, शक्ति और जादू है—उस केशवबाबू की यह दशा देखकर दीवानखाने की सब मण्डली आश्चर्य से केवल स्तब्ध होगई।

इतना होने पर भी महाराज अभी भावावस्था ही में थे। किसी नवीन आदमी की तरह, जिसको कभी न देखा हो उस आदमी की तरह, वे केशवबाबू की ओर देखने लगे, तब केशवबाबू जोर से कहने लगे कि, 'मैं आया हूं महाराज, मैं आया हूं!' ऐसा कहकर बाबू जी महाराज का दाहिना हाथ अपने हाथ से धीरे धीरे दाबने लगे।

तिस पर भी पूर्व स्थिति पर आने के कोई चिन्ह नहीं देख पड़ते। ब्रह्मानंद में खूब गहरी डुबकी लगाई! कुछ देर में पागल सरीखे आप ही आप, बोलने लगे; क्या यह भक्ति का स्वाँग है?

सर्वव्यापी चैतन्य। "जब तक मेरी आत्मा का सत्य-स्वरूप मुझे नहीं मालूम हुआ, जब तक आत्मस्वरूप पर से उपाधि का पड़दा नहीं हटा तब तक नाना वस्तुओं की—केशव, प्रभृत और प्रसन्न इत्यादि नाना व्यक्तियों की—भावना मेरे पास जागृत रहती है। पूर्ण ज्ञान हुआ कि सर्वव्यापी चैतन्य का भी अनुभव आया पूर्ण ज्ञान अर्थात् अद्वैत ज्ञान; नाना वस्तुओं के भीतर एक चैतन्य ही देख पड़ता है—एक ही परमात्मा चराचर में व्याप्त है—यह बोध अर्थात् पूर्ण ज्ञान है।

"पूर्ण ज्ञान होने से मनुष्य को ऐसा अनुभव होता है कि, एक ही परमात्मा, एक ही चैतन्य, इस सब जीव और जगत् के रूप से—चौबीस तत्वों के रूप से—व्यक्त हुआ है।"

" एक ही शक्ति नाना वस्तुओं में आविर्भूत हुई है । देखने से सत्य जान पडता है कि, एक ही परमात्मा नाना वस्तुओं के रूप से व्यक्त हुआ है । किसी वस्तु में उसका प्रकाश कम है और किसी में ज्यादा । पंडित विद्यासागर ने एक दफे मुझसे ऐसा प्रश्न किया कि, क्या यह बात सत्य है कि 'ईश्वर ने किसी को कम शक्ति दी है और किसीको ज्यादा ? ईश्वर क्या पक्षपाती है ? ' तब मैंने कहा, 'यदि ऐसा न कहें, कि ईश्वर ने किसी को कम ज्यादा शक्ति नहीं दी तो एकाध मनुष्य, दस-पन्द्रह आदमियों से, विशेष शक्तिवाला देख पडता है, नहीं नहीं ! कभी तो आदमी पचासों आदमियों से भी ज्यादा शक्तिवान् दिखता है, इसका निर्णय कैसा होगा ? और फिर वैसा भी न कहें तो आप से (विद्यासागर से) भेंट करने के लिये, हमें दक्षिणेश्वर से इतनी दूर आने का क्या कारण है ? यह बात सत्य है कि परमेश्वरकी सृष्टि में विषमता है; परन्तु इसका कोई गूढ़ कारण होना चाहिये । ईश्वर पर यह दोष नहीं आरोपित हो सकता, कि वह पक्षपाती है । "

नाना स्वरूप ।

" जिस रूप से ईश्वर अपनी लीला विशेष प्रगट करता है उस रूप—उस जगह—में उसकी शक्ति विशेष है । श्रीमान् आदमियों के बहुत घर होते हैं; परंतु उनमें से किसी घर (दीवानखाने) में-जो दीवानखाना उसको बहुत अच्छा लगता है उसमें—वह बहुत रहता—बहुत मिलता—है । भक्तों के अन्तःकरण ही ईश्वर के दीवानखाने है । भक्तों के हृदय में लीला करना उसको बहुत अच्छा लगता है । भक्तों के यहां—भक्तों के हृदय में—उसकी विशेष शक्ति अवतीर्ण हुई है ।

विशेष स्वरूप-अवतार

" जिनके हाथ से बहुत कार्य होते हैं उन्हीं में—उन्हीं के यहां-परमेश्वरी शक्ति का ज्यादा प्रकाश होता है, यही सम-

आना चाहिये। सचमुच कोई विशेष कार्य्य ईश्वरी शक्ति का ही फल है। फिर भला ऐसे आदमियों के लक्षण क्या कहूं?"

"आदि शक्ति और परमेश्वर में भेद नहीं है। ब्रह्म का विचार मन में आया, कि शक्ति का भी विचार आया ही। शक्ति के बिना केवल ब्रह्म की भावना कभी होनेवाली नहीं। रत्न के प्रकाश को छोड़ कर सिर्फ रत्न की कल्पना नहीं हो सकती अथवा रत्न को छोड़ कर उसके प्रकाश की कल्पना नहीं हो सकती। वैसे ही, सर्प और उसकी वक्रगति सर्प के बिना उसकी वक्रगति की कल्पना नहीं हो सकती, अथवा वक्रगति को छोड़ कर केवल सर्प की भावना नहीं हो सकती।"

ब्रह्म और शक्ति एक ही है।

"ब्रह्मशक्ति" सुन कर, उसके शब्द से (ब्रह्मशक्ति का) सिद्ध करना अशक्य है। दृष्टि से तो उसकी केवल साधारण कल्पना जान पड़ती है।

"अच्छा, मेरी माता जीव और जगत् इनके रूपों से—चौबीस तत्वों के रूपों से—आविर्भूत हुई है; परन्तु इसमें केवल अनुलोम और विलोम का—अपक्रांति और उत्क्रांति का—तत्व है। जीव और जगत् उस ठिकाने अपक्रांति—विलीन—अवस्था में अर्थात् बीज रूप में ही थे। बाद को वे फिर धीरे धीरे उत्क्रान्त होने लगे! अच्छा, राखाल, नरेंद्र (विवेकानंद) पर मेरा इतना प्रेम क्यों है? उनके देखने के लिये मैं इतना व्याकुल क्यों होता हूं? अभी तक संसार से—कामिनी कांचन से—घृणा नहीं हुई है, माता इस ब्रह्मांड के रूप से प्रकट हुई है यह सत्य है; परन्तु उसीमें (ब्रह्मांड में) माता का अंश किसीमें कम और किसीमें ज्यादा है! हज़ा मुझसे इस विषय में बहुत कहता रहता है। वह कहता है कि, 'आप इनके (राखाल और नरेन्द्र) लिये यदि इतने व्याकुल होते हो—आपका यदि इन पर इतना प्रेम

है—तो परमेश्वर की ओर आपका ध्यान किस तरह लगता होगा? बाबा, आपका ध्यान लगता है या नहीं यह कौन जाने?' (केशवादि हंसते हैं)।

" हृद्या का यह कहना सुन कर मैं बहुत विचार में पड़ा। मेरे कुछ विचार में न आया, तब मैं माता से बोला, माता, यह क्या है! हृद्या जो कहता है वह क्या ठीक है? इन आदमियों के लिये मैं व्याकुल होता हूं, इस कारण क्या तेरे ऊपर मेरी कम भक्ति होती है! बाद को मैंने भोलनाथ से पूछा, उन्होंने ऐसा कहा कि इस बात का निराकरण महाभारत में ठीक ठीक किया गया है, उसमें ऐसा लिखा है कि समाधि के बाद (जिस पुरुष को ईश्वर-दर्शन का अनुभव हुआ है)—समाधि उतरने पर—इस संसार में किस जगह विश्राम मिलनेवाला है? अर्थात् 'कामिनी कांचन' के बीच में कुछ थोड़ा ही जीव रहेगा! वह सत्वगुणी भक्तों के सहवास में अपना समय व्यतीत करेगा। महाभारत के इस निर्णय से मेरा मन बिलकुल शान्त होगया। जैसे अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये, यदि किसी को किसी सत्य प्रमाण का आधार मिलने पर जैसा आनन्द होता है, उसी प्रकार मुझे आनन्द हुआ। (सब हंसते हैं)।

माता के विशेष रूप-नरेंद्र समान संसार से अलग रहनेवाले धर्मात्मा।

" हृद्या का कोई दोष नहीं। जब तक ईश्वर का बोध नहीं हुआ—जब तक साधकावस्था है—तब तक 'नेति नेति' —यानी ईश्वर का निवास मनुष्य किंवा प्रकृति से अन्य जगह है ऐसा—ही कहते रहते हैं; परन्तु सिद्धावस्था की बात निराली है। जीव और जगत् दोनों परमात्मा के पास, विलीनावस्था अथवा बीजावस्था में रहते हैं और उसीके रूप से आविर्भूत हुए हैं—यह अखिल नाम रूपात्मक सृष्टि उस ब्रह्माड से ही केवल उत्क्रांति हुई है—अर्थात् यह केवल अनुलोम और

विलोम ही का खेल है । यह बात सत्य है । इसका अनुभव पीछे होता है जिस समय हम यह कहते हैं कि, नैनू एक स्वतंत्र पदार्थ है, उस समय छाँछ की ओर हमारा ध्यान नहीं रहता; परन्तु विचार किया जाय तो मालूम होगा कि नैनू छाँछ ही का एक भाग है; उसी तरह छाँछ भी नैनू का एक भाग है अर्थात् छाँछ और नैनू दोनों अन्योन्याश्रयी अथवा सापेक्ष हैं । इसी प्रकार जीव और जगत् के रूप से परमात्मा प्रकाशित हुआ है; परन्तु किसी वस्तु में ज्यादा तथा किसी वस्तु में कम रहता है ।

साक्षात्कार होकर मनुष्य का मन भक्ती से खूब भर गया है—बिलकुल भक्तिमय होगया है—उसी समय यह अनुभव होता है कि संसार हरिमय इस तरह है । नदी में जब बहुत बाढ़ आती है तब नदी, दोनों किनारों को फोड़ कर, आसपास के सब प्रदेशों को जलमय कर देती है । यदि नदी में बहुत बाढ़ न हो तो जिस प्रकार (टेढ़ी-मेढ़ी) बहुत घुमाव के साथ नदी गई होगी उसी घुमाव के साथ, नदी के प्रवास करनेवालों को, समुद्र में जाना होगा; परन्तु यदि नदी में खूब बाढ़ आई हो जिसके कारण सब भूप्रदेश जलमय हो गये हों उस समय काकगति की तरह जिधर से इच्छा हो उधर से समुद्र में पहुंच जायंगे । खेत का पका हुआ अनाज काट लेने के अनन्तर खेत में से जिधर से इच्छा हो उधर हो जा सकते हैं ।

जिसने ईश्वर का अनुभव किया उसका ज्ञान ।

" जिसको एक दफे भगवल्लाभ हुआ उसको संसार की गति कैसी है, यह स्पष्ट देख पड़ता है । परमेश्वर का अंश मनुष्य में विशेष रहता है; परन्तु मनुष्यों में भी सत्वगुणी भक्तों में—जो मनुष्य संसार के दरिद्र-सुख की ओर नजर भर नहीं देखता, जिसको ' कामिनी-कांचन ' की ओर देखने मात्र में बुरा लगता है उसमें—उसका प्रकाश

(अंश) सब से विशेष रहता है। (यह सुन कर सब स्तब्ध हो गये।)

" जिस पुरुष को समाधि में ईश्वर का अनुभव हुआ है उस को संसार की क्षुद्र बातों में मन लगना बहुत कठिन है। भला यह कैसे लग सकता है? उस समय तो वह, जो सहज ही में 'कामिनी कांचन' का त्यागी और सत्वगुणी हो, ऐसे शुद्ध भक्त की संगति का भूखा रहता है।

" माता--आदिशक्ति--और ब्रह्म एक ही है। जिस समय ऐसी भावना होती है कि परमात्मा निष्क्रिय है, उस समय उसको ब्रह्म कहते हैं, पुरुष कहते हैं; और जिस समय ऐसी भावना होती है कि वह सक्रिय है वह सृष्टि, स्थिति और प्रलय करता है, उस समय उसको शक्ति कहते हैं, प्रकृति कहते हैं। सृष्टि के चश्मे से पुरुष (परमात्मा) की ओर देखें तो वहीं माता के--प्रकृति--के रूप में देख पड़ता है और वही ईश्वर के-पिता के--रूप में देख पड़ता है। पिता गृहव्यवस्था का काम माता को सौंपता है। माता को यह अधिकार पिता के ही पास से प्राप्त हुआ है; उसके सामर्थ्य का सब भार पिता की ही जिन्दगी पर निर्भर है।

ब्रह्म समाज और ईश्वर का मातृ भावना।

" सृष्टि रूप रंगभूमि पर अवतीर्ण हुए, ईश्वर की ओर, प्रकृति की ओर, माया की ओर, माता की ओर देखे बिना--माता के नेत्र बचाकर--तुम कहीं सृष्टिभर में स्वस्थ बैठे हुए परमात्मा की ओर--पुरुष की ओर, परब्रह्म की ओर--देख नहीं सकोगे। एक का विचार मन में आया कि दूसरे की भी याद आवे ही गी।

' पुरुष की याद हुई कि प्रकृति की भी याद हुई और प्रकृति की याद हुई कि पुरुष की भी याद हुई। जिसको शिव का ज्ञान हुआ, उसको शक्ति का भी ज्ञान होवे ही गा। जिसको

पिता मालूम है उसको माता जरूर ही मालूम होगी (केशव-बाबू हंसते हैं।)

" जिसको अंधकार का ज्ञान है उसको प्रकाश का भी ज्ञान है। जो रात्रि को जानता है उसको दिन भी मालूम है। जिसको सुख का अनुभव मालूम है, उसको दुःख का भी अनुभव मालूम है। क्या तुम यह समझते हो ? "

केशवबाबू (सस्मित):—हां, महाराज समझते हैं।

श्रीरामकृष्णः—माता! किसकी माता! जगत् की माता। जो जगत् की उत्पत्ति करती है, पालन करती है; जो अपने बालकों की निरन्तर रक्षा करती है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कैसे साध सकते हैं, वही माता। अच्छे लड़के माता को छोड़ कर नहीं रह सकते, माता का वियोग वे बिलकुल नहीं सह सकते। उनको कुछ भी चिन्ता नहीं रहती—सब कुछ चिन्ता, उनकी माता को रहती है। लड़के खाते, पीते और आनन्द करते फिरते हैं। इस समय उनका कुछ कर्तव्य नहीं है, उनका सब भार माता ही के ऊपर रहता है।

केशवबाबूः—हां महाराज, सत्य, बिलकुल सत्य।

विन्दु २५।

इतनी बातचीत होते होते श्रीरामकृष्ण पूर्ण जागृति पर आ गये थे—उनकी समाधि अब पूरी उतरी थी। केशवबाबू के साथ, हास्यवदन से, उनका भाषण हो रहा था, दीवानखाने की सर्व मण्डली बिलकुल तटस्थवृत्ति से सुन रही थी। ' कैसा क्या ? ' किंवा ' तुमको इस समय कैसा मालूम होता है ? ' इत्यादि प्रकार के प्रश्नोत्तरों का कुछ दोनों में प्रारम्भ नहीं हुआ

यह देख कर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। ईश्वर सम्बन्धी विषय को छोड़ कर अन्य किसी विषय पर एक शब्द भी उन्होंने नहीं निकाला।

श्रीरामकृष्ण (केशवबाबू से):—जो ब्रह्म-समाज-भक्त हैं वे ईश्वर महिमा का—ईश्वर की कृति का—इतना वर्णन क्यों करते हैं? 'हे ईश्वर, यह सूर्य तूने उत्पन्न किया, सब नक्षत्र तूने उत्पन्न किये,' ऐसी उसकी कृति की सुन्दरता की बड़ाई क्यों गाते हैं? ऐसा करने का क्या प्रयोजन? मनोहर बाग को देखने से—सुन्दर फूल और मधुर गंध ही में—मोह कर उस बाग की बड़ाई करनेवाले बहुत आदमी हैं; परन्तु बागवान् (माली) की चौकसी की बड़ाई करनेवाले थोड़े ही आदमी हैं। बाग बड़ा है या बागवान्? जब तक अपनी पीठ के पीछे मृत्यु का भय है, तब तक बाग मिथ्या है; बागवान् मात्र सत्य है!

अपने को क्या, चार ग्लास की आवश्यकता होगी, उसके लिए यह पूछने की क्या आवश्यकता है कि तुम्हारी दुकान में कितनी शराब है? एक बोतल मिली कि अपना काम हुआ!

नरेन्द्र के दर्शन होते ही मुझे बहुत समाधान होता है। उससे मैं यह पूछता हूं कि, तुम्हारे पिता का क्या नाम है अथवा तुम्हारे पिता के कितने घर हैं?

मनुष्य को अपने ऐश्वर्य—अपनी सम्पत्ति, अपनी जमीन अपनी खेत-बारी और अपने घर-द्वार—विशेष मूल्यवान जान पड़ते हैं। उस तरह ईश्वर को भी अपने ऐश्वर्य—सूर्य, चन्द्र, और नक्षत्र—वैसे ही मूल्यवान् जान पड़ते होंगे; ऐसी उसकी (मनुष्य की) समझ है; इसी लिए मनुष्य ऐसा समझता है कि हमने उसके ऐश्वर्य की प्रशंसा की; इसलिए वह प्रसन्न होगा शंभुमलिक एक बार कहने लगा कि 'महाराज मुझे आपका आशीर्वाद हो, जिससे कि मैं अपना सब ऐश्वर्य माता के चरणों में अर्पण कर मर जाऊं।' इस पर मैंने कहा, 'यह क्या कहता

है ? तुमको क्या ऐसा मालूम होता है कि, यह सब ऐश्वर्य ही है ! माता अपनी दृष्टि से, इस सब का मूल्य (माता) अपने पैर की धूलि से भी कहीं थोड़ा ही समझती है।

एक बार विष्णु-मंदिर में चोरी हुई चोर ने, मूर्ति के सब आभूषण चुरा लिए। तब मथुराबाबू (देवालय के व्यवस्थापक और रानी रासमणि का जामात) और मैं, यह देखने के लिए, कि चोरी किस प्रकार हुई, वहां गये। तब मथुराबाबू कहने लगा कि, 'भगवान्, तुममें कुछ शक्ति नहीं है ! तुम्हारे शरीर से सब आभूषण चोरी हो गये, परन्तु तुम कुछ न कर सके !' इस पर मुझे थोड़ा क्रोध आया मैंने कहा कि, 'कितनी अज्ञानता का यह तेरा बोलना है ! इस बात का ध्यान रख कि, जिस जगन्नायक की, मूर्ति-द्वारा, तू पूजा करता है, उसको तेरे आभूषण मिट्टी के समान हैं ! लक्ष्मी ही उसकी दासी है; उसकी—लक्ष्मी की—सामर्थ्य का भार उसके-जगन्नायक के-ऊपर है। अतएव, भाई, ऐसा मत बोलो !'

क्या भगवान् ऐश्वर्य का भूखा है ? क्या कभी वह ऐसा ख्याल करता है कि अमुक ने मुझे ज्यादा दिया और अमुक ने कम अथवा अमुक ने नहीं दिया; अतएव मैं ज्यादा देनेवाले पर ज्यादा और कम देनेवाले पर कम अथवा नहीं देनेवाले पर नहीं, कृपा करूंगा ? कभी नहीं। वह तो सिर्फ भक्तिवश है। उसे क्या अच्छा लगता है ? पैसा नहीं वरन शुद्ध भाव, प्रेम, भक्ति, विवेक और वैराग्य ही उसको प्यारा लगता है।

उपासकों के भेद।

जैसा जिसका भाव (स्वभाव) वैसा ही उसको ईश्वर देख पड़ता है। जिस भावना से ईश्वर-स्वरूप की कल्पना मनुष्य करता है, वहीं स्वरूप उसकी उपासना का मार्ग होता है। जो भक्त तमोगुणी होते हैं वह *माता की—अपने देवता* को—प्राणियों की बलि देते हैं, वे ऐसा समझते हैं कि अपने

ही तरह, अपना देवता भी तमोगुणी होकर उसको मांस के खाद्य प्रिय हैं। रजोगुणी भक्तों का मन अनेक प्रकार के पदार्थ अर्पण करने को होता है, अतएव वे अपने देवता को नाना भोग अर्पण करते हैं। सत्वगुणी भक्तों को पूजा का आडम्बर बिलकुल नहीं होता, उनको फूल की भी अवश्यकता नहीं होती। कभी कभी, एकाध समय, पान और गंगाजल मिला, कि उनकी पूजा का काम हुआ। अच्छा, नैवेद्य के लिए एकाध बताशा किंवा बहुत हुआ तो पायस (खीर) मिली, कि उनका समाधान हुआ।

इन तीनों के सिवाय एक प्रकार के भक्त और होते हैं। वे त्रिगुणातीत भक्त होते हैं। उनका स्वभाव बालकों के समान होता है। प्रकृति के तीनों गुणों से वे अलग रहते हैं--शुद्ध भाव से ईश्वर के नाम का कीर्तन करना ही उनकी पूजा है। बिलकुल शुद्ध--केवल-हरि नाम, दूसरा कुछ नहीं!

बिन्दु २६।

केशवबाबू के साथ अंतिम भाषण।

श्रीरामकृष्ण (केशवबाबू से सहास्य):--तुमको ज्वर आया है; परन्तु उसका कारण बहुत गहरा है। यह मेरे ध्यान में आया है। भक्ति, उन्मत्त होकर, तेरे शरीर में खूब नाची-कूदी है उसीका यह परिणाम है।

ईश्वर का रुग्णालय और आत्म की चिकित्सा।

उसीकी इस उन्मत्तावस्था के कारण, जो शरीर में खराबी पैदा हो जाती है, वह मनुष्य के ध्यान में तात्कालिक नहीं आती।

श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा ।

मुद्रक और प्रकाशक

शंकर नरहर जोशी;

चित्रशाला स्टीम प्रेस, ८१८ सदाशिव पेठ,
पूना सिटी ।

सन् १९१५.

मूल्य सवा रुपया ।

पुरी की ओर जानेवाले साधु एकाध दिन कमरपूकर में भी टिक जाते थे, जिससे सहज ही में रामकृष्ण को उनके उपदेशामृत पान का लाभ मिलता था। उन साधुओं के उपदेश से ही वे कनक तथा कांता को विषवत् समझते थे। वे द्रव्य को तो लोष्ठवत् समझ कर (रुपये आदिक को) श्रीगंगाजी में प्रवाहित कर देते थे! उनकी उस वृत्ति को देखकर कई मसखरे जान-बूझ कर रुपयों का उनके अंग से स्पर्श कराते थे। उससे वे चिढ़ते तो नहीं; पर हाहा अवश्य ही खाते थे। वे एक हाथ में द्रव्य और दूसरे हाथ में मिट्टी लेकर कहते कि 'जो इस हाथ में है वही इस हाथ में, मिट्टी और द्रव्य को मिलाकर दोनों हाथों से मलकर (द्रव्य को भी मिट्टी समझ) गंगाजी में फेंक देते थे।

कनक ही की तरह कांता से भी वे अलिप्त रहते थे। वे किसी भी स्त्री को अपने पास नहीं आने देते। यदि कोई स्त्री उनके पास जाती तो वे कहते, 'माता! वहीं पर खड़ी रहो--मेरे पास आने का प्रयत्न मत करो!' वे अपने मित्रों से कहा करते थे, 'यदि कोई स्त्री मेरे पास आयेगी तो मैं मूर्च्छित हो जाऊंगा'।

उनके सम्बन्धियों ने उन्हें कामिनी के मोहजाल में फँसाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया; परंतु अंत में रामकृष्ण की ही जीत रही! वे माता से कहा करते थे, 'माताजी! यदि मेरे मन में कुविचार उत्पन्न होंगे तो मैं अपने गलेपर छूरी फेर लूंगा।'

विवाह के अनंतर उन्होंने कभी अपनी स्त्री से संभाषण तक नहीं किया। इस कारण उनके बहुत से साथी उनकी हंसी किया करते थे। पर, रामकृष्ण कहते, 'आध्यात्मिक उन्नति के लिये स्त्रियों से अलिप्त रहना ही ठीक है'। यद्यपि उनके विचारों को सुनकर उनके मित्र उनकी हंसी उड़ाया करते थे, तथापि वे अपने निश्चित मार्ग से कभी नहीं डिगे।

एकाध जहाज गंगा में जाता है। उस समय उसकी ओर, विशेष कर, किसीका ध्यान नहीं जाता; परन्तु यदि किनारे की ओर दृष्टि पड़ जाय तो देख पड़ेगा कि पानी का धक्का किनारे को जोर से लग रहा है। कभी कभी तो किनारा गिरकर जमीनदोस्त—जमीन में मिल—जाता है!

जब किसी छोटी सी झोपड़ी में हाथी प्रवेश करता है तो वह उसको वात की बात में जमीन में मिला देता है। तात्पर्य यह है कि, भक्ति का सामर्थ्य ही हाथी है। उसने एक दफे देहरूपी घर में प्रवेश किया, कि विशेष तर उसका नाश ही कर डालता है!

क्या तुमको मालूम है कि एकाध घर में जो आग लगी तो पहिले बारीक-बारीक पदार्थ जल जाते हैं; बाद को वह आग सारे घर में फैल जाती है और सब जला कर राख कर डालती है। ऐसा ही ईश्वर-स्पर्श के योग से होता है। ज्ञानाग्नि काम-क्रोधादि षड्रिपुओं को पहिले नाश कर डालती है, उसके बाद अहंबुद्धि का वह नाश करती है और अन्त में देह का—सर्व घर का नाश—कर डालती है।

कदाचित् तुमको ऐसा मालूम हो कि ईश्वर के मन के अनुसार सब काम हुआ है और अब मैं भव-जाल से छूट गया हूं परन्तु वैसा नहीं भाई, जब तक थोड़ा सा भी रोग शरीर में शेष रहता है तब तक वह छुट्टी देनेवाला नहीं। रुग्णालय के रोगियों में अब तुमने अपना नाम लिखाया है; अब रोग की जड़ जब तक नष्ट नहीं हो जायगी तब तक डाक्टर साहब तुमको कभी नहीं बाहर जाने देंगे! पहिले ही से अपना नाम तुमने क्यों दाखिल कराया? (हंसते हैं)

ईश्वर के रुग्णालय की बात सुनकर केशवबाबु खूब हंसने लगे। उनकी हंसी किसी प्रकार न रुकी। रह रहकर, बार बार हंसते हैं।

रामकृष्ण (केशवबाबु से):—हृदय ने कहा "ऐसा भाव मैंने

कहीं नहीं देखा, और न ऐसा रोग ही कहीं देखा।" एक समय मैं अतिसार से खूब बीमार था। शिर में ऐसी वेदना हो रही थी कि मानों लाखों चींटियां भीतर काटती हैं; परन्तु मेरे मुख से, रात-दिन सिर्फ ईश्वर की कथा का ही उच्चार हो रहा था। नाटगोर के यहां से राम (वैद्य) उस समय मेरी औषधि करने के लिये आये थे; उन्होंने जब देखा कि मेरा भग विचार आप ही आप चल रहा है, तब वे बोले, 'क्या! यह मनुष्य पागल है? शरीर में तो सिर्फ चार हड्डी रह गई हैं, तिस पर भी इसका ध्यान बन्द नहीं है! इसका विचार निराला ही चल रहा है!'

माता तू इच्छामयी है, तेरी इच्छा से सब कुछ होता है; सब जगह तेरी ही इच्छा है। अपना कर्म तू स्वतः करती है; परन्तु मनुष्य, मूर्खता के कारण, उस कर्तृत्व को अपनी ओर मान लेता है और अहंकार के साथ कहता है कि 'मैंने यह किया 'मैंने यह किया'

असली गुलाब के फूलों की व्यवस्था कैसी करनी चाहिये, फलम लगे हुये गुलाब की व्यवस्था कैसी करनी चाहिए, यह बात माली ही अच्छी तरह समझता है। कलम के पेड़ को रात्रि में पड़े हुए ओस से अच्छा उपयोग होता है, इसी लिए वह उसकी अच्छी व्यवस्था करता है। वे झाड़ ओस से अच्छे बढ़ते हैं। कदाचित् तुमको भी वैसा ही हो। तेरी व्यवस्था कैसी करना चाहिए; यह परमात्मा माली को अच्छी तरह समझ पड़ता है। उसकी प्रेरणा से तुमको ओस रूप शक्ति साधारण ही मिलेगी और पूर्वकी अपेक्षा अधिक शुद्ध, तेजस्वी और बलवान् होवेगी और तुम्हारी ओर से महत और अविनाशी कार्य्य होने लगेंगे; इसलिये तुमको वह-परमात्मा सशक्त करने के लिए तुम्हारी अज्ञानरूपी जड़ को खोदता है।

भगवान् माली।

तुझको कुछ ज्वर आया है ऐसा मैंने जो सुना कि, मेरे प्राण बिलकुल व्याकुल होने लगते हैं पहिली दफे जब तू बीमार हुआ था तब प्रातः-काल में उठ कर रोकर कहता था कि 'माता, केशव को यदि कुछ भला-बुरा हो गया हो तो, मैं कलकत्ता जाने पर तेरे विषय में किस के पास क्या बोलूंगा?' बाद को मैं कलकत्ते आया और फलफूल आदि सिद्धेश्वरी के आगे रख कर, तेरे अच्छे होने के लिए, मैंने उसकी व्याकुलता से प्रार्थना की इस वस्तु का मैंने उसको संकल्प किया था।

केशवबाबु के लिये माता माता की प्रार्थना।

केशवबाबू पर महाराज का यह कृत्रिम प्रेम और उनके सम्बन्ध में उनकी विलक्षण व्याकुलता देख कर सर्व मण्डली विस्मय से बिलकुल मूढ़ हो गई।

श्रीरामकृष्णः—परन्तु तेरे इस ज्वर में मेरी आत्मा पहिले की समान नहीं घबराई। यह मैं सत्य कहता हूं।

परन्तु आज दो तीन दिवस से थोड़ी चिन्ता हो रही है।

दीवानखाने में आते समय पूर्व की ओर जो दरवाजा था, वहां पर केशवबाबू की पूज्य माता आकर खड़ी हुई। तब उमानाथ महाराज से जोर से बोला 'महाराज, यह देखो माता आपको प्रणाम करती हैं।'

महाराज हंसने लगे; उमानाथ फिर कहने लगा कि माता कहती है कि आप ऐसा आशीर्वाद दो कि जिसमें केशवबाबू को शीघ्र ही आराम हो महाराज ने उत्तर दिया, 'आनंदमयी माता की प्रार्थना करो, वही सर्व दुःख—सर्व व्याधि-दूर करने-वाली है।' फिर महाराज केशवबाबू से बोलेः—

सब माता की सत्ता।

मकान के अन्दर बहुत न घुसे रहा करो। स्त्री-बच्चों में रहने से परमात्मा की ओर का ध्यान नष्ट हो जायगा और वे तो मायाजाल में पड़े हैं। तेरी मित्रमण्डली, यदि भगवान् की कथा तेरी इच्छा अनुसार तुझे सुनावे, तो उसी में तेरा सच्चा कल्याण है।

गम्भीर सूचना।

महाराज गम्भीरता के साथ यह बोले; परन्तु क्षण में ही उनकी गम्भीरता नष्ट होकर एकदम वे बालकवृत्ति पर आगये। वे हंस कर केशवबाबू से बोले, 'ला, '' तेरा हाथ तो देखूं!' उन्होंने केशवबाबू का हाथ अपने हाथ पर रख कर धीरे धीरे उसको उठा कर, उसका वजन देखने लगे। कुछ देर में बोले, 'नहीं, ठीक है; तेरा हाथ हलका है। जो दुष्ट होते हैं, जिनके शारीरिक, मानसिक और वाचिक आचरण दुष्टता के होते हैं, उनके हाथ कठोर होते हैं। (सब हंसने लगे)

उमानाथ दरवाजे के पास से फिर बोला, 'महाराज माता ऐसा कहती है कि आप केशवबाबू को आशीर्वाद दीजिये।

श्रीरामकृष्ण (गम्भीरता से):—मेरे हाथ से क्या होगा? आशीर्वाद माता देवेगी। सब सूत्र उसके हाथ में हैं। माता, अपना काम वही करती है; परन्तु अभी है और क्षण में नहीं, ऐसी जिसकी अवस्था, उसी के लिए मनुष्य मूर्खता से कहता है कि यह सब कर्तृत्व मेरा ही किया है।

ईश्वर दो प्रसंगों पर खूब हंसता है। एक प्रसंग तो ऐसाः— दो भाई आपस में, बड़ी खुशी के साथ, जमीन को नाप कर हिस्सा करते हैं, और कहते हैं, 'यह मेरा हिस्सा और यह तेरा।' ईश्वर इस प्रसंग पर हंस कर कहता है, 'सब जगत् वास्तविक मेरा है, परन्तु यह बात वे भूल जाते हैं और भ्रम-वश से ऐसा कहते हैं कि, 'यह जमीन मेरी और यह तेरी।'

दूसरे प्रसंग में ईश्वर इस तरह हंसता है कि किसीके लड़के का अन्तिम समय आ पहुंचा, उस समय उसकी माता बहुत रोती है, तब वैद्यराज उस माता से ऐसा कहते हैं, 'देवी, तुम क्यों घबड़ाती हो? घबड़ाने का कोई कारण नहीं! मैं तो हूं, अभी तुम्हारे लड़के को अच्छा करता हूं।' उस अज्ञानी वैद्य को यह नहीं समझ पड़ता कि ईश्वर जिसको मारने के लिए उद्यत है, उसको पामर आदमी नहीं बचा सकता! (सब बिलकुल स्तब्ध हो जाते हैं)

इतने ही में केशवबाबू को खाँसी आई। बहुत देर हुई तिस पर भी खाँसी बन्द नहीं हुई! उस साधु पुरुष को दुःखित देख कर सब मण्डली अन्तःकरण से बिलकुल व्याकुल हो गई। सब कोई यह कहता था कि एक दफे तो खाँसी बन्द हो। राम-राम इनको कैसा कष्ट हो रहा है। बाद को एक दफे रुकी, परन्तु फिर केशवबाबू में बैठने को सामर्थ्य न रही। उन्होंने, जमीन पर सिर रख कर, महाराज को प्रणाम किया। प्रणाम करने के बाद पहिली तरह दीवाल को पकड़कर, धीरे धीरे बड़े कष्ट से,वे अपनी कोठरी में चले गये।

बिन्दु २७।

महाराज के दक्षिणेश्वर जाने के पहिले ही किसीने उनके सामने मिठाई लाकर धर दी। मण्डली के साथ इनका भाषण चल रहा था। केशवबाबू का बड़ा लड़का आकर महाराज के पास ही बैठा था।

अमृत बोला, 'यह उनके ज्येष्ठ चिरंजीव हैं, आप उनको आशीर्वाद दीजिए।' महाराज उसके पीठ पर हाथ फिरा कर उसका प्यार करने लगे। तब अमृत फिर बोला, 'यह क्या महाराज ? मस्तक पर हाथ फेर कर इनको आशीर्वाद दीजिए।' महाराज ने उत्तर दिया, "आशीर्वाद देना मेरा काम नहीं है, यह माता का काम है"। आशीर्वाद वही सिर्फ देनेवाली है।' ऐसा कह कर उस लड़के पर फिर हाथ फिराने लगे।

आशीर्वाद देनेवाली माता ही है, दूसरा कोई नहीं।

अमृत (सहास्य):—ठीक है महाराज, इसके शिर पर आप ही का हाथ फिरा तो बहुत हुआ। (सब हंसते हैं।)

अनन्तर केशवबाबू के अमृत आदि शिष्यों के पास वे, केशवबाबू के सम्बन्ध में, बात-चीत करने लगे।

रामकृष्णः—'तेरा रोग अच्छा हो,' ऐसा आशीर्वाद देने की सामर्थ्य मेरे शरीर में नहीं है। ऐसी सामर्थ्य मैं अपनी माता से कभी नहीं मांगता। माता से सर्वदा यही मांगता हूं:—'माता सिर्फ मुझे शुद्ध भक्ति दे, मान नहीं। यही द कि बस हुआ।' आदमियों के रोग अच्छा करके जगत् को चमत्कार दिखाने का सामर्थ्य मैं माता के पास कभी नहीं मांगता।

परमात्मा से मांगना।

केशवबाबू क्या छोटा है ? उसकी कितनी योग्यता है। वैसा हो जिन लोगों की दृष्टि में परमेश्वर जान पड़ता है वे लोग भी उसको मानते हैं; और परमात्मा की भक्ति के बिना जिसको दूसरा कुछ नहीं, ऐसे को साधु लोग ही खातिर करते हैं।

केशवबाबू की योग्यता।

एक दफे मैं दयानन्द से मिलने के लिए गया। वह बाग में रहता था। उस दिन केशव भी वहां आनेवाला था; परन्तु उसकी आतुरता का क्या वर्णन किया जाय ? केशवसेन, केशवसेन कहता हुआ वह भीतर-बाहर जाता-आता था ! 'क्या केशवसेन आये !' केशवसेन कब आवेंगे, ?' यही उसका अभ्यास हो रहा था ! उस दिन मैंने वहां देखा, कि केशव के आने की ही सारी बातें हो रही थीं !

दयानन्द बंगाली भाषा को 'गौडाएड भाषा' (?) कहा करते थे। मुझे मालूम होता था, कि केशव वैदिक देवता नहीं मानता और होमहवन का प्रयोजन भी उसको मालूम नहीं है। तब दयानन्द ने कहा कि, 'यदि ईश्वर ने इतने पदार्थ बनाये हैं तो उसको देवता बनाना क्या कठिन है !'

महाराज, केशवबाबू के शिष्यों के पास, उनके गुणानुवाद फिर गाने लगेः—केशव बुद्धि हीन—नीच बुद्धि—नहीं। गुरुत्व की घृणा घमंड उसमें नहीं। बहुत दफे उसने अपने शिष्यों से ऐसा कहा है कि, 'तुम दक्षिणेश्वर को जाओ, वहां तुम्हारी सब शंकाओं का समाधान होगा।' मेरा ऐसा स्वभाव है; मैंने कहा, 'केशव और भी करोड़ गुणा बढ़े,' मुझे मान करना ही क्या ?

गुरु का नाम।

केशव बड़ा आदमी है—उसको सम्पत्तिवान् संसारी लोग मानते हैं और साधु भी मानते हैं।

मिठाई खाने के बाद महाराज गाड़ी की ओर जाने के लिये उठे। ब्राह्मभक्त उनको पहुंचाने के लिए, उनके साथ ही साथ, ऊपर से नीचे आये।

नीचे की ओर बिलकुल अंधेरा पड़ा था। जीना के उतरने में उनके ध्यान में जो आया वह अमृत आदि भक्तों से कहने लगे, 'सब जगह उजेला करना चाहिए, क्योंकि तमाम घर में माता रहती है। घर में यदि इधर-उधर उजेला नहीं हुआ तो वहां दरिद्र आता है; अतएव ऐसा अंधेरा कहीं न रखना।

अपने घर में माता रहती है।

दो तीन शिष्यों के साथ महाराज गाड़ी में बैठ कर दक्षिणेश्वर को चले गये।

बिन्दु २८।

दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के एक दिन का सहवास।

ता० १६ अगस्त सन् १८८३ ई० श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को रविवार का दिन था, इस कारण सब को फुरसत थी; अतएव श्री रामकृष्ण के दर्शन करने, दक्षिणेश्वर के काली-मंदिर में, झुंड के झुंड आदमी आते थे। जो कोई आता उससे महाराज प्रेम-पूर्वक बात-चीत करते। उनके दर्शनों के लिये सब प्रकारके आदमी—साधु, परमहंस, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, शाक्त, वैष्णव, पुरुष और स्त्री—आते थे। रानी रासमणी, तुम धन्य-वाद के योग्य हो, क्योंकि तुम्हारे ही पुण्याचरण के कारण इस देवालय की स्थापना हुई, जिसमें कि आज हजारों आदमी महा-राज के दर्शन करने को आते हैं।

यह भावना रखता है कि 'मैं बद्ध हूं' 'मैं बद्ध हूं' तो वह अवश्य बद्ध रहता है—उसकी कभी गति (मुक्ति) नहीं होती। इसी तरह जो ऐसा कहता है कि 'मैं पापी हूं,' 'मैं पापी हूं'। उसका निस्सन्देह पतन होगा। मनुष्य को ऐसा ही कहना कल्याणकारी है कि, 'भक्तवत्सल परमात्मा का मैं नामोच्चारण करता हूं; अतएव मेरे पास पापों का आना असम्भव है। मैं किसी तरह बन्धन में नहीं पड़ सकता हूं।'

बाद को एम की ओर घूम कर बोलेः—देखो, "हृदय* का ऐसा पत्र आया है कि 'मेरी तबियत बहुत खराब है इससे मेरे चित्त में खिन्नता हो रही है; न मालूम यह दया का कारण है या माया का।"

एम बिचारा क्या बोल सकता था? वह स्तब्ध हो रहा।

श्रीरामकृष्णः—क्या यह तुझे मालूम है कि माया किसे कहते हैं? माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र, भतीजा-भतीजी, इत्यादि आत्मिक जनों के सम्बन्ध से जो प्रेम उत्पन्न होता है उसे माया कहते हैं और सर्व जीवों के सम्बन्ध से जो प्रेम उपजता है उसे दया कहते हैं। अब मेरे मन की ऐसी स्थिति हुई है वह माया से या दया से?

माया और दया।

हृदय ने मेरी बहुत सेवा की। छोटे से छोटे काम के लिये भी उसने कभी आगा-पीछा नहीं किया, परन्तु उत्तरोत्तर, उसी प्रकार मुझे उसने दबाया भी बहुत। इतना उसने मुझे छला कि उसके

---

* हृदय मुकर्जी (मुखोपाध्याय), श्रीरामकृष्ण का पुराना सेवक है। इसने बीस वर्ष तक दक्षिणेश्वर में रह कर परमहंस की एक निष्ठ सेवा की थी। वह उनका दूर के नाते से भतीजा था। हुगली जिला के सिओड़ नामक गांव में उसका जन्म हुआ था और कमारपूरकर में परमहंसजी का जन्म हुआ था। दोनों गावों में दो कोस का अन्तर था। वह ६२ वर्ष की अवस्था में, अप्रेल सन १८९९ में, स्वर्गवासी हुआ।

अपने अहंकार को नष्ट करने के लिये वे माता से कहते, मातजी ! मेरे अहंकार का नाश कीजिये ।' अपने अहंकार को नष्ट करने के लिये उन्होंने कई अनहोनी बातें भी कीं और अपने विचारों पर विजय पाई ।

रामकृष्ण में सत्यनिष्ठा का अपूर्वगुण था । वे प्रत्येक कार्य अपनी अनुपम निष्ठा से किया करते थे । मुख्यतः इसी कारण वे सच्चे कर्मवीर पुरुष कहलाए । इसके अतिरिक्त आहार, निद्रा, भय इत्यादिक अवगुणों को भी उन्होंने अच्छी तरह से धर दबाया । जिससे उनके स्वास्थ्य पर कुछ बुरा सा प्रभाव तो अवश्य ही पड़ा । वे अपने इष्ट हेतु की सिद्धि के लिये अपने खाने पीने तक की बिलकुल चिंता नहीं करते । उनका भाँजा ' हृदय ' उनकी तन मन से सेवा करता था । एक बार उनके बहुत से मित्र उनसे मिलने के लिये आए । सभी आदमी बैठे थे, इतने में रामकृष्ण के मन में न मालूम कौन सी लहर आई और वे उस धुन में, वहां से उठकर चल दिये । तब हृदय ने सभी लोगों से कहा, ' आजकल रामकृष्ण परम ईश्वरभक्त बन गए हैं । अब उन्हें बाह्य जगत् का विस्मरण हो गया है । ' रामकृष्ण ने हृदय के इस वाक्य को सुन लिया । वे एकदम भीतर गए और बोले, ' हृदय, तू पागल तो नहीं हो गया है ? अरे, तू इनके वैभव पर भूलकर व्यर्थ ही मेरी बड़ाई क्यों कर रहा है ? ' तदुपरांत आगत सज्जनों को उद्देश्य कर वे बोले, 'मित्रो ! हृदय का कहना निर्मूल है । ईश्वर की भक्ति के कारण मुझे बाह्य जगत् का विस्मरण नहीं हुआ, वरन यहांपर आनेवाले संतों के वचनों को आचार रूप में परिणत करने से मेरी मनः स्थिति चंगी नहीं है । उनके उस वाक्य के श्रवण करने से सभी मित्र परमानंद में पुलकायमान हो गए ।

एक बार कलकत्ते में एक सर्वशास्त्रज्ञ विदुषी आई । जब उसने रामकृष्ण को देखा तब कहा ' लोग कहते हैं कि राम-

(एम से) भला इसका क्या कारण है, क्या तू इसका कारण बतला सकता है ?

एम को कुछ उत्तर न आया, वह चुप रहा।

श्रीरामकृष्णः—जो जैसा कर्म करता है, उसको वैसा फल मिलता है—उसके कर्म-फल नहीं छूटते । संस्कार, प्रारब्ध आदि को मानना ही चाहिए। (एम से) उस खंडहर मकान में एक बात मैंने देखी, वह यह कि उस देवी के मुख पर मूर्तिमंत तेज विराज रहा था। देवताओं की मूर्ति में परमेश्वर का आविर्भाव रहता है। इस बात को सत्य मानों कि मूर्ति में परमात्मा बसता है।

मूर्ति में ईश्वर रहता है।

मैं एक समय विष्णुपुर को गया था। वहां के राजा ने वहां पर कई एक अच्छे अच्छे मन्दिर बनवाये थे। उनमें से एक मन्दिर में भगवती की मूर्ति थी। देवी का नाम मृण्मयी था। उस मन्दिर के सामने एक तालाब था (एम से) परन्तु उस तालाब में सुगन्धित तेल की बास आती थी। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा कि किससे पूछूं, किन्तु फिर मालूम हुआ कि यहां पर देवी के दर्शन के लिये जो स्त्रियां आती हैं वे देवीजी पर सुगन्धित तेल चढ़ाती हैं वही तेल बह-बह कर तालाब में आता है, इसीसे तालाब में तेल की बास आती है। अस्तु तालाब के किनारे पर मेरी समाधि लग गई। उस समय तक मैंने देवी (मृण्मयी) के दर्शन नहीं किये थे, परन्तु उस समाधि में देवीजी के मय उनके स्थान के, दर्शन हुए। माता ने मृण्मयी रूप से दर्शन दिये।

इतने ही में अन्य भक्त मण्डली आगयी। कुछ देर में काबुल के युद्ध और वहां के राज-काज पर बात-चीत होने लगी। किसी भक्त ने रामकृष्ण से कहा कि महाराज याकूबखां सिंहासन-च्युत हुआ; परन्तु वह बड़ा भक्त था।'

भक्तों के सुख दुःख।

रामकृष्णः—भाई देह का नाम लिया कि सुख-दुःख आये ही जाते हैं। कवि कंकण के 'चंडी' में ऐसा लिखा है कि, महाभक्त कालुवीर एक दफे कारागृह (जेलखाने) में गया! वहां उसके छाती पर बहुत बड़ा पत्थर रखा गया! परन्तु वह भगवती का बड़ा भक्त था।

तात्पर्य यह है कि देह-धारण करते ही सुख दुःख पीछे लगते हैं।

एक श्रीमान् बड़ा भक्त था! उसकी माता खुलना की भगवती पर बहुत प्रेम था; परन्तु उस श्रीमान् को बहुत विपत्ति भोगना पड़ी। अन्त में वह फांसी से उसकी मौत हुई?

एक गरीब आदमी था, वह भी बड़ा भक्त था। वह जंगल में लकड़ी तोड़ता रहता और उन्हींको बेच कर अपना निर्वाह करता। ईश्वर-कृपा से उसको माता के—भगवती के—दर्शन हुए भगवती का उस पर बहुत प्रेम, बहुत कृपा थी! परन्तु रोज के धन्धे की खट-पट उसकी नहीं छूटी! पेट के लिये उसको लकड़ी तोड़ कर बेचना ही पड़ता था।

ऐसा कुछ नियम नहीं है कि भगवान् के भक्त को सांसारिक कार्यों में सुस्थिता ही प्राप्त होती रहे। भगवान् का भक्त यदि कदाचित् दरिद्री है तो उसका मन—वह मन में बड़ा श्रीमान् है। शंख, चक्र,गदा और पद्म के धारण करनेवाले भगवान् का दर्शन यद्यपि देवकी, वसुदेव को, कारागृह में हुआ; परन्तु उस समय वे कारागृह से कुछ मुक्त नहीं हुए। पूर्व जन्म के कर्म तो भोगना ही पड़ते हैं।

एमः—कारागृहवास? मुझे मालूम होता है कि सब दुःखों का घर जो यह देह उसीसे उसको मुक्ति होना उचित था।

महाराजः—ठीक है, पूर्व जन्मों के कर्मानुसार देह की प्राप्ति होती है। देह का कारण प्रारब्ध ही मुख्य है। जब तक कर्म-फल पूरे नहीं होते हैं तब तक देह से मनुष्य को काम लेना

चाहिए। एक अंधा था, उसने जब गंगा-स्नान किये तब उसके सब पाप धो गये—नाश हुए—परन्तु उसका अन्धापन नहीं नष्ट हुआ—उसको अच्छी तरह नहीं देख पड़ने लगा। जो पूर्व जन्म के कर्म हैं उनके फल तो भोगना ही पड़ेंगे!

एम:—जो बाण धनुर से छूट गया वह अपना कार्य करे हीगा। भला उस बाण पर फिर किसका उपाय चल सकता है?

महाराज:—देह सुखी किंवा दुखी हो; परन्तु यदि कुछ हुआ तो असल भक्त जो है वह आत्मैश्वर्य में ही—ज्ञान और भक्ति के ऐश्वर्य में ही—दिन रात रंगा रहता है। पांडवों का उदाहरण ही देखो तो कितनी विपत्ति उनको भोगना पड़ी; कैसे संकट उनके ऊपर आये; परन्तु ऐसी कठिन आपत्ति में भी उन्होंने भगवान् के ऊपर से, तिलमात्र भी श्रद्धा, भक्ति और निष्ठा नहीं हटाई, उनके समान ज्ञानी और उनके समान भक्त क्या कहीं है?

बिन्दु ३०।

विवेकानन्द:—महाराज की समाधि।

इतने में नरेन्द्र और विश्वनाथ उपाध्याय आये। विश्वनाथ उपाध्याय, नेपाल के राजा के यहां वकील थे। महाराज इनको कप्तान कहते थे; अतएव इनके सब शिष्य भी इनको उक्त नाम से सम्बोधन करते थे। नरेन्द्र उस समय करीब करीब २२ वर्ष का था उस समय वह बी० ए० कक्षा में पढ़ता था। कभी कभी—विशेषतः रविवार को—वह महाराज के दर्शन करने आया करता था उसी तरह आज भी आकर महाराज को प्रणाम करके बैठ गया

महाराज ने उससे गाने को कहा। यह सुन कर उसने, दीवाल पर टंगे हुए, तम्बूरे को हाथ में लेकर उसके स्वर मिलाने के

लिए उसकी खूंटी ऐंठने लगा। सब लोग इस अभिलाषा से कि कब गाना शुरू होता है, उसकी ओर देख रहे थे।

महाराज (नरेन्द्र से):—इस समय पहिले की तरह बाजा ठीक नहीं बजता।

कप्तानः—इस समय वह पूर्ण हो गया है! इसीसे बराबर आवाज़ नहीं निकलती। यह पूर्ण भरे हुए (उपर तक भरे हुए) घड़े के समान है।

महाराजः—फिर नारदादि के सम्बन्ध में तुम क्या कहते हो? वे सिद्ध-कोटि में जाने पर भी कीर्तन करते थे। वे पूर्ण थे तिस-पर भी गाते थे—शब्द निकलते थे।

कप्तानः—जड़ जीवों के कल्याण करने के लिये वे बोलते—कीर्तन करते—थे।

महाराजः—सत्य है। नारद और शुकदेव समाधि छोड़ कर बाह्य ज्ञान में आते थे। जो जीव दुःख में विकल—त्रिविध तापों में फंसे थे—उनके उपर उनकी दया आई। केवल पर-हित के लिए ही वे बोलते—गाते—थे।

नरेन्द्र गाने लगे। गीत के 'सच्चिदानन्द, नन्दामृतनिलय' इत्यादि शब्द सुनते ही महाराज पूर्ण समाधि में मग्न होगये! वे हाथ जोड़ कर, आसन जमाकर बैठे थे। आनन्द मयी माता के ध्यान में खूब मग्न थे। उस समय जागृत होने के कुछ चिन्ह नहीं देख पड़ते थे! उनका बाह्य ज्ञान शून्य हो गया। नहीं जान पड़ता था कि श्वास चल रहा है या नहीं, कोई भी अंग हिलता-डुलता नहीं था! पलक का लौटना बन्द हो गया था! केवल चित्र के समान बैठे थे। यह राज्य—यह इंद्रियगम्य जग—छोड़ कर वे कहीं दूर स्थान में चले गये थे।

बिन्दु ३१ ।

समाधि भंग हुई; परन्तु समाधि भंग होने के पहिले ही, अर्थात् जिस समय महाराज समाधि में मग्न थे उस समय नरेन्द्र बाहर चला गया था। हिरा जहां पर आसन पर बैठ माला जप रहा था वहां पर नरेन्द्र आया और उससे कुछ बात-चीत करने लगा।

उस समय महाराज की कोठरी आदमियों से—भक्तों से—खूब भर गई थी। समाधि-भग्न होने के बाद महाराज ने नरेंद्र को देखने के लिये सर्व भक्त-मण्डली भर देखा; परन्तु नरेंद्र कहीं दृष्टिगोचर न हुआ। तम्बूरा जमीन पर रक्खा था। भक्त गण उत्साह से महाराज को ध्यान से देख रहे थे।

महाराजः—(नरेन्द्र को उद्देश्य कर) उसने एक दफे अग्नि चैतन्य कर दिया। अब उसमें गया क्या और रहा क्या! (कप्तान और अन्य भक्तों से) सच्चिदानंद का चिन्तन करो; तभी तुमको आनन्द होगा। चिदानन्द यहां, वहां और सर्वत्र है; केवल विक्षेप का—अज्ञान का—उसके ऊपर आवरण पड़ा है। विषयासक्ति जितनी कम होगी, उतनी ही ईश्वर पर भक्ति बढ़ेगी।

कप्तानः—जैसे जैसे हम कलकत्ता में—अपने घर के नजदीक आते हैं, वैसे वैसे काशी से दूर होते हैं; और जैसे जैसे काशी के नजदीक जाते हैं, वैसे वैसे घर से दूर होते जाते हैं।

महाराजः—श्रीमती राधा जैसे जैसे कृष्ण के पास आती थी वैसे वैसे मनोहर देह की मधुर गन्ध उसे अधिकाधिक मालूम होती थी। नदी जितनी समुद्र के नजदीक रहती है उतनी ही उसकी बाढ़ की शक्ति में अधिक जोर होता है। इसी तरह मनुष्य जैसे जैसे ईश्वर के समीप जाता है वैसे ही वैसे उसकी भक्ति बढ़ती जाती है।

ज्ञान का (वेदान्त) अन्तरंग और बहिरंग का एक ही पथ एकांगी, है उसको सब संसार स्वप्नवत् मालूम होता है। वह सर्वदा स्वस्वरूप ही में रंगा रहता है; परन्तु भक्तों का अन्तरंग और बहिरंग एकांगी नहीं है, वह कम-ज्यादा होता रहता है। भक्त हंसता है, रोता है, गाता है और नाचता है। भक्त को उसके साथ क्रीड़ा करना अच्छा लगता है। ईश्वर रूपी समुद्र में वह स्नान करता है, डुबकी लगाता है, आनन्दपूर्वक फिर बहार आता है। जैसे पानी में तैरनेवाला बर्फ का टुकड़ा इधर-उधर लौट-पोट होता रहता है, वैसे ही ईश्वर रूपी समुद्र में भक्त लोग करते हैं। (सब हंसते हैं)

ज्ञानी और भक्त। ब्रह्म और शक्ति।

ज्ञानियों की यह इच्छा रहती है कि मुझे ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हो और भक्तों की यह इच्छा रहती है कि मुझे षड्गुणैश्वर्य्यपूर्ण, सर्व शक्तिमान् भगवान् प्राप्त हो; परन्तु ब्रह्म और शक्ति में कुछ भेद नहीं है। मणि और ज्योति (तेज) की वियुक्तभावना कोई नहीं कर सकता; मणि के कहते ही ज्योति की भावना मन में आ ही जाती है; अच्छा 'ज्योति' कहें तो तुरंत ही मणि की भी भावना आ जाती है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म एक ही है—अद्वितीय है—आत्मशक्ति से वह आविर्भूत हुआ है। शक्ति—भेद से नामरूपात्मक उपाधि—भेद उसके पीछे लग गये हैं, अर्थात् उसकी आविर्भूत शक्ति के विविध भेदों के कारण उसको नानारूप और नाना नाम प्राप्त हुए हैं। जहां कार्य्य (सृष्टि, स्थिति और लय) है, वहां शक्ति है जैसे पानी पानी ही है—चाहे यह स्थिर रहे अथवा चले। उसी तरह परब्रह्म और शक्ति में कुछ भेद नहीं। जो सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म है। वही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करनेवाली आदिशक्ति है। 'कप्तान' कप्तान ही है; वह शान्त बैठा

हो तो भी कप्तान है और पूजा करता हो तो भी कप्तान है, तथा लाट साहब से मिलने गया हो तो भी वह कप्तान ही है। यह तो उसकी उपाधि विशेष है।

कप्तानः—हां सत्य है महाराज।

महाराजः—केशवसेन को भी मैं ऐसा ही कहता हूं।

कप्तानः—केशवसेन भ्रष्टाचारी—स्वेच्छाचारी है। उसको साधु किस तरह कहें? वह तो केवल बाबू है—साधू नहीं।

महाराजः—(भक्तों की ओर घूम कर सस्मित) केशवसेन के यहां कभी मत जाओ ऐसा सदा का, कप्तानका कहना है।

महाराज (दुःखित होकर):—तुम तो लाट साहब के यहां जाते हो जो तुम्हारे शास्त्र के अनुसार म्लेंछ माना जाता है, और वह भी केवल पैसे के लिये! और मैं केशवसेन के पास क्यों न जाऊं? वह तो ईश्वर-चिन्तन करता है, ईश्वर नाम लेता है! 'ईश्वर, माया, जीव और जगत् यह सब एक ही है; ईश्वर ही ने सब जीव और जगत् का रूप धारण किया है' ऐसा तुम सदा कहते हो; अतएव तुम्हारे मुख से उक्त उद्गार निकलने में शोभा नहीं होती। "खाने के दांत और दिखाने के दांत और" ऐसा मत करो।

ऐसा कह कर महाराज एकदम कोठरी से बाहर चले गये। कप्तान और अन्य भक्त उनके प्रत्यागमन की मार्गप्रतीक्षा करते हुए कोठरी में बैठे रहे, केवल एम ही उनके पीछे-पीछे गया।

हज्रा और नरेन्द्र पहिले ही से बात-चीत कर रहे थे। रामकृष्ण को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि हज्रा पक्का अद्वैतवादी है, वह केवल ज्ञान-विचार में रमनेवाला है, अतएव वह बिलकुल शुष्क है। वह सदा यही कहा करता था कि "जग स्वप्नवत् है; पूजा, नैवेद्य आदि सब मन की भूल है। ईश्वर अव्यक्त और अविकारी है। मनुष्य को निरंतर स्वस्वरूप का चिन्तन

करना चाहिए, दूसरे किसीका चिन्तन न करना चाहिए। 'अहं ब्रह्मास्मि' ही सत्य है।

महाराज (सहास्य):—क्यों वहां जाकर, क्या बात-चीत कर रहे हो?

नरेन्द्र (सहास्य):—हमारी क्या, हम लोगों का बड़ा गम्भीर विषय चल रहा है जो साधारण आदमी की समझ में नहीं आ सकता।

महाराज (सहास्य):—तुम कुछ भी बोलो, परन्तु शुद्ध भक्ति और शुद्ध ज्ञान दोनों एक ही हैं। शुद्ध ज्ञान जिस पद पर मनुष्य को बैठा देता है उसी पद पर शुद्ध भक्ति भी मनुष्य को बैठा देती है। भक्तिमार्ग साधारण, सरस, अच्छा और सरल मार्ग है।

नरेन्द्रः—सत्य है, केवल ज्ञान-विचार करने से हाथ नहीं लगता। माता, तेरी भक्ति में मैं पागल हो जाऊं (एम से):—देखो, मैं आजकल हामिलन (हामिलन नामक अंग्रेज़ी तत्वज्ञानी) का एक ग्रंथ पढ़ रहा हूं उसमें लिखा है कि:—"A learned ignorance is the and of philosophy and the beginning of Religion"

महाराज (एम से):—इसका क्या अर्थ?

नरेन्द्रः—तत्वज्ञान का अभ्यास पूर्ण हुआ कि, पढ़ा हुआ मनुष्य मूर्ख हो जाता है; और फिर शीघ्र ही धर्म की ओर उसकी प्रवृत्ति हो जाती है। *

---

* मनुष्य को अपनी बुद्धि का स्वाभाविक घमंड होता है। उसको ऐसा मालूम होता है कि हम अपनी बुद्धि के बल पर विचार करते करते सृष्टि के मूल भाग के गूढ़ तत्वों का अभिप्राय समझने लगेंगे। उसी भ्रम में वह विचार करने लगता है। अपने मतानुसार कुछ सिद्धान्त नियत करता है, परन्तु किसी विशिष्ट मर्यादा तक जाने के बाद उसकी बुद्धि थक जाती—कुंठित हो जाती है। अपनी बुद्धि-शक्ति अपनी मर्यादा शक्ति तक पहुंची तौभी अनेक दुर्बोध बातों

श्री रामकृष्णः—हँस कर बोले (थैंक यू) मैं तेरा कृतज्ञ ह
यह सुन कर सब लोग हंसने लगे; कारण कि पांच-चार श
इधर-उधर के जानने के सिवाय आपको अंगरेजी का कुछ श
नहीं था।

बिन्दु ३२।

कुछ देर में सन्ध्या-समय होनेवाला था ऐसा जान सब लोग महाराज की आज्ञा लेकर अपने अपने स्थान को चले गये। नरे भी चला गया।

सन्ध्या समय हुआ। फरास मंदिर में दीपक आदि जलाने वाले दीपक जलानेका प्रबन्ध करने लगे। काली और विष्णु के पुजारी गंगाजी में कमर तक खड़े होकर, बाह्य और अन्तर शरीर शुद्ध करने के लिये समंत्र स्नान जल्दी जल्दी करते थे, क्योंकि जल्दी ही जाकर उन्हें देवताओं की आरती करनी थी। दक्षिणेश्वर ग्रामवासी युवकगण हाथ में लकड़ी (छड़ी) लेकर; अपने मित्रवर्गों के साथ, हवा खाने के लिये आये थे। वे इधर-उधर गंगा के किनारे फिर कर कुसुमगन्धवाही सन्ध्या समीरण का सेवन करते करते श्रावण मास की गंगा नदी का प्रवाह अवलोकन करते थे। उनमें से जो विशेष चिन्तनशील थे; वे पंचवटी के विजन प्रदेश में भ्रमण करते हुए दीख पड़ते थे।

का विचार अपने को नहीं होता, ऐसा उसको मालूम होने लगता है। मैं अपने को पूरा —सत्य पंडित कहता हूं; परन्तु अखीर में मूर्ख ही हूं, ऐसा उसको मालूम होता है। अपनी बुद्धि का पंगुत्व उसको मालूम होने लगता है। नेत्रों में ऐसा तीव्र अंजन लगते ही ईश्वर-पर उसकी भक्ति खूब हो जाती है। यही धर्म का आरंभ है।

कृष्ण पागल हो गया है, यह बात गलत है। उसकी तो यह भावावस्था है।' फिर उसने रामकृष्ण से कहा बेटा! यदि तुझ जैसे पागल इस दुनियाँ में और भी होते तो दुनियाँ का पगलापन अवश्य ही दूर हो जाता।' उस विदुषी ने रामकृष्ण को योगाभ्यास सिखाया। तब से रामकृष्ण भी अष्टांगयोग साधन करने लगे।

थोड़े दिनों के अनंतर तोतापुरी नामक सिद्ध दक्षिणेश्वर को आए। उन्होंने रामकृष्ण को निर्विकल्प समाधि योग सिखलाया। श्रीरामकृष्ण जैसे वीतरागी महात्मा की संगति में रहने से तोतापुरी को भी बहुत कुछ लाभ हुआ। तोतापुरी ने ही रामकृष्ण को संन्यासाश्रम लेने का अनुरोध किया और वे स्वयं ही उन्हें 'परमहंस' के नाम से पुकारने लगे।

तोतापुरी के चले जानेपर रामकृष्ण निर्विकल्प समाधि का अभ्यास करने लगे। महीनों तक के समाधि चढ़ाए हुए ही रहते थे। तदनंतर उन्होंने वैष्णवभक्ति का स्वीकार किया और स्त्री का वेश धारण कर श्रीकृष्ण के दर्शन करने के उद्योग में लगे रहे।

उन्होंने सिक्ख, मुसलमान इत्यादिक अनेक धर्मग्रंथों का भी अध्ययन किया था। प्रसिद्ध दानशूर शम्भुचरण मलिक के पास उन्होंने बाइबल को भी सुना था। इस प्रकार सारे मतों का अनुभव प्राप्त कर उन्होंने यह ठहराया कि सारे मत सच्चे हैं। धर्मसंप्रदाय केवल प्रभु की ओर पहुंचानेवाले भिन्न भिन्न मार्ग हैं।

वे अपनी पत्नी को बिलकुल ही भूल गए थे। पर, जब श्रीशारदा देवीजी बहुत से लोगों के द्वारा सुना कि रामकृष्ण ईश्वरभक्ति से पागल हो गए हैं, तब उन्हें अपने पति के दर्शन करने की इच्छा हुई। श्रीरामकृष्ण ने उनका दक्षिणेश्वर में अच्छी तरह से स्वागत किया और कहा, 'पहिले का रामकृष्ण

भगवान् रामकृष्ण भी पश्चिम की तरफ खड़े रह कर कुछ देर तक गंगा का दर्शन-सुख लेते रहे।

बिलकुल सन्ध्या समय हुआ। फरासों ने मंदिरों में जहां-तहां दीपक जलाया। वृद्ध दासी ने आकर रामकृष्ण की कोठरी में दीपक जलाया और धूप दिया, इतने ही में बाहर शिव के मंदिरों में आरती शुरू हुई। तत्पश्चात् तुरन्त ही विष्णु और काली के मंदिर में भी आरती शुरू होगई। शङ्ख, झांझ, घंटा आदि की आवाज कर्णेन्द्रिय को सुख देने लगी; सन्निध बहती हुई कलकलनिनादिनी गंगा में यह प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण उनका—मंदिरों का—गाम्भीर्य और माधुर्य बहुत ही शोभायमान् लगता था।

उस दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा थी; इसलिये चन्द्रोदय भी शीघ्र हुआ। चन्द्रमा की आल्हादजनक किरणों से उपवनस्थ वृक्षों की चोटियों और देवालयों के शिखरों की शोभा धीरे धीरे प्रगट होकर बढ रही थी। ज्योत्स्नास्पर्श से सुप्रकाशित होने के कारण मानो आनन्द में आकर भागीरथी-सलिल प्रवाहित होते हुए नृत्य करने लगी है।

संध्यासमय होने के पश्चात् महाराज ने जगन्माता को नमस्कार किया और भजन करने लगे। उनकी कोठरी में अनेक देव, सत्पुरुष और भगवद्भक्तों की तसवीरें थीं। भक्तगणोंसहित नाम-संकीर्तन में तल्लीन हुए। प्रत्येक तसबीर के सामने जाकर उस देवता का नाम लेकर उसको प्रणाम करने लगे। अनंतर सदा की तरह अद्वैत सूचक तथा प्रिय लगनेवाली बातें करने लगेः—

(१) ब्रह्म-आत्मा-भगवान्, अद्वैतवादियों का 'ब्रह्म' योगियों की 'आत्मा' और भक्तों का 'भगवान्' तीनों एक ही हैं—यही वेदान्त, योग और भक्ति का समन्वय है।

(२) भागवत-भक्त-भगवान्, भजन-भक्त और भज्य यह त्रिपुटी एक ही है।

(३) ब्रह्म-शक्ति, शक्ति-ब्रह्म, सगुण और निर्गुण यह एक ही है।

(४) वेद-पुराण-तन्त्र अनेक शास्त्र हैं, परन्तु इनका विषय एक ही परमेश्वर है।

(५) गीता-गायत्री।

(६) शरणागत-शरणागत।

(७) नाहं, नाहं-तुम तुम-मैं नहीं, मैं नहीं; परन्तु तू। सत्य कर्तृत्व तुम्हारा है, मैं तो केवल तुम्हारे हाथ का एक खिलौना हूं।

(८) मैं यंत्र, तुम यंत्री। मैं यंत्र हूं। तुम यंत्र-चालक हो। इसी प्रकार अनेक बोध-वचन कहते हुए महाराज जगन्माता को हाथ जोड कर, चिन्तन करने लगे। सन्ध्या-समय दो-चार भक्त गंगा किनारे, जंगल में वायुसेवन के लिये आये थे; मंदिरों की आरती होने के बाद कुछ देर में, एक एक करके वे सब भक्त रामकृष्ण के दर्शन करने गये। रामकृष्ण चारपाई पर बैठे थे, एम, अधर और किशोर आदि आकर, उनके सामने जमीन पर बैठ गये।

एक ज्ञानगंगाही उसे कहनी चाहिये! उस अमृतरस के स्वाद और आनंद के वर्णन का प्रयत्न करना ही व्यर्थ है।

जिन्हें सुदैव से महाराज की वाणी का अमृतरस-स्वाद प्राप्त हुआ है वे उस आनंद को कभी भूल नहीं सकते।

इस दिन प्रातःकाल को पहिले कीर्तन आरम्भ हुआ। गोपियों का कृष्ण-प्रेम तथा कृष्ण-विरह से राधा की शोचनीय अवस्था का वर्णन जिसमें है ऐसे गीत और भजनों को मण्डली गाने लगी। कभी कभी महाराज गाढ़ प्रेमाकुल भक्ति से समाधिमग्न हो जाते और एकाएक खड़े होकर करुणास्वर से कहने लगते, "सखी, मेरे प्रीतम प्यारे को किसी तरह मेरे पास लाओ अथवा जहां वह हो वहां मुझे किसी तरह ले चलो।"

महाराज को राधाजी की भावना होती और उन्हें पूर्ण विश्वास हो जाता कि मैं स्वयं राधा ही हूं!

उपरोक्त विचार उनके मुंह से निकलने पर वे कुछ काल के लिये निर्वाक् और निःशब्द हो गये। उनका शरीर पुतली के समान स्थिर हो गया। नेत्र अर्ध-निमिलित हो गये और महाराज समाधिमग्न हो गये। कुछ काल के बाद फिर वे होश में आकर बड़े करुणास्वर से कहने लगे "सखी यदि तुम मेरा इतना कार्य करोगी तो तुम्हारा कितना उपकार मुझ पर होगा?" देखो, कृष्ण प्रेम का पहिला पाठ मुझे किसने पढ़ाया? तुमने ही; अवश्य तुमने ही पढ़ाया।" महाराज के इन वाक्यों में ऐसी प्रगाढ़ प्रेमलक्षणा भक्ति भरी हुई थी कि जिन जिन लोगों ने उस समय उन्हें यह कहते हुए सुना उनके नेत्रों से आंसू बहने लगे; भक्तों का भजन फिर आरम्भ हुआ। इस समय वे जो पद गा रहे थे उसका भावार्थ यह था,—"सखी, अब मैं जमुनाजल भरने कभी न जाऊंगी; क्योंकि जब जब मैं उधर जाती और कदम्ब वृक्ष का मुझे दर्शन होता है तब तब प्रीतम प्यारे की प्रिय मूर्ति मेरे आगे खड़ी सी जान पड़ती है और फिर मैं अत्यंत

प्रेमाकुल हो जाती हूं।" महाराजने दीर्घ श्वास निकाल कर कहा हाय! हाय!! ज्योंही पद्य पूरा हुआ त्योंही भजनी लोग नामस्मरण करने लगे। फिर महाराज खडे हो गये और तुरन्त ही समाधिमग्न हुए। कुछ काल के बाद होश में आने पर वे किष्ट, किष्ट, कहने लगे। वे प्रेममग्न होने के कारण स्पष्टरूप से कृष्ण, कृष्ण, नहीं कह सकते थे। पुनः नामसंकीर्तन शुरू हुआ। मृदंग और करताल बजने लगे। महाराज स्वयं "राधे गोविंद, जय राधे गोविंद" की घोषणा करने और नाचने लगे। भक्त लोग भी उनके साथ उन्मत्त होकर उनके चहुं ओर घेर बांध नाचने लगे। साथ ही "राधे गोविंद जय" की घोषणा चलती थी।

यह सब कीर्तन-समारोह दालान में हुआ। बाद इसके महाराज दालान से लगी हुई पश्चिम ओर की कोठरी में गये।

गोपियों के विषय में बोलते बोलते महाराज एम से कहने लगे। "कैसा विलक्षण उनका अनुराग! तमाल वृक्ष के देखते ही वे प्रेम से पागल सी हो जाती थीं!"

कृष्ण प्रेम।

शिष्यः—चैतन्य देव की भी यही अवस्था होती थी। कहीं अरण्य देखा कि वे उसे वृन्दावन ही समझ लेते थे।

महाराजः—अहाहा! सत्य है। उस शुद्ध प्रेम का एक बिन्दु भी यदि किसीको प्राप्त हो! क्याही वह अनुराग! कैसा शुद्ध प्रेम! केवल सोला आने ही नहीं, कहीं उससे भी अधिक कहिये।

भगवान् राधाकृष्ण अवतारी व्यक्ति थे। इसमें किसी की श्रद्धा रहे या न रहे, इस बात में कोई विशेष महत्व नहीं है। ईश्वरी अवतार पर किसी का (चाहे वह हिन्दू हो या क्रिश्चन) विश्वास होगा, किसीका न होगा, परन्तु भगवान् के प्रति गोपियों के समान अत्यंत अगाढ़ प्रेमलक्षणा भक्ति हृदय में उत्पन्न होने की तीव्र आतुरता प्रत्येक मनुष्य में होनी चाहिये। और

यही तो चाहिय।

चाहिये सो बात यही है। मनुष्य चाहे पागल भी हो जाय परन्तु उसे विषयासक्ति से पागल न होना चाहिये—भगवद्भक्ति से होना चाहिये। महाराज फिर दालान में आ बैठे। शिष्य मण्डली भी उनके पीछे ही चली आई।

उनके लिये वहां एक तकिया धर दिया गया था। बैठते समय महाराज ने "ॐ तत्सत्" मंत्र का उच्चार करते हुए तकिये को स्पर्श किया। हजारों विषयी जन उस जगह आते थे, अर्थात् वे सब ही उस तकिया का उपयोग करते थे और इस प्रकार विषयासक्त लोगों के संसर्ग से वह तकिया दूषित तथा अपवित्र हुआ था। इसी लिये उस की शुद्धि के हेतु महाराज ने उपरोक्त मंत्र का उच्चार किया। विलम्ब बहुत हो गया तथापि अभी तक भोजन की कहीं तयारी नहीं दीखती थी।

शुद्धि ।

महाराज अब बहुत आतुर हो गये। सुरेंद्र यजमान था। वह तो उनका शिष्य ही था, और महाराज का स्वभाव तो बालक के समान था। वे कहने लगे, "क्योंरे, अभी तक भोजन नहीं देता!" "कहां है नरेंद्र?"

एक भक्त—महाराज, रामबाबू व्यवस्थापक हैं। यही आप सब देखते हैं। (सब हंसते हैं)

महाराज—(हंसते हंसते) रामजी तो व्यवस्थापक हैं ना फिर जो हुआ सो ठीक ही है।

एक भक्त—सच है महाराज। जहां रामबाबू के तरफ व्यवस्था होती है वहां सब ऐसे ही होता है। (सब हंसते हैं)

महाराज—सुरेंद्र कहां है? आहा, सुरेंद्र का स्वभाव कितना अच्छा हो गया है। वह बड़ा स्पष्टवक्ता है। सच बोलने में वह कभी किसी को डरनेवाला नहीं है। वह बड़े उदार मन का है कभी कोई उसके पास यदि सहायता मांगने जावे तो खाली हाथ नहीं आता।

(एम की ओर) क्या तू भगवानदास के पास गया था? बोल, वह कैसा आदमी है? इतने में निरंजन आया। वह भी महाराज का शिष्य ही था। उसे देखते ही महाराज सानंद उठ खडे हुए और स्मितमुख से कहने लगे, "कहो, आ गये तुम।" उन्हें अत्यानंद हुआ था।

महाराज (एम से)—यह लडका बड़े ही सरल स्वभाव का है। सरलता भी पूर्व पुण्य का फल है। यदि पूर्व कर्म अच्छा शुद्ध पवित्र न हो तो स्वभाव में सरलता नहीं हो सकती। यदि मनुष्य में वक्रता और कपट हो तो फिर ईश्वर-प्राप्ति का नाम छोड़िये।

सरलता।

देखिये, जहां जहां भगवान् का अवतार हुआ है, वहां वहां सरलता ही देखने में आती है। दशरथ कैसे सरल स्वभावी थे। श्रीकृष्ण के पिता नंदजी कितने सरल थे! लोग यही कहते थे "अहाहा! क्या ही नंद बाबा का स्वभाव है!"

महाराज—(निरंजन से) संसारी लोग जैसी चाकरी करते हैं वैसी तूने भी करली है, परन्तु उसमें भी थोडा फरक है। तूने केवल अपनी माता के लिये नौकरी स्वीकार की है! नहीं तो नौकरी क्या! धिक्! धिक्! भगवान् की ही सेवा तुझको करनी चाहिये। (मणिमलिक से) देखो, यह लडका बड़ा ही सरल स्वभावी है। लेकिन अब यह अधकची बातें छेडना सीख गया है। उस रोज इसने यहां आने का इकरार किया था लेकिन नहीं आता।

भगवान की सेवा।

उसके मुख पर बड़ी बुरी दशा छायी हुई है। उसका चेहरा काला हो गया है। वह तो आफिस का काम किया करता है न! उसी का यह परिणाम है। वहां पर हिसाब, किताब आदि हजारों फसाद मचे रहते हैं।

संसारी सेवा का दुष्परिणाम।

भगवान (एम से):—बहुत दिन हुए आप दक्षिणेश्वर को नहीं गये। महाराज ने तुम्हारे विषय में एक बार मुझ से पूछा था। "इन दिनों उनकी कृपा हम पर नहीं है" ऐसा वे कहते थे।

यह कहकर भवनाथ हंसने लगा। महाराज ने ये सब बातें सुन लीं। एम की ओर सप्रेम दृष्टि से देख कर वे कहने लगे, "इतने दिन हो गये तो भी तुम नहीं आये, इसका क्या कारण है?"

एम इधर उधर फिरने लगा। इतने में महिमाचरण आये। वे काशीपुर में रहते थे। महाराज पर उनकी बड़ी श्रद्धा थी। वे ब्राह्मण-जाति के थे और उनकी पूर्वार्जित बहुत सी जायदाद भी थी, अतएव वे स्वतंत्र थे। किसीकी नोकरी-चाकरी उन्हें न थी। अच्छे पढ़े हुए थे। बहुत से संस्कृत और अंग्रेजी ग्रंथों का अवलोकन उन्होंने किया था। आध्यात्मिक ग्रन्थों के पठन और ईश्वर-चिंतन में उनका बहुतसा समय बीतता था।

महाराज (महिमाचरणसे):—यह क्या! यहां तो जहाज आ पहुंचा। इस छोटी सी नदी में डोंगी का आना सहज है, परन्तु यहां तो यह बड़ा जहाज आ पहुंचा! हां ठीक है। ये बरसात के दिन हैं। (सब हसते हैं)

फिर बातें होते होते भोजन समारम्भ के, आध्यात्मिक स्वरूपपर चर्चा होने लगी।

महाराज (महिमाचरण से):—भला, हम लोग दूसरों को भोजन क्यों देते हैं?

भोजन देने में भी हम ईश्वर-सेवा ही करते हैं। तुम्हारी समझ में यह बात आई? देखो, सब प्राणियों में वही भगवान् अग्नि-रूप से व्याप्त है। तब लोगों को भोजन देने में हम उसी ईश्वर को आहुती देते हैं। यद्यपि यह बात सत्य है तथापि पापी लोगों को नहीं खिलाना चाहिये। जो बुरे हैं, जिनके मन में ईश्वरभय नहीं है, जो भयंकर विषयों में आसक्त हैं, जो व्यभिचारादि

महापाप करते हैं, उन्हें कभी भोजन न देना चाहिये। इन लोगों के पापकर्म ऐसे घोर होते हैं कि जहां वे बैठते वहां की मिट्टी सात हाथ नीचे तक भ्रष्ट हो जाती है।

हृदय ने एक बार सब लोगों को भोजन दिया था। आमन्त्रित लोगों में बहुत से बुरे लोग भी थे। मैंने हृदय से कहा, "देखो, यदि तुम इन लोगों को खाने को दोगे तो मैं एकदम घर से चला जाऊंगा।"

(महिमाचरण से) कोई कहता रहा कि तुम पहिले बहुत भोजन लोगों को कराते रहे। मालूम होता है, तुम्हारे घर का खर्च आज कल बहुत घट गया है।

बिंदु ३४।

इसके बाद सब लोग भोजन के लिये उठे। भोजन समाप्त हुआ। थोड़ी देर आराम लिया। इतने में प्रतापचन्द्र मुजुमदार आये। आप ब्रह्मसमाज के अनुयायी थे। आते ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण को नमस्कार किया। रामकृष्ण महाराज ने भी अपना मस्तक झुका कर उनको नमस्कार किया।

प्रतापचन्द्र—महाराज, मैं दार्जिलिंग गया था।

श्रीरामकृष्णः—परन्तु इससे कुछ तुम्हारी प्रकृति में विशेष तरक्की नहीं जान पड़ती। तुम्हें क्या होता है?

प्रताप—केशववाबू को जो व्याधि थी वही मुझे है। फिर केशववाबू की चर्चा चली।

प्रताप—केशववाबू को छुटपन से ही वैराग्यवृत्ति रही। वे आनन्दयुक्त कभी भी न दिखे। हिन्दू कॉलेज में सीखते समय बाबू सुरेंद्रनाथ से अच्छा गाढ स्नेह हुआ था, इसी लिये उनका देवेन्द्रनाथ ठाकुर (सत्येंद्रवाबू के पिता) से भी सहज ही परि-

न्मय हुआ। केशवबाबू में दोनों बातें थीं। योग भी था, भक्ति भी थी। कभी कभी भक्ति उनमें इतने जोर से उछल पड़ती थी कि वे उसके आवेश से बेहोश हो जाते थे; तो भी उसके वेग को वे अपनी ओर से बहुत रोकते थे। गृहस्थाश्रमी लोगों को धर्म समाधय कर देना ही उनके जीवन का प्रधान हेतु था।

अनंतर एक महाराष्ट्रीय बाई के विषय में चर्चा चली। प्रतापचंद्र ने कहा कि इस देश की स्त्रियां भी कभी कभी विलायत को जाती हैं। एक महाराष्ट्रीय बाई वहां गई थी। वह बड़ी पंडिता है। परन्तु वह क्रिश्चन होगई है। महाराज, क्या कभी उसका नाम आपके सुनने में आया है?

श्रीरामकृष्णः—तेरे मुंह से जो कुछ मैंने सुना उससे मालूम होता है कि उस बाई को सिर्फ अपना नाम बढ़ाने की इच्छा थी।

अहंकार।

फिर मण्डली की ओर फ़िर कर वे कहने लगे, "इस प्रकार का अहंकार अच्छा नहीं। जो लोग केवल कीर्ति के पीछे पड़ जाते हैं वे विमूढ होकर अन्त में फँस जाते हैं। सब कुछ ईश्वर ही करता है और सारे कर्तृत्व का श्रेय उसीको है—अन्य किसीको नहीं। सारा कर्तृत्व ईश्वर की ओर है, अपने तरफ कुछ भी नहीं। "हे भगवान्, सब कुछ करनेवाला तूही है" सच्चा ज्ञानी पुरुष यही कहा करता है।

घोरांधकार में पड़े हुए अज्ञानी "मैं" "मेरा" कहते हुए अपना सब स्वत्व गंवा देते हैं।

बछड़ा और उसकी अवस्थाएं।

बछड़ा 'हम् मा, हम् मा' (अहम्=मैं) कहा करता है, इस लिये उसकी कैसी दशा होती है सो देखो। उसकी दशा पर विचार करने से "मैं, मैं" कहनेवाले को दुर्मति का अच्छा ज्ञान होता है। देखिये इस 'हम् मा, हम् मा' करनेवाले बछड़े पर कैसी कैसी आपत्तियां बीतती

मर गया। अब यह रामकृष्ण सभी स्त्रियों को माता के सदृश ही समझता है। तुझमें भी मुझे माता का ही रूप दिखाई दे रहा है।' शारदा देवीजी ने उत्तर दिया, 'मैं भी पत्नी के रूप में आपके पास नहीं रहना चाहती। केवल आप मुझे अपने पास रहने की आज्ञा दीजिये और ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बतलाते रहिये। रामकृष्ण की अनुमति पाकर वे वहीं पर रहने लगीं। और पति की आज्ञानुसार ही उन्होंने अपना आचरण रखा।

इसके अनंतर परमहंसजी ने मथुराबाबू के साथ खूब पर्यटन किया। उन्होंने उस यात्रा में विशेषतः अनेकानेक महापुरुषों को दर्शन किये।

एक बार स्वयं परमहंस जी ब्रह्मानंद केशवचन्द्रसेनजी के निवासस्थान बेलगड़िया नामक वाटिका में उनसे मिलने के लिये गए। जब उन्होंने तथा उनके अनुयायियों ने रामकृष्ण की सादगी (Simplicity) देखी तब वे बिलकुल आश्चर्यचकित हो गए। तभी से उन दोनों महापुरुषों में प्रगाढ़ प्रेम का आविर्भाव हो गया। जब केशवचन्द्रजी ने श्रीरामकृष्ण का संदेश जनता में फैलाया, तब तो लोगों के झुंड के झुंड उनके दर्शन लिये आने लगे।

नरेन्द्र (स्वामी विवेकानंद) और अन्यान्य शिष्य १८७९ ई० से श्रीरामकृष्ण की सेवा में रहने लगे। उन्होंने आध्यात्मिक उन्नति के लिये कितना परिश्रम किया है, इस बात को वे भली भाँति जानते थे। उन्हें बहुत सी सिद्धियां प्राप्त थीं। पर, वे उनसे कुछ भी लाभ नहीं उठाते थे। हाँ, उनके स्पर्श मात्र से ही मनुष्यों की वृत्तियाँ तो अवश्य ही पलट जाती थीं। बहुत सी स्त्रियों ने भी उनका शिष्यत्त्व मान्य किया था। रामकृष्ण उन्हें काली 'माता' के नाम से पुकारते थे।

हैं। उसकी गर्दन पर बड़ा भारी हल लादा जाता है। सबेरे से शाम तक वर्षा और तप सहन करता हुआ उस जुए के भारी बोझ से वह दबा रहता है। इतने ही से उसके कष्ट की कहानी पूरी नहीं होती। प्रसंगवश उसकी गर्दन पर कसाई का छुरा भी चल जाता है। लोग उसका मांस खा जाते हैं। चमड़ा कमाया जाता है, रंगा जाता है, फिर उसके जूते बनते हैं। पैरों के तले दिन रात रगड़ खाते खाते बेचारे उस चमड़े के नगारे बनते हैं; धड़ाधड़ उस पर डंडे पीट कर उसका बाजा बजता है। जिस शरीर में स्थित होकर प्राणी अहं अहं करता रहा उसके शरीर की यहां तक दुर्दशा! अन्त में उस प्राणी की अंतड़ियों की तांत बनकर जब धुनिया के हाथ में पड़ती है तब कहीं उसकी दुर्गति की सीमा पूरी होती है! क्योंकि तब वह अहं अहं नहीं करता। तब तो उन तांतों में से 'तुहुं तुहुं' शब्द निकलने लगता है, अर्थात् "हे ईश्वर, सब कुछ तूही है।" इस प्रकार कर्तृत्व का सारा भार जब प्राणी ईश्वर पर छोड़ता है; तब उसके सर्व कर्मों का लय परमात्मा में हो जाता है और प्राणी को मुक्ति प्राप्त होती है। "हे भगवन्, मैं कर्ता नहीं हूं। कर्ता तूही है। मैं केवल यंत्र हूं। इस यंत्र का चालक तूही है" इस प्रकार के उद्गार जब प्राणी के हृदय से उठते हैं; तब ही उसके सांसारिक क्लेशों का अन्त होता है। अन्यथा सांसारिक कर्म-जंजाल से छूटने की आशा व्यर्थ है। "सर्व व्यवस्था ईश्वराधीन है" यह जान कर मनुष्य को चाहिये "कि मैं और मेरा" इन अहंभावों की कल्पनाओं का सर्वथा परित्याग करे। ज्योंही मनुष्य अपनेपन का सर्व भार ईश्वर ही को सौंपने लगता है, त्योंही उसके लिये मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

जिसे ईश्वरदर्शन हुआ है वही सच्चा ज्ञानी है। उसकी वृत्ति बालकवत् होती है। बालक में भी एक प्रकार का अहंकार

होता है; परन्तु वह अहंकार केवल नाम मात्र है। प्रौढ़ पुरुष के "मैं" और बालक के "मैं" में बड़ा भेद है। मनुष्य का ईश्वरदर्शन होने पर प्राय रूपांतर हो जाता है। पारस के स्पर्श से लोहा सुवर्ण हो जाता है। लोहे की तरवार पारस के स्पर्श से सोने की हो जाती है। तलवार का आकार वही कायम रहता है, परन्तु फिर वह किसी को नुकसान नहीं पहुंचाती। बालक का अहंकार आइने में देख पड़नेवाले मुख के प्रतिबिम्ब के समान होता है। आइने में का प्रतिबिम्ब मूल मुख के समान ज्यों का त्यों होता है। परन्तु उस से अनिष्ट कुछ भी नहीं होता।

ईश्वरदर्शन होने पर अहंकार।

एक भक्त:—जीव के "अहंकार" का अन्त किस प्रकार से होगा?

श्रीरामकृष्णः—ईश्वर का दर्शन जब तक नहीं हुआ तब तक इस अहंकार का पूरा लय नहीं हो सकता। जिसके अहंकार का पूरा लय हो चुका है उसे ईश्वरदर्शन हो चुका यह निश्चित जानिये।

एक भक्त—महाराज, किसी व्यक्ति को ईश्वरदर्शन हुआ यह कैसे जानना चाहिये।

श्रीरामकृष्णः—ईश्वरदर्शन पाये हुए व्यक्ति के कुछ लक्षण होते हैं। श्रीमद्भागवत में ऐसे पुरुषों के लक्षणों का बहुत वर्णन किया है। ईश्वर दर्शन पाये हुए पुरुषों की चार अवस्थाएं होती हैं:— (१) बालवत् (२) पिशाचवत् (३) जड़वत् (४) उन्मादवत्।

जिसे ईश्वरदर्शन हो चुका है उसका बालक के समान स्वभाव होता है। वह महात्मा त्रिगुणातीत होता है। एक भी गुण का बन्धन उस पर नहीं होता। कभी कभी वह पुरुष मलीन अवस्था में दिखाई देता है। अपने शरीर की भी उसे विशेष परवाह नहीं रहती। शुचि और अशुचि

ईश्वरदर्शन पाये हुए व्यक्ति के लक्षण

अर्थात् शुभाशुभ दोनों उसके लिये समान ही हैं; क्योंकि प्रत्येक वस्तु उसको दृष्टि में ईश्वर स्वरूप ही दिखाई देती है। कभी वह पिशाच की दशा में रहता है। पागल की तरह हँसता है, कभी रोता है, कभी अपने आपसे ही बोलता रहता है। कभी किसी सभ्य पुरुष के समान अच्छा सजधज कर रहता है। कभी शरीर का वस्त्र छोड़ कर बगल में दबा लेता है, कभी बालकवत् नग्न ही रहता है। यह उसकी उन्मादावस्था है। कभी वह किसी जड़ वस्तु के समान चुपचाप निश्चल रहता है।

एक भक्तः—क्या ईश्वरदर्शन हो जाने पर एकाएक 'अहंकार' निःशेष हो जाता है?

श्रीरामकृष्ण—कभी कभी ऐसे पुरुष का अहंकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ—जब वह समाधिमग्न रहता है तब केवल नाम मात्र उसका अहंकार रहता है; परन्तु वह बिलकुल निर्दोष है। सोने के तलवार के समान उसे जानिये!

विन्दु ३५।

विलायत और कांचन-पूजा।

महाराज (प्रतापचन्द्र मुजुमदार से):—तुम विलायत गये थे। वहां का कुछ हाल तो सुनाओ? कहो, तुमने वहां क्या क्या देखा?

प्रताप०:—महाराज, जिसे आप कांचन कहते हैं उसीकी पूजा करने में सारा विलायत निमग्न है। कांचन-पूजा ही उस राष्ट्र का मुख्य लक्षण है। कहीं कहीं अपवाद के लिये निस्पृही और धनासक्त लोग भी दिखाई देते हैं; परन्तु सर्वसाधारण रीति से रजोगुण की ही प्रबलता वहां अधिक है।

महाराजः—ऐसा समझो कि विषय-कर्मासक्ति केवल विलायत या अमेरिका ही में है, अन्यत्र नहीं। कर्मासक्ति का प्रादुर्भाव जहां देखिये वहां विद्यमान् है, परन्तु याद रखना चाहिये कि कर्मकांड ही आदिकांड है (विषयासक्त कर्म, उत्क्रान्ति की दृष्टि से, मानवी समाज की बाल्यावस्था है)। रजोगुणात्मक कर्म केवल नाम, कीर्ति, सन्मान् और धन इत्यादि प्राप्त होने के हेतु से ही किया जाता है और इसीलिये वह मनुष्य के अधःपात का कारण है। बिना सत्वगुण के, अर्थात् यदि भक्ति, विवेक और वैराग्य इत्यादि गुण मनुष्य में न हों तो, ईश्वर-प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है। रजोगुण से तमोगुण की वृद्धि होती है। तमोगुण के बढ़ने से जीव ईश्वर से दूर दूर हो कर उसे भूलता जाता है। फिर कामिनी और कांचन (स्त्री और धन) में उसकी आसक्ति बढ़ती जाती है। अतएव विलायत और अमेरिका में अभी जो कर्मासक्ति—विषयकर्मासक्ति—दिखाई देती है, वह दूषित और त्याज्य है, क्योंकि इस प्रकार की कर्मासक्ति केवल, प्राणी के शारीरिक, सुख-चैन को बढ़ानेवाली और साथ ही उसके धार्मिक सुख का गँवानेवाली होती है।

कर्म का त्याग तुम्हें कभी करते न बनेगा। प्रकृति का धर्म है कि वह कर्म तुम से करा ही लेगी, फिर चाहे तुम्हारी इच्छा हो या न हो। जब ऐसा ही है तो कर्म पूरी तरह से क्यों न किया जाय? कर्म अवश्य करो, परन्तु उसमें आसक्त न रहो। अनासक्त-भाव से किया गया कर्म ईश्वर-प्राप्ति का साधन है। अनासक्त कर्म का साधन और ईश्वर-प्राप्ति को साध्य वस्तु समझो।

कर्म अवश्य करो; परन्तु उसके फल की इच्छा न करो। यही अनासक्त कर्म कहता है। कृत कर्म से प्राप्त होनेवाले फल के उपभोग विषय में, चाहे इहलोक या परलोक में, तुम्हारा मन

उदासीन रहे, कृत कर्म से प्राप्त सुख की तुम्हें चाह न हो और न दुःख की तुम्हें परवाह रहे। न दुःख से तुम्हारा मन विचलित हो, पर तुम्हारा मन तराजू के समान समतोल और समभाव से दुःख-सुख दोनों को सम्हालता रहे। न सुख से तुम्हें हर्ष हो और न दुःख से तुम्हें विषाद हो, इसे कहते हैं अनासक्तकर्म। पूजा, जप, तपादि करो; परन्तु इस हेतु से नहीं कि लोग तुम्हें ईश्वर भक्त—महात्मा—समझें और तुम्हारा सत्कार करें। यह हेतु भी तुम्हारा न हो कि कुछ पुण्य तुम्हारे लिये मिले।

इस प्रकार के अनासक्त कर्म को कर्मयोग कहते हैं। वह बड़ा कठिन है। मुख्य तथा इस कलियुग में तो वह अत्यंत ही कठिन है; इस लिये सच पूछिये तो मनुष्य को ज्ञान-मार्ग या भक्ति-मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिये। निष्काम कर्म साधारण लोगों के लिये सम्भव नहीं है, उसके लिये वैसा ही अद्भुत मनुष्य चाहिये। साधारण लोगों के चित्त में संसारासक्ति—विषयकर्मासक्ति—का शीघ्र ही प्रवेश होता है, उसे वे आसानी से रोक नहीं सकता। अनासक्त कर्म करने को तुम चाहे जैसा दृढ निश्चय करो; परन्तु ज्योंही कर्म करने लगे कि आसक्ति अपनी चोर-चाल से वहां आ बैठती है। समझ नहीं पड़ता कि वह कब और कैसे आई?

हम लोग—सब मनुष्य—अपूर्ण जीव हैं। पूर्ण होना—ईश्वर-पद प्राप्त करना—ही अपने जीवन का फल है, लाभ है; अतएव ईश्वर-पद-प्राप्ति का सुलभ और सरल-मार्ग ढूंढ निकालना ही हमारा कर्तव्य है। आओ, सब से सरल-मार्ग का अवलम्बन करें। आत्मनिवेदन करके, परमात्मा में भक्ति धारण करते हुए विषय कर्मों को अत्यंत आकुंचित कर लें।

कर्म-योग का सच्चा आचरण इस कलियुग में शक्य नहीं है। ज्ञानयोग की अपेक्षा अथवा कर्म-योग की अपेक्षा इस युग में भक्ति-योग, केवल नारदीय भक्ति-योग, अधिक श्रेयस्कर है।

किसी योग की अपेक्षा भक्तियोग से इस कलिकाल में, परमेश्वर का दर्शन होना अधिक सुलभ है।

चाहे जो हो, कर्म कभी किसीको छोड़ता नहीं। कर्म का अर्थ यहां हाथ से काम करना हो नहीं है। प्रत्येक मनोव्यापार कर्म ही है। "मैं किसी बात को सोचता हूं" अथवा "मैं किसी वस्तु का ध्यान करता हूं" ऐसी बुद्धि होना भी कर्म ही है। भक्ति के लाभ से विषय-कर्म की बाधा आप ही छूट जाती है। भक्तिरूपी आँच के लगने से विषय-कर्मासक्ति की कड़ी जंजीर ढीली पड़ जाती है। विषय-कर्मों की फिर अभिरुचि ही मनुष्य को नहीं रहती। शक्कर मिलने पर गुड़ के स्वाद की कौन लालसा करेगा?

भक्ति का कर्म पर परिणाम।

पहिली बात यह है कि भक्ति से मनुष्य का व्याप्ति विषय-कर्म में घटती जाती है, क्योंकि भक्त का सारा लक्ष्य अपने साध्य अथवा ध्येय की ओर—परमात्मा की ओर—होता है। अनासक्त कर्म करने में भक्ति की बड़ी सहायता मिलती है। एक ओर तुम्हारी अनन्य भक्ति परमात्मा में रहे और दूसरी ओर विषय-कर्मों में—इन्द्रिय-योग सम्पत्ति, कीर्ति और सत्ता इत्यादि की प्राप्ति में—तुम अपनी जान डालो, ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। दो में से किसी एक सुख का स्वाद जब तुम में बढ़ता जायगा, तब दूसरे सुख की अभिरुचि, उसी प्रमाण से, कम होती जायगी। जब भक्ति-रसामृत का सुखास्वाद तुम्हें प्रियकर होता जायगा, तब मदिरारूपी विषय-कर्मासक्ति का त्याग तुम धीरे धीरे अवश्य ही करते जाओगे।

केवल कर्म से ही जन्म—मनुष्य-जीवन—सफल होता है, यह समझ बड़ी घातक है। जीवन की सच्ची सफलता, उसका सच्चा सुख और सच्चा पुरुषार्थ, ईश्वर-प्राप्ति कर लेने में है। कर्म जीवनरूपी

केवल कर्म से जन्म की सफलता नहीं है।

पुस्तक का पहला पाठ है। ईश्वर-लाभ उसका उपसंहार है; अतएव कर्म केवल एक साधन है—यह वस्तु नहीं।

एक समय शंभु ने मुझसे कहा " मेरी इच्छा यह है कि जगह जगह औषधालय की स्थापना की जाय, रुग्णालय बाँधे जाँय, जहां सड़कें आदि न हों, वहां रास्ते बनवाए जाँय, कुए खुदवाए जाँय, शालाएं खोली जाँय और महाविद्यालय स्थापित किये जाँय इत्यादि। यदि सुदैव से मेरी यह इच्छा पूर्ण हो गई, तो मैं अपने को बड़ा धन्य मानूंगा। " इस पर मैंने कहा, " यह सब काम तुझसे हो सके तो अच्छी बात है; परंतु क्या यह सब तू अनासक्त बुद्धि से कर सकेगा ? यदि इन्हें तू अनासक्त बुद्धि से कर सका, तो ये तुझे ईश्वर-लाभ पहुंचा सकते हैं, नहीं तो यह तुझे साध्य न होगा। अनासक्त बुद्धि से काम करना बहुत कठिन है। कैसा भी क्यों न हो, पर ध्यान रहे कि साध्य और साधन में कुछ गड़बड़ न हो। निष्काम कर्म साधन है और ईश्वर-प्राप्ति साध्य है। मैं बारम्बार कहता हूं कि कभी साध्य और साधन में गड़बड़ न करना। ऐसा न समझो कि पहली सीढ़ी पर पैर रखते ही शिखर पर पहुंच गये!

" कर्म ही सर्वस्व है—मानव-जन्म का सार्थक है—ऐसा न समझो। परमेश्वर की भक्ति मन में उत्पन्न हो; इसलिए उसकी प्रार्थना करो। मान लो, कि प्रत्यक्ष ईश्वर तुम्हारे सामने आकर खड़ा है और कहता है कि वर मांगो। तो तू क्या मांगेगा ? 'हे ईश्वर बहुत से औषधालय, रुग्णालय, तालाब, कुएं, सड़कें और धर्मशालाएं आदि मुझे दे। ' तू क्या इन्हें मांगेगा ? जब तक ईश्वर-लाभ नहीं हुआ है तब तक हमें इन बातों की आवश्यकता जान पड़ती है; परन्तु एक बार ईश्वर का साक्षात्दर्शन होने पर इनका सच्चा स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है—ये क्षणभंगुर हैं, स्वप्नवत् हैं ऐसा मालूम होने लगता है—तब हम उस सच्चिदानंदस्वरूपी परमात्मा की इस प्रकार प्रार्थना करेंगे

कि 'हे भगवान्, मुझे ज्ञान दे, मेरा मन अपने चरणों में रत होने दे। जिस भक्ति के बल से मनुष्य नर का नारायण होता है, जिस भक्ति के बल से मनुष्य को ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह निर्मल भक्ति, हे ईश्वर! मेरे हृदय में उत्पन्न कर'।"

अतएव यह साध्य, जो मैंने तुझे बतलाया है, कभी दृष्टि के बाहर मत करना, सदैव साध्य पर लक्ष रहने देना।

इस विषय में एक कहानी तुझे बतलाता हूं:—

लकड़ी तोड़नेवाला और ब्रह्मचारी या 'आगे जा'।

एक समय एक आदमी अरण्य में लकड़ी तोड़ रहा था, वहां उसे एक ब्रह्मचारी दीख पड़ा। वह उस लकड़ी तोड़नेवाले से कहने लगा, 'आगे जा'। लकड़ी का गट्ठा लेकर मैं घर आ रहा था; परंतु इस ब्रह्मचारी ने मुझे 'आगे जा' ऐसा क्यों कहा? उस समय उसके मन में इसी प्रश्न की चर्चा चली थी।

इस घटना को हुये कुछ दिन बीते। एक दिन वह बैठा था तब उसे उस ब्रह्मचारी के शब्द का स्मरण हुआ। उसने उसी दम निश्चय किया कि चाहे जो हो आज लकड़ी लाने के लिए कुछ और आगे जाऊंगा। निश्चयानुसार कुछ दूर जाने पर क्या देखता है कि वहां सब चंदन ही के वृक्ष हैं! तब वह बहुत आनंदित हुआ और गाड़ी पर बहुत सी चंदन की लकड़ियां ले आया। बाजार में बेचने से वह बहुत धनवान् होगया। कुछ दिन बीतने पर फिर उस ब्रह्मचारी का शब्द उसे स्मरण हुआ उसने अरण्य में और आगे जाने का निश्चय किया। इस प्रकार दूर जाकर क्या देखता है कि एक नदी के किनारे चांदी की खान है। स्वप्न में भी उसे इसका ख्याल न था। उस खान की चांदी ले जाकर उसने बेंच डाली। फिर क्या! उसके पास चांदी ही चांदी हो गई! वह करोड़पति होगया! और

कुछ वर्ष के बाद फिर भी उस ब्रह्मचारी के शब्द का उसे स्मरण हुआ। उसने अपने मन में कहा " उस ब्रह्मचारी ने ' केवल चांदी की खान तक ही जा, ' ऐसा नहीं कहा है, केवल उसने " आगे जा " इतना ही कहा है " बस, फिर क्या था! इतना सोचते ही वह नदी को पार कर गया। वहां देखा, तो सोने की खान है! कुछ दिनों के बाद वह और आगे गया, तो उसे हीरे की खान मिली! तात्पर्य यह, कि अन्त में उसे कुबेर का ऐश्वर्य प्राप्त होगया!

उसी प्रकार तुम ' आगे जाओ ' और साध्य को दृष्टि के बाहर न होने दो। आगे बढ़ो और जब तक साध्य सम्पादन न कर लो, तब तक आगे ही बढ़ते रहो और बीच में न ठहरो।

कर्म पहली सीढ़ी है। ध्यान रक्खो, कि निष्काम कर्म का आचरण बहुत कठिन है; अतएव वर्तमान युग में भक्ति-सरीखा दूसरा साधन और कोई नहीं है। निष्काम कर्म भी साध्य नहीं, वह केवल साधन है।

इसलिए आगे बढ़ो और अपने साध्य को हस्तगत किये बिना—ईश्वर का दर्शन किए बिना—बीच में कभी न ठहरो। जब तक साध्य की प्राप्ति न हो—जब तक उद्देश्य को सफलता न हो, तब तक यत्न ही करते रहो—कर्म करने ही में निमग्न रहो।

बिन्दु २६ ।

केशवबाबू के स्वर्गवासी होने पर ब्रह्मसमाज में जो विवाद शुरू हुये थे, उस सम्बन्ध में वाद-विवाद शुरू हुआ। महाराज (प्रतापचंद्र से):—

ब्रह्मसमाज में झगड़े।

मैंने सुना है, कि तुममें और तुम्हारे समाज के दूसरे लोगों में झगड़ा उत्पन्न हुआ है; परन्तु तुमसे झगड़ा करनेवाले वहुतायत से सब लोग निकम्मे देख पड़ते हैं। (सब हंसते हैं)

मुख को दिव्य तेज का उजियाला देनेवाला मोहक और मधुर स्मित करके भक्त-वृन्दों की ओर फिर कर महाराज ने कहा " यह देखो, प्रताप और अमृत आदि सब गम्भीर शब्द करनेवाले शंख हैं। शंख शंख में भी अन्तर होता है। सब शंख कुछ एक समान नहीं होते। कुछ ऐसे भी होते हैं कि जिनसे शब्द भी नहीं निकलता! सब पेट पकड़ पकड़ कर हंसने लगे।

ब्रह्मसमाज और हरिसभा आदि धार्मिक संस्थाओं में जो व्याख्यान होते हैं उनके विषय में महाराज ने कहा " किसीका व्याख्यान सुनने से उस मनुष्य की योग्यता समझ पड़ती है। मैं एक समय एक हरिसभा में गया था। व्यासगद्दी पर एक पंडित बैठा था। उसका नाम सा०—। बोलते बोलते उसने कहा, " ईश्वर नीरस है; अतएव हमको—मनुष्यों को—चाहिए कि हम अपनी माधुरता देकर उसे सरस बना लें। " उसके कथनानुसार हमारी माधुरता का अर्थ प्रेम और भक्ति आदि है।

रसोवैसः।

कलकत्तानिवासियों के झुंड के झुंड उनके दर्शन के लिये नित्य प्रति आया करते थे। उन्हें वे उपदेश करते समय अपने आपकोभी भूल जाते थे। यद्यपि अन्त में उनकी अस्वस्थता ने उनका पूरा पीछा किया था, तथापि उनका उपदेश-प्रवाह जारी हीरहा। सन १८८५ ई० के लगभग तो उनका स्वास्थ्य बहुत ही बिगड़ गया। उन्हें कलकत्ते ले जाकर बड़े बड़े डाक्टरों द्वारा रोग के अपहारार्थ निरे उपाय सोचे गए, पर निर्दयी काल के आगे किसीकी भी कुछ नहीं चली। अन्त में ता० १६ अगस्ट सन १८८६ को दिन के १० बजे सदासर्वदा के लिये उन्होंने इस जगत् से प्रस्थान किया। इस प्रकार उस अवतारी पुरुष, अल्पकाल ही में, अपनी लीला समाप्त की।

श्रीरामकृष्ण बड़े ही उदार मतवादी थे। केशवचन्द्र सेन (ब्रह्मसमाजप्रवर्तक) से उनकी गाढी मित्रता थी। वे उनके मत से भी पूर्णतया सहमत थे। क्रिश्चन मत से भी उनका कोई द्वेषभाव नहीं था। उनकी सारे मतों से पूर्ण सहानुभूति थी। मुख्यतः इसी कारण सर्व धर्मों के अनुयायी उन्हें अत्यन्त पूजनीय दृष्टि से देखते थे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण हिन्दू थे, तथापि वे साधारण हिन्दू नहीं थे। वे न तो शाक्त ही थे और न शैव, न वैष्णव ही थे न वेदान्ती ही। मूर्ति पर उनकी अटल श्रद्धा थी। पर, वे ईश्वर की ओर जानेवाले मार्ग को ढूंढ निकालना ही प्रत्येक धर्म का मुख्योद्देश्य समझते थे। उनकी शिष्यमंडली भारत ही में नहीं वरन पश्चिमीय देशों में भी बढ रही है। ऐसे महात्मा के जिस बोधामृत से विवेकानंद जैसे शिष्य विश्वविजेता कहलाए उसी श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा का पान करने को पाठकों से अनुरोध कर हम इस महात्मा के अल्प चरित्र को समाप्त करते हैं। ॐतत्सत्।

उसके शब्द सुन कर मैं आश्चर्यचकित हुआ! उस समय मुझे केवल एक बात का स्मरण हुआ। वह यह, कि—एक लड़के ने एक समय कहा कि मेरे मामा के घर में बहुत घोड़े हैं—कुल कोठा घोड़ों से भरा है!

लड़के की यह बात सुन कर जो बुद्धिमान् थे उनके ध्यान में एकदम आ गया कि कोठे में घोड़े नहीं रहते। इस लड़के की बात असम्बद्ध है। यह झूठ बोलता है। इसको घोड़ों से परिचय नहीं है। इसी तरह यह कथन भी असम्भव है कि ईश्वर नीरस है—उसमें माधुरी नहीं, प्रेम नहीं और आनन्द नहीं। इस पर से केवल यह बात सिद्ध होती है कि मैं क्या बोल रहा हूं, यह बात बोलनेवाले को समझती भी नहीं। उसे ज्ञान-स्वरूप, आनंद-स्वरूप और प्रेमस्वरूप ईश्वर के दर्शन-सुख का कभी अनुभव नहीं हुआ।

भक्ति और वैराग्य।

एकदम प्रतापचन्द्र की ओर फिर कर, गम्भीर होकर, महाराज ने कहा, "तू बुद्धिमान् है, विद्वान् है और गम्भीर है। गौर (चैतन्यदेव) और निताई दोनों भाइयों के समान तेरा और केशव का सम्बन्ध था। बस, हो गया यह सब:—अब व्याख्यान, तर्कवितर्क, वाद-विवाद और संवाद-विसंवाद सब बहुत हो चुका। नहीं भला? तेरा जी बिलकुल ऊब गया होगा! क्या इसमें तुझे कुछ मीठापन मालूम पड़ता है? अब तुझको केवल एक ही मार्ग का अवलम्ब करना चाहिए—केवल परमेश्वर की ओर अपना चित्त लगा—भक्तिसागर में गोता लगा—कर भीतर ही भीतर डुबकी लगाना चाहिए—यही उत्तम मार्ग है।"

मुजुमदार:—हाँ, महाराज, अब यही मेरा कर्तव्य है। मैं इस बात को समझता हूं; परन्तु मेरा सब प्रयत्न इसलिये है कि केशवबाबू का कार्य चलता रहे।

महाराज (सहास्य):—केशव का नाम रहे, इसलिये यह सब तेरा प्रयत्न है। ठीक है। कुछ दिन जाने पर तेरा यह विचार भी जाता रहेगा।

आत्मवंचनः—स्वार्थ-परार्थसंभ्रम।

एक मनुष्य का घर एक पहाड़ पर था उसमें वह आनन्द से रहता था। उसे यहां घर बांधने में बड़ी कठिनाई पड़ी थी।

एक समय खूब जोर से आंधी चली, तब वह घर हिलने लगा। उस मनुष्य को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई। घर की रक्षा के निमित्त वह मरुदेव की प्रार्थना करने लगा; परन्तु वायुदेव ने उसकी प्रार्थना पर कुछ भी ध्यान न दिया। ऐसा मालूम पड़ता था कि अब घर गिरा ही चाहता है। उसे बहुत चिन्ता उत्पन्न हुई। इतने में उसे स्मरण हुआ कि हनुमान वायु का पुत्र है तब वह इस प्रकार प्रार्थना करने लगा "बाबा, यह घर मत गिरा। यह किसी दूसरे का नहीं। यह तेरे पुत्र का—हनुमान का—है;" परन्तु हवा का जोर कम न हुआ। अब ऐसा मालूम पड़ने लगा कि घर नहीं रह सकता। वह बार बार कहने लगा कि "बाबा यह हनुमान का घर है!" पर कौन सुनता है अपनी प्रार्थना का कुछ भी उपयोग न होता देख उसने एक दूसरा उपाय किया। "यह लक्ष्मण का घर है, उसे सम्हाल लक्ष्मण रामचन्द्र का भाई है; इसलिए वायुदेव अवश्य ही दया करेंगे, ऐसा उसे मालूम पड़ा। परन्तु जितना उपयोग हनुमान का हुआ, उतना ही लक्ष्मण का! इधर घर पत्ते की तरह हिलने लगा! अन्त में वह बिलकुल निराश होकर कहने लगा कि यह राम का घर है! राम का घर है!! वायुदेव, सम्हाल अब तो भी सम्हाल! परन्तु उस देव को दया नहीं आई। घर का एक एक भाग गिरने लगा। अपनी प्रार्थना का कुछ भी उपयोग न होता देख वह अपनी जान बचाने के लिए घर से बाहर जाते २ कहने लगा, "सचमुच यह भूतों का ही घर है

केशव का नाम कैसे रहेगा, इसकी तुझे चिन्ता है! परन्तु चिन्ता करने का कोई कारण नहीं। जो जो कुछ होता है वह सब ईश्वर की इच्छा से! यह ध्यान में रख, कि उसीकी इच्छा से यह धार्मिक हल-चल शुरू हुई और अब उसके बन्द होने का समय आया होगा तो वह उसीकी इच्छा से! जो कुछ उसकी इच्छा से होता है होता है और वह उसीकी इच्छा से चला भी जाता है। वहां तू क्या कर सकता है? अपने मन को पूर्ण रीति से ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना ही तेरा कर्तव्य है, इसे तू कर और भक्ति-सागर में एकदम गोता लगा!

अब तुम्हारे व्याख्यान, वाद-विवाद और झगड़े-बखेड़े आदि की आवश्यकता नहीं है। अब तो केवल भक्ति-सागर ही में निमग्न होने का समय है। यदि इस भक्ति-सागर में एक बार डुबकी लगाओगे, तो मृत्यु का कुछ भी भय न होगा। यह केवल अमृतसागर है! एक बार मैंने नरेंद्र (विवेकानन्द) से कहा था कि —

मुखमकार (बीच ही में):—महाराज, यह नरेंद्र कौन है?

महाराजः—है एक लड़का! अस्तु; मैंने नरेंद्र से कहा "ईश्वर अमृत-रस का सागर है क्या तेरी यह इच्छा नहीं है कि इस सागर में डुबकी लगावें? अच्छा, मान लो, कि यहां अमृत-रस से भरा एक घड़ा रक्खा है और तुम मक्खी बन कर उस रस का सेवन करना चाहते हो, तो तुम क्या करोगे! नरेंद्र ने कहा कि मैं उस घड़े के किनारे बैठ कर रस-पान करूंगा! इस पर मैंने पूछा "क्यों भाई, घड़े के किनारे ही पर क्यों बैठेगा?" उसने उत्तर दिया, कि यदि मैं घड़े के भीतर चला जाऊंगा, तो वहां डूब कर मर जाऊंगा! मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने कहा कि अमृत रस में डूब जाने पर मृत्यु का भय कहां से आया? क्या यह बात तुम्हारे ध्यान में नहीं आई। कि सच्चिदानंद-सागर में न तो मृत्यु का भय है और न अन्य किसीका दुःख। अमृत के सागर में डुबकी

लगाने से मनुष्य अमर हो जायगा। कुछ लोगों को यह भय होता है कि यदि हम ईश्वर-प्रेम में—भक्ति-रस में—निमग्न हो जायँगे, तो हम बरबाद हो जायँगे; परन्तु यह व्यर्थ भय है!

दया और माया।

दया और माया में क्या भेद है? जो प्रेम अपने देह, कुटुम्ब, पंथ, धर्म, समाज और देश आदि से मर्यादित नहीं होता; किन्तु (जो प्रेम) जीव-मात्र से सम्बन्ध रखता है, उसे दया कहते हैं; जिस प्रेम का सम्बन्ध अपने शरीर, कुटुम्ब, पंथ और धर्म आदि से मर्यादित हो जाता है, उसे माया कहते हैं। हम लोगों को पहले प्रकार के प्रेम का—दया का—स्वीकार करना चाहिए। यही प्रेम ईश्वर का दर्शन करा सकता है। दूसरे प्रकार का प्रेम हानिकारक है। उससे हमारी अधोगति होगी वह हमको माया की जंजीर से बांध कर परमेश्वर से विमुख करा देगा।

ज्ञान का लक्षण।

ज्ञान किसे कहते हैं? ज्ञानी मनुष्य यह कहता है "हे परमेश्वर तू ही कर्ता है। मैं केवल निमित्त हूं। मैं तेरे हाथ की कठ-पुतली हूं। यहां 'मेरा' कुछ नहीं, जो कुछ है वह सब 'तेरा' है। मैं, मेरा कुटुम्ब, मेरा धन और मेरा गुण इत्यादि सब कुछ तेरा ही है।"

'मैं और मेरा' यही अज्ञान है।

'तू और तेरा' यही ज्ञान है।

धर्म के लिये कर्म करना।

भक्ति-रहित कर्म से कुछ लाभ नहीं। वह पंगु है। पहले भक्ति ही का आधार होना चाहिए। इसके बाद, भक्ति ही के आधार पर सब कुछ करना चाहिए। धर्म ही के लिए कर्म की आवश्यकता है। यदि धर्म न होगा तो कर्म से क्या लाभ?

संसार में रहने और संसार के सब काम करने में कुछ दोष नहीं है, केवल दासी के समान अपने मन का भाव होना चाहिए। जब दासी अपने मालिक के घर आदि के विषय में 'हमारा घर,' 'हमारा बाबू' आदि कहती है तब वह अपने मन में भली-भाँति जानती है कि यह कुछ मेरा घर या मेरा बाबू नहीं है। इसी तरह संसार में प्रत्येक गृहस्थ को अलिप्त-भाव से रहना चाहिए और सब काम अलिप्त-भाव ही से करते रहना चाहिए। यदि संसार में रह कर और संसारी काम करने पर परमेश्वर का विस्मरण न हो, तो इससे अच्छा और कौन साधन हो सकता है!

संसार में कैसे रहना चाहिए?

इसके बाद यूरोप और अमेरिका के अज्ञेय-वाद पर बातचीत होने लगी। मुजुमदार ने कहा "यद्यपि विलायती लोग परमेश्वर के विषय में अज्ञेय-वाद की चर्चा किया करते हैं, तथापि मैं नहीं समझता कि वे नास्तिक कहे जा सकते हैं। उधर के बड़े-बड़े पंडितों की यही राय है कि इस विश्व-चक्र को गति देनेवाली कोई महाशक्ति अवश्य है।"

विलायत में अज्ञेय-वाद।

महाराजः—बस, इतना बस है। वे लोग शक्ति को तो मानते हैं!

मुजुमदारः—यूरोपियन पंडित इस बात को भी मानते हैं कि ईश्वर के राज्य में सत्कार्य का अच्छा बदला और पापकर्म का दंड दिया जाता है।

जब प्रतापचन्द्र जाने लगे तब महाराज ने कहा—"मैं तुमसे सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि झगड़ा-बखेड़ा और वाद-विवाद छोड़ दो। दूसरी बात यह है कि इस बात को मत भूलो कि कामिनी और कांचन ही के कारण मनुष्य इस संसार-कर्दम में फँस जाता है और परमेश्वर से विमुख हो जाता है।"

बिन्दु ३७।

श्रीरामकृष्ण एक पंडित की भेंट को जाते हैं।

स्थान—कालेज-स्ट्रीट, कलकत्ता, दिन—तारीख २५ जून सन् १८८४, तिथिः—आषाढ शुक्ल द्वितीया, इस दिन रथयात्रा थी। समयः—सायंकाल ४ से ६–३०।

पंडित शशिधर जहां रहते थे, उस घर को जाने के लिए श्रीरामकृष्ण जब गाडी में बैठे तब फिर उनकी समाधि लगी। उनकी वृत्ति बाहरी जगत् से विमुख होकर शांति-निधान, आनन्दमय, शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में लीन होगई। अपनी वृत्ति की इस अवस्था को वे 'आवेश' कहा करते थे। इस दशा में योगी अतीन्द्रिय जगत् में सचार करता है।

सायंकाल के चार बजे जब वे ईशानबाबू के घर से निकले, उस समय पानी की बूंदें गिर रही थीं। रास्ते में कीचड होगया था, शिष्यमंडली गाडी के पीछे धीरे धीरे जा रही थी। यह मिलनप्रसंग बडा ही आनन्द प्रद होगा, ऐसा जान कर वे लोग बडे उत्साह से वहां जा रहे थे। यह दिन रथयात्रा का था, इस लिए बहुत से बालक मार्ग में खेलते हुए और ताडपत्री बजाते हुए, उनके नजर आते थे। गाडी जब घर के सामने आई तब घर के स्वामी तथा अन्य लोगों ने आगे आकर बडे आदर भाव से महाराज का स्वागत किया। अटारी पर महाराज जा रहे थे कि इतने में पंडित शशिधर भी उन्हें लेने के लिए आ गये। वे युवावस्था में दिखाई पड़ते थे और रंग उनका गोरा था। उनके गले में रुद्राक्ष माला थी। बड़े विनीत भाव से आगे होकर आपने महाराज को प्रणाम किया और उन्हें अपनी बैठक में ले

गये । शिष्यलोग भी उनके पीछे, बैठक में, जा बैठे । जब तक उनके पास बैठना हो तब तक उनकी वाक्सुधा का आस्वाद लेना, यही हरएक को आतुरता देख पड़ती थी । साथ आये हुए शिष्यों में नरेन्द्र (विवेकानन्द) एम्, राखाल, राम, इत्यादि लोग थे ।

महाराज (अर्धजागृति में हंसते हुए आनन्द से)—ठीक ! ठीक !! परन्तु क्या तुम उपदेश किया करते हो ?

शशिधरः—महाराज, मैं लोगों को शास्त्र के तत्व समझा देने का यत्न किया करता हूं।

भक्तियोग और कर्मयोग ।

महाराज —कलियुग के लिये विशेषतः नारदीय भक्ति बताई गई है । शास्त्रों ने जो कर्मविधि मनुष्य के लिए बतायी है, उस विधिपूर्वक कर्म करने के लिए मनुष्य को इस कलियुग में अवकाश कहां है ? क्या यह बात तुम्हारे ध्यान में नहीं आई, कि आज कल दशमूल-काढ़ा ज्वर पर नहीं चलेगा ? काढ़े का परिणाम होकर गुण होने के पूर्व ही रोगी को धोखाखाने का भय है; अतएव आजकल शीघ्र गुणकारी ज्वरमिश्रण ही देना चाहिए ।

देखो, यदि तुम चाहो तो कर्म मार्ग का उपदेश करो; परन्तु उसमें भी बहुत सी काट-छांट करना जरूर है । " सब घोड़े बारह टके " ऐसा मत करो । सब कर्मों का सार, निचोड़ कर, लोगों के हाथ में दे दो । मैं लोगों से यही कहा करता हूं कि सन्ध्योपासनादि लम्बेचौड़े कार्यों की दिक्कत में तुम न पड़ो । केवल गायत्रीमंत्र का जप किया करो । ईशानबाबू के समान कर्म कांडी लोग थोड़े हैं । यदि शास्त्रविधि और कर्म (वैदिक कर्म) का उपदेश ही करना है तो ऐसे, दो-चार, ही लोगों को करो ।

संसारी और विषयी लोगों को हजारों व्याख्यान दो—चाहे जैसा सदुपदेश करो—तोभी उनके मन

विषयी जन और व्याख्यान। पर कुछ परिणाम नहीं होता। क्या पत्थर में भी कील ठोकी जा सकती है? यदि ठोकने का यत्न भी किया जाय तो उसकी नोक झुक जावेगी। परन्तु पत्थर को कुछ भी होनेवाला नहीं है। कच्छप की पीठ को चाहे तलवार से मारो या भाले से खोंचो, क्या होता है? साधू का कमंडल (तुम्बा) चारों धाम हो आया, परन्तु ज्यों का त्यों कडुआ ही बना रहा! उसका मूल स्वाद कहाँ जा सकता है? मेरे कथन का भावार्थ यही है कि ऐसे विषयी और संसारी लोगों पर तुम्हारे व्याख्यान और उपदेश का कुछ भी असर न होगा। 'कडुआ करेला' चाहे घी में बघारो, चाहे शक्कर में मिलाओ, पर उसका अंगभूतस्वाद (कडुआपन) बना ही रहता है। इसी तरह चाहे जितना उपदेश करो, विषयी और संसारी लोगों की विषयासक्ति कैसे निर्मूल हो सकती है? वह उनमें रहनेवाली ही है!

परन्तु मैं समझता हूं कि इन बातों का तुम्हें भी धीरे धीरे अनुभव अवश्य होगा। अच्छा, जो एक-

अनुभव और अभ्यास। दम चलने नहीं लगता, वह खड़े होने का प्रयत्न करता है। बार बार गिरता है, और बार बार फिर उठने का यत्न करता है। इसी तरह वह चलना सीखता है।

भक्त कौन है और विषयी कौन है? यह बात तुम्हारे ध्यान में नहीं आती; परन्तु यह तुम्हारा दोष

नूतन अनुराग का परिणाम। नहीं है। आंधी के चलते ही चारों ओर दशों दिशा धूल से व्याप्त हो जाती हैं। अतएव भक्त कौन है और विषयी कौन है, इसको छानबीन

करना तुम्हारे लिए कठिन है। सब लोग तुम्हें समान ही देख पड़ते हैं।

जिसे ईश्वर-लाभ हुआ, जिसका मेल परमात्मा से हुआ, उसीका कर्म का त्याग करते बनेगा, अन्य किसीको नहीं। यह प्रश्न किया जा सकता है कि सन्ध्योपासनादि कर्म कब तक करना चाहिए। इसका सरल उत्तर यही है कि भगवान् के नामोच्चारमात्र से जब नत्रों में हर्षानन्द और प्रेमाश्रु की धारा वह उठे, सारा शरीर प्रगाढ़ प्रेम-लक्षणा भक्ति से पुलकित हो जाय, तब जानिये कर्म का समय हो चुका।

कर्म-त्याग और ईश्वर लाभ।

"ॐ राम" इस नाम का उच्चार होते ही जब तुम्हारे नेत्र प्रेमाश्रु से भर आन लगें तब जानिए कि अब तुम्हें कर्म की जरूरत नहीं है। फिर सन्ध्योपासनादि कर्म तुम अवश्य छोड़ो। फिर तुम यह समझो कि कर्म से ऊंची सीढ़ी पर हम चढ़ गये हैं। फल आने पर फूल आप ही आप गिर जाता है। भक्ति ही फल है और कर्म फूल है।

बहू की गर्भावस्था जान कर सास उसके कामों का बोझ धीरे धीरे कम करता जाता है। अन्त में, दशवें मास में, वह बहू पर किसी भी कार्य का बोझ नहीं डालती। ठीक ठीक यही बात भगवत्प्राप्ति की भी है।

पूर्ण प्रेमलक्षणा भक्ति से जब मनुष्य का हृदय-कमल गर्भित होकर दिव्य आत्मस्वरूप का आविर्भाव वहां होता है तब उस जीव की विषयासक्ति—उसके संसारी कर्मों का बोझ—भगवान् स्वयं उठा लेते हैं। सन्ध्या का लय होता है गायत्री में, गायत्री का प्रणव में और प्रणव का समाधि में। घंटे की आवाज से इन अवस्थाओं का अच्छा बोध होता है।

घंटे से निकला हुआ पतला शब्द धीरे धीरे सूक्ष्म होता हुआ अनन्त में जा मिलता है। सब प्रकार के नाद-भेद की

उत्पत्ति ब्रह्म से है और ब्रह्म ही में उसका लय होता है, यह जो योगी महात्माओं का कथन है वह उक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है। इसी न्याय से सन्ध्यादि कर्मों का लय समाधि अवस्था में होता है। ईश्वरलाभ होते ही ज्ञानी पुरुष आप ही आप कर्म का त्याग करने लगता है।

बिंदु ३८।

समाधि-विषय की बातें कहते कहते महाराज की वृत्ति में कुछ विलक्षण परिवर्तन होगया। उनका मुख दिव्य तेज से प्रकाशित होने लगा। उनकी वृत्ति बाह्यशून्य हो गई। उनका बोलना बन्द होगया। ऐसी अवस्था में कुछ देर रह कर उन्होंने अपनी स्वाभाविक रीति से कहा "मुझे थोड़ा पानी दो।" समाधि के बाद जब महाराज इस तरह पानी मांगें तब यह उनके समाधि विसर्जन का निश्चित लक्षण समझा जाता था। फिर वे कहने लगे "माता! उस दिन तुमने कृपा करके मुझे ईश्वरचन्द्र विद्य-सागर की भेट करा दी! तब मैंने तुमसे कहा था कि अब मुझे किसी पंडित से मिलना है। आज तुमने यहां लाकर मेरी यह भी इच्छा पूर्ण कर दी!"

फिर शशिधर की ओर देख कर महाराज कहने लगे "बाबा! तुम अभी अपना सामर्थ्य थोड़ा और बढ़ाओ। कुछ दिन थोड़ी और साधना करो। पेड़ में अभी तुमने कहीं अपना पैर भी न लगाया, योंही पके पके फल खाने की इच्छा करते हो! तथापि उसमें समाधानकारक बात यही है कि तुम ये सब काम लोगों की भलाई के हेतु कर रहे हो।"

साधन चाहिये।

इतना कह कर शिर झुका कर महाराज ने पंडित शशिधरजी को नमस्कार किया और कहा, पहले जब मैंने तुम्हारा नाम सुना था तब लोगों से यह पूछता था कि क्या वे केवल पंडित ही हैं या उनमें कुछ विवेक-वैराग्य भी है ?" जिस पंडित में विवेक-वैराग्यादि गुण नहीं हैं, उसका पांडित्य ही किस काम का ? वह सच्चा पंडित नहीं है।

पंडित और विवेकवैराग्य।

" यदि तुम्हें आदेश हुआ हो, यदि भगवान् की आज्ञा तुम्हें हुई हो, तो तुम अवश्य लोगों को उपदेश करने का कार्य हाथ में लो। फिर धर्मोपदेश करने में कोई दोष नहीं है।

गुरुत्व और आदेश।

" आदेशरूप पुष्टिबल के मिलने पर गुरु को जो सामर्थ्य प्राप्त होता है वह अजेय और अटल होता है। उस पुरुष को फिर कोई हरा नहीं सकता। मेरी माता भगवती वाग्देवी का प्रसाद—उससे प्राप्त हुए एक किरण का भी तेज-प्रकाश—ऐसा सामर्थ्यवान् होता है कि बड़े बड़े अहंभावी पंडित और केवल ग्रन्थों का आश्रय करनेवाले विद्वान्, उसके सामने केवल धूल हैं।

आदिष्ट गुरु अजेय होता है।

" बरसात के दिनों में देखो, जहां एक बार चिराग जला कि पतिंगों के झुण्ड के झुण्ड उस पर आ गिरते हैं। उन्हें कोई निमंत्रण देने नहीं आता। वे आप ही आप ज्योति के प्रकाश से आकर्षित होकर दौड़ते हैं और उस पर आ गिरते हैं। इसी न्याय से जिस महात्मा को आदेश मिला है और भगवान् की आज्ञा हुई है, वह उपदेश करने के लिये श्रोताओं को ढूंढते नहीं बैठता। " अमुक समय पर व्याख्यान होनेवाला है, आप

आदि गुरु कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं करता, न नगाड़ा पीट कर सभा करवाता है और न प्रशंसा प्राप्त करने की उसे परवाह रहती है।

कृपा कर आइये" इस प्रकार के विज्ञापन या नोटिस देने की उसे आवश्यकता नहीं है। श्रोतागण आप ही आप उसे ढूंढते चले जाते हैं। वह परमात्मा का आदिष्ट पुत्र चुम्बकपत्थर है। उसकी आकर्षण-शक्ति से कोई बच नहीं सकता।

परमहंस का वैराग्य और गुरुत्व।

"उस भाग्यवान् पुरुष के पास राजा, महाराजा, सरदार, जमींदार, सेठ, श्रीमान् सब ही आकर उसके पैरों पर गिरते हैं और कहते हैं कि "महाराज! आपकी क्या इच्छा है? लीजिये आम, अमरूद, मेवा, मिठाई, मोहर, जवाहर आदि। जो चाहिये सो, आपके लिये, इस दास की ओर से, हाजिर है। क्या इनके स्वीकार करने की आप अनुग्रह करेंगे?" इन सब लोगों को वह यही उत्तर दिया करता है। "कृपा कीजिये, मुझे आपकी कोई वस्तु नहीं चाहिये। ये सब मुझे तुच्छ जान पड़ती हैं।

"चुम्बकपत्थर लोहे से यह नहीं कहता कि तू मेरी ओर आ। लोहा आप ही आप उसकी ओर आकर्षित होकर चला जाता है—उसे जबरदस्ती जाना ही पड़ता है।"

आदिष्ट गुरु और ज्ञान।

"इस प्रकार का सिद्ध-रूप पंडित नहीं होता और वेदशास्त्र पढ़ा नहीं रहता: इसलिये शायद तुम्हें उसके ज्ञान की योग्यता के विषय में शंका होती हो। वह पुरुष विद्वान्—केवल ग्रन्थों को पढ़ कर विद्वान्—नहीं होता, अतएव यह शंका भूल कर भी न करनी चाहिये, कि वह ज्ञानी नहीं हो सकता। प्रत्युत ज्ञानदात्री जगन्माता भगवती की कृपा उस पर होने पर उसे ज्ञान की कहां कमी है? क्या पुस्तकों के रटने से या पढ़ने से कभी किसीको पारमार्थिक ज्ञान होता है? कभी नहीं। उस प्रान्त में (महाराज का जन्मग्राम जिस प्रान्त में था उस प्रान्त में) अनाज की माप करते समय एक आदमी मापता जाता है।

दूसरा मापनेवाले के आगे अनाज का ढेर करता जाता है। यही हाल ईश्वर-दत्त ज्ञान का है। जिस पर परमात्मा की कृपा होती है, भगवती जगन्माता उसके हृदयकमल में ज्ञान की वर्षा करती है। वहां ज्ञान का प्रवाह कभी नहीं सूखता। भगवती के किंचित्मात्र कृपा-कटाक्ष का पात्र जो पुण्यवान् सत्पुत्र हुआ हो, उसे क्या कभी ज्ञान का शेष हो सकता है? इसलिये मैं पूछता हूं कि क्या इस प्रकार की कृपा, ऐसा कुछ आदेश, तुम्हें हुआ है?"

हत्रा (पंडितजी से):—हाँ, ऐसा कोई आदेश तो अवश्य हुआ होगा।

पंडितः—अजी नहीं, आदेश वगैरः कुछ नहीं हुआ।

घर के मालिकः—आदेश वगैरः इन्हें कुछ नहीं हैः केवल ए अपना कर्तव्य जान कर उपदेश किया करते हैं!

महाराजः—यदि व्याख्याता या उपदेशक को अथवा गुरु को अपने अंतःकरण के भीतर से अधिकार का बल न हो, यदि आदेश से प्राप्त तेज-बल उसमें न हो, तो उसके व्याख्यान या उपदेश किस काम के! उनकी कोई कीमत नहीं है। एक समय एक व्याख्याता अपने व्याख्यान में लोगों से कह रहा था कि "मैं पहले शराब पीता था, मैं ऐसा काम करता था, वैसा करता था," अर्थात् इस स्वीकृति से उसने अपनी कीमत आप ही घटा ली; क्योंकि कुछ लोग इन बातों को सुन कर दिल में कहने लगे कि "यह आदमी कैसा मूर्ख है, जो आप ही अपना शराब पीना प्रकट रूप से कबूल करता है।" इस प्रकार के उपदेशक का आचरण शुद्ध और पवित्र न हो तो उसकी केवल कोरी बातों का कुछ परिणाम नहीं होता। सेवा-मुक्त होकर घर बैठे वेतन पानेवाला (पेन्शनर) वारीसाल का एक सबजज्ज (न्यायाधीश) एक समय मुझसे

(अनादिष्ट गुरु के व्याख्यानों की योग्यता।)

कहने लगा " महाराज ! आप धर्म-प्रचारार्थ उपदेश किया करते हैं । ठीक है, मैं भी अब आनंद से यह कार्य करने के लिये कमर बांधता हूं," मैंने उत्तर दिया " प्यारे भाई ! सुनो, कुमारपूकर गांव में हलधर-पूकर नाम का एक तालाब है । उसके किनारे हमेशा, प्रातःकाल को लोग आकर बड़ी गलीज किया करते थे । इधर चलनेफिरनेवाले दूसरे लोग उन्हें बहुत गालियाँ दिया करते और उनको बड़ी निन्दा किया करते थे; परन्तु उसका कुछ भी परिणाम नहीं होता था । अन्त में तालाब पर एक सरकारी नोटिस लगाया गया कि यहां कोई गलीज न करे । देखिये, सरकारी आज्ञापत्र का कैसा विलक्षण प्रभाव है ! फिर से वहां न किसीने मैला किया, न कहीं दुर्गंध रही ।

इसलिये मैं कहता हूं कि इस प्रकार के फालतू व्याख्याताओं के व्याख्यान का कोई उपयोग नहीं होता । उसे अधिकार-शास्त्र से ही सम्पन्न होना चाहिए—भगवत्प्राप्त चिन्हों से ही विभूषित होना चाहिए । जो सिपाही अपने डरेस में नहीं है, जिसके कमर में चपरास नहीं है, लोग उसकी क्यों सुनने लगें ? इसी प्रकार उपदेशक को भी आदेश—ईश्वर की आज्ञा—का चिन्ह चाहिए ।

• सामाजिक शिक्षा और सामाजिक उपदेश का कार्य जो कर रहा है, उसका आध्यात्मिक बल भी बहुत बड़ा होना चाहिए । कलकत्ते के हनुमानपुरी के समान बड़े बड़े पहिलवानों से दो हाथ छेड़ने की योग्यता होनी चाहिए । कुस्तीबाज पहिलवान यदि अखाड़े के नौजवान चेलों में अपनी बड़ाई बतावे तो उसमें उसका कौन पुरुषार्थ है ।

यह बात सब लोगों को विदित है कि चैतन्यदेव ईश्वरी अवतार थे; परन्तु जो कार्य वे कर गये, उसका अब क्या रह गया है ! इसी पर से समझो कि जो उपदेशक आध्यात्मिक बल से शून्य है, उसका काम कितना शुष्क होगा अर्थात् उसका कुछ भी असर नहीं होगा ।

अतएव मेरा कहना है कि परमात्मा का आदेश प्राप्त-करने के लिए, उसी प्रभु के चरण कमलों में लीन हो, उसीकी गाढ भक्ति का अभ्यास करो। यह कहते हुए महाराज भक्ति-रस में उन्मत्त हो बड़े प्रेम से गाने लगे:—उनके गीत का भावार्थ यह है कि:— .

(हे प्राणि!) तुम भक्तिरस रूपी महासागर में गहरा गोता लगाते हुये आत्मस्वरूप मुक्तामणि का पता लगाओ। इस महा-सागर में कूद कर गोता लगाने में जरा भी न डरो।

जिस प्रकार भक्त शिरोमणि वीर हनुमान ने श्रीरामचन्द्रजी का पता लगाने के लिए अतल, तलातल, सुतल और पाताल लोक में निर्भर संचार किया; अहिरावण, महिरावणादि मायावी राक्षसों को, अपने भक्तिबलरूपी शस्त्र से, जीत कर अपनी इष्ट वस्तु (श्रीरामचन्द्रजी को) प्राप्त कर ली, उसी प्रकार तुम भी अपनी संसारी वासनाओं को जीतो। ये अहिरावण, महिराव-णादि तुम्हें भवजाल में फंसा कर खाने को तयार हैं। इन्हें भक्तिबलरूपी शस्त्र से जीत कर परमात्मा की प्राप्ति का उद्योग करो।

मैंने इस नरेंद्र से एक दिन कहा " ईश्वर अमृतरस का सागर है। " क्या तुम इस सागर में गहरी डुबकी लगाओगे? बोलो, सच कहो। भला ऐसा समझो, कि यहां तक बड़े चौड़े मुंह का बर्तन अमृतरस से लबालब भरा धरा है और मान लो कि तुम मक्खी हो, उस रस को पीने के लिए बड़े आतुर हो, तो किस स्थान पर बैठकर उसे चखोगे? नरेन्द्र ने उत्तर दिया मैं तो बर्तन के किनारे ही बैठकर खाऊंगा, क्योंकि यदि मैं कहीं आगे बढ़ा तो अवश्य उसमें डूब मरूंगा। तब मैंने कहा " प्यारे, ईश्वर-सागर में, भक्तिरसरूपी समुद्र में, डूब मरने के भय की शंका कभी मत करो। याद रक्खो, सच्चिदानन्द-सागर केवल अमृतसागर है। इस सागर के जल में मरना तो है ही नहीं,

किन्तु यह, पानी के बदले, अमरत्व देनेवाला है। तात्पर्य यह कि भक्तिरसामृत में तुम चाहे जैसा गहरा गोता लगाओ, उसमें तुम्हारा कल्याण ही है। लोग कभी कभी ऐसी मूर्खता की शंका करते हैं कि "भक्ति की अधिकता से हमें कहीं कोई बाधा न हो।" परन्तु ऐसी पिशाची शंका तुम कभी न करो। इस भक्तिरसामृत के सागर में गहरा गोता लगाते हुए अमृत-रस का आकंठ पान करो। इसी मार्ग से तुम्हारा हृदयकमल शुद्ध होगा, तुम्हें ईश्वर प्राप्त होगा। उसके प्रत्यक्ष दर्शनसुख के अनुभव की इच्छा करो। फिर उसकी महामंगलमय वाणी तुम्हारे कान पर पड़ेगी। वह तुम से बोलेगा और यदि उसकी इच्छा हो, तो वह तुम्हें आदेश भी देगा।

बिन्दु ३९।

अमृत-सागर का मार्ग।

महाराज.—अमृतसागर में जाने के लिए अनेक मार्ग हैं, उसमें यह जरूर नहीं कि तुम 'एक' ही मार्ग से जाओ। किसी भी मार्ग से उस सागर में जा गिरना है।

सब मतमतांतरों का समाधान।

मान लो, कि एक अमृत का कुंड है। उस कुंड का अमृत यदि तुम्हारे मुख में पड़े तो तुम्हें अमरत्व प्राप्त होगा, फिर चाहे वह किसी तरह से क्यों न पड़े। कुंड के उतार की ओर से तुम धीरे धीरे उसमें उतरो और उसमें का अमृत-प्राशन करो। अच्छा, यदि तुमने किनारे से भीतर छलांग मारी, अथवा तुम्हें किसीने बाहर से ढकेल दिया, तोभी

परिणाम एक ही होगा। उस अमृत का स्वाद तुम्हें प्राप्त होगा और तुम अमर ही होगे।

मार्ग अनंत हैं। ज्ञान, कर्म और भक्ति, इसमें से चाहे जिस मार्ग से जाओ, तुम्हें ईश्वर-प्राप्ति होगी; केवल तुम्हारी आन्तरिक निष्ठा चाहिए। योग तीन प्रकार के हैं:—१ ज्ञानयोग, २ कर्मयोग और ३ भक्तियोग।

योग।

(१) ज्ञानयोगः—ज्ञानबल से ईश्वर-प्राप्ति कर लेने का यह एक मार्ग है; ब्रह्म को जानना ही ज्ञान का हेतु है। ज्ञानी कहता है 'नेति-नेति,' वह सदसद्विचार करता है। विचार करते करते एक एक असद्वस्तु का त्याग वह ज्यों ज्यों करते जाता है त्यों त्यों उसकी प्रगति या उन्नति होती जाती है—त्यों त्यों जीवात्मा परमात्मा के निकट होता जाता है। अन्त में वह ऐसे एक स्थान पर पहुंचता है जहां उसके विचार की गति एक हो जाती है, उसे समाधि प्राप्त होती है और ब्रह्म का अपरोक्षानुभव उसे प्राप्त होता है।

(२) कर्मयोगः—अर्थात् कर्म करते हुए ईश्वर में मन रखना। आजकल तुम जिसका उपदेश कर रहे हो वही अष्टांगयोग अथवा राजयोग है। कर्म का अनासक्त आचरण ही कर्मयोग कहलाता है। कर्म का अनासक्त आचरण करते हुए धारणा और ध्यानद्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अनासक्तभाव से कर्म करते हुए, अपने हरएक कर्म का फल ईश्वर को अर्पण करके, गृहस्थाश्रमी पुरुष और संसारी लोग, कर्मयोगी हो जाते हैं। निष्काम-भाव से ईश्वर की पूजा करना या जपतपादि करना भी कर्मयोग है। कर्मयोग का उद्देश है, ईश्वर-प्राप्ति अर्थात् सगुण अथवा निर्गुण ब्रह्म-लाभ।

(३) भक्तियोगः—अर्थात् सगुण में निश्चल मन रखकर उसकी कीर्ति गाना और उसका भजन तथा कीर्तन करना।

कलियुग में भक्तियोग ही सहज साध्य मार्ग है। भक्तियोग ही युगधर्म है ।

कर्मयोग की कठिनता ।

कर्मयोग बड़ा कठिन है। खास कर इस कलियुग में तो वह अत्यंत ही कठिन है, यह मैंने पहले ही तुमसे कह दिया है। मैंने इस कर्मयोग की कठिनता के 'कारण' भी तुमसे कह दिये हैं। कहो, वे कौन से हैं? पहला कारण यही है न, कि इस कलियुग में मनुष्य को अवकाश ही कहां है? जो नित्य नैमित्तिक कर्म मनुष्य के लिये शास्त्र में कर्तव्य कहे गये हैं वे सब करने के लिये इस कलियुग में मनुष्य को अवकाश कहां है? पहले तो इस युग में आयुष्य ही की कमी! दूसरी बात यह कि अनासक्त होकर, फल की इच्छा न करते हुए, कर्म करना बड़ा ही कठिन है। निष्काम मन से, इहामुत्रफलभोग की विरक्ति से, आचरित पुण्यकर्म के पारितोषिक की आशा इस लोक या परलोक में न करते हुए, अथवा दुष्कर्म से प्राप्त होनेवाले दंड का भय न करते हुए, यद्यपि तुमने कर्म करने का निश्चय भी किया, तथापि कुछ काल के बाद ऐसा होता है कि आसक्ति चहां प्राप्त होकर निहारने लगती है। यदि तुम्हें कर्माचरण करने के पहले ही ईश्वर-प्राप्ति हो चुकी हो, तो बात निराली है।

ज्ञानयोग की कठिनता ।

इसी प्रकार इस युग में ज्ञान-योग भी बड़ा कठिन है। इसका पहला कारण यह है कि, अपना प्राण केवल अन्नगत है। दूसरे, इस युग में मनुष्य की आयुष्य बहुत ही कम है। तीसरे, इस युग में देह की आसक्ति छूटना बड़ा कठिन है और जब तक देह-बुद्धि का अस्त नहीं होता तब तक ज्ञान का उदय भी नहीं होता। भला ज्ञानी की वृत्ति किस प्रकार की होनी चाहिए? वह ऐसी हो:—मैं (स्थूल अथवा सूक्ष्म) शरीर नहीं हूं। मैं केवल परब्रह्म परमात्मा हूं। मैं शरीर नहीं हूं। इसलिये

शारीरिक विकारों की बाधा मुझे कभी नहीं हो सकती, अर्थात् क्षुधा, तृषा, जन्म, मृत्यु, रोग, शोक, सुख, दुख आदि सब से मैं परे हूं।

रोग, शोक, सुख, दुःख इत्यादि विकारों की बाधा जब तक मनुष्य को होती है तब तक वह अपने को ज्ञानी कैसे कह सकता है? कोई मनुष्य यदि काँटों में गिर जाय, उसके बहुत लग जाय, उसके हाथ में काँटे घुस जाँय, काँटों से उसका हाथ फट जाय या कट जाय, बहुत सा रक्त उसमें से बहने लगे और उसकी वेदना से उस मनुष्य का मन छटपटाने लगे, ऐसी कष्टमयी अवस्था में यदि वह यह कहे कि मेरे हाथ में कुछ लगा नहीं, तो उसके इस बात में जितना सत्यांश हो!! उसी तरह शारीरिक सुख, दुःख का परिणाम जब तक मन पर होता जाता है तब तक कोई भी मनुष्य अपने को 'ज्ञानी' माने या कहे, तो वह सत्य नहीं है। उपर्युक्त साधारण प्रकार का हाथ कटाया हुआ मनुष्य और यह बनावटी ज्ञानी, दोनों बराबर हैं।

भक्तियोग ही युग धर्म है— ज्ञानयोग या कर्मयोग नहीं।

इसीलिए मैं कहता हूं कि इस युग में, अन्य मार्गों से, भक्तियोग ही सुलभ है। उससे कर्म का व्यापकत्व सहज ही आकुंचित हो जाता है। ईश्वर का अखंड चिन्तन होता है। इस युग में ईश्वरप्राप्ति का यही सुलभ मार्ग है।

केवल मार्ग निराले हैं, परन्तु मिलने का अन्तिम स्थान एक ही है!

ज्ञानमार्ग से (सदसद्विचार से अर्थात् ज्ञानविचार से) अथवा कर्ममार्ग से (अर्थात् निष्काम कर्माचरण से) ईश्वर-प्राप्ति होगी, परन्तु इस कलियुग में भक्तिमार्ग से ये मार्ग अधिक कठिन हैं। यह नहीं कि भक्त अन्य स्थान पर पहुंचे और ज्ञानी या निष्काम-कर्मी अन्य स्थान पर। तीनों के पहुंचने का अन्तिममोक्षप्रद स्थान एक ही है। केवल मार्ग भिन्न भिन्न हैं।

ज्ञानयोगी ब्रह्म साक्षात्कार का भूखा होता है। ज्ञानयोगी भी यदि भक्तिमार्ग का अवलम्ब करे तो उसमें उसका अधिक हित है। उसको मन में अनन्य भक्ति रख कर अपना सब भरोसा ईश्वर पर छोड़ देना चाहिये, क्योंकि वही भक्तवत्सल है। अपने अनन्य भक्तों की सब कामनाओं को पूर्ण करना उस परमात्मा का विरद है। अतएव भक्त को लालसा यदि ब्रह्मज्ञान की हो तो वह भी पूर्ण करने को परमात्मा समर्थ है। अतएव ज्ञानी को सगुणब्रह्म और निर्गुणब्रह्म दोनों का साक्षात्कार होगा। केवल इस गुण में उसको भक्त के मार्ग से जाना चाहिये।

ईश्वर का साकाररूप जहां देखने को मिला, जहां उस परमात्मा के साथ खुले मन से बोलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, कि भक्त के चित्त का समाधान हो जाता है। उसे फिर बहुधा ब्रह्मज्ञान की इच्छा नहीं रहती। परन्तु ईश्वर इच्छामय है। यदि उसकी इच्छा हो तो वह भक्त को अपने सकल ऐश्वर्य का पूर्ण अधिकारी बना देगा, अपने सगुण और निर्गुणरूप दोनों उसे बतावेगा। वह चाहे, तो अपने भक्त को भक्ति भी दे और ज्ञान भी दे। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य कलकत्ते तक जा पहुंचा, उसे वहां का मैदान, जनरल अक्टरलोनी का स्मारक, अजायबघर आदि स्थान देखना क्या कठिन काम है? कलकत्ते तक पहुंचना ही मुख्य और कठिन है।

क्या भक्त को ब्रह्मज्ञान होगा?

तुम केवल मेरी माता तक आ पहुंचने का उद्योग करो। जहां एक बार माता तुम्हें प्राप्त हुई कि वह तुम्हें भक्ति देगी, ज्ञान देगी और ज्ञान और भक्ति दोनों देगी। सविकल्पसमाधि में उसके साकार स्वरूप का तुम्हें दर्शन होगा। निर्विकल्प समाधि में उसके सच्चिदानन्दरूप का अनुभव तुम्हें प्राप्त होगा। वहां माता की कृपा से भक्त का अहं भाव चला जाता है और नामरूपात्मक साकार स्वरूप का भी लोप हो जाता है।

‘श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा’ के विषय में स्वामी विवेकानंद का पत्र।

अक्तूबर १८९७

मित्रवर एम्,

अब तुमने योग्यकार्य को ही अपनाया है! इसीकी आवश्यकता थी! वाह रे धैर्यशील! ऐसे ही बढते चलो। उस निद्रा का सदासर्वदा के लिये त्याग करो! देखो, काल को व्यर्थ न खोओ! शाबास! ऐसा ही चलने दो!

इस पुस्तक के लिये मैं तुम्हारा अत्यन्त कृतज्ञ हूं। चाहे इसका व्यय भले ही वसूल न हो; परन्तु उसकी बिलकुल चिंता मत करो! तुम्हें बहुत से लोग आशीर्वाद देंगे; कुछ लोग शाप भी देंगे; पर, ‘वैसा ही सब काल बनता साहेब,’ जगत् की तो यह सदा की रीति ही है! यही समय है।

तुम्हारा,

विवेकानंद।

भक्त कहता है "माता सकाम कर्म का स्वरूप बहुत भयंकर है। वह कर्म कामनापूर्ण होता है। अतएव 'जैसा करना वैसा भरना' इस न्याय के अनुसार भला-बुरा फल बिना भुगते नहीं छूटता। अच्छा, यदि चाहो कि अनासक्त होकर कर्म करें, तो वह इस कलि-काल में अत्यंत कठिन है। हे माता, सकाम कर्म करके, वासनाओं में लिप्त होकर, तेरा विस्मरण हो जाता है; इसलिये ऐसे कर्म से मेरा छुटकारा कर दे। मुझे ऐसा कर्म न चाहिये। जब तक तेरे दर्शन का लाभ न हो और जब तक मेरे पीछे लगी हुई कर्म की व्याधि न छूटे, तब तक हे माता, इस कर्म का बोझ तू दिन दिन कम कर और कर्म का बोझ कम करके तेरी प्राप्ति के जो मुख्य साधन (अर्थात् तेरा निर्मल प्रेम और तेरी शुद्ध भक्ति) हैं, उन्हींका संचार मेरे हृदय में कर। जो कुछ थोड़ा कर्म मेरे भाग्य से मुझे करना पड़े—तेरी कृपा से मेरे कर्मों का व्यापकत्व दिन दिन कम हो जाने से जो कुछ अल्प कर्म मुझे करना पड़े—वह निष्काम मन से करने का सामर्थ्य, हे माता, तू मुझे दे। जब तक तेरी प्राप्ति होकर मेरे जन्म का सार्थक न हो, मेरा जन्म सफल न हो जाय, तब तक हे माता, मेरे मन को नये नये कर्मों में (फिर चाहे वे निष्काम ही क्यों न हों!) लिप्त न होने दे। तेरा आदेश, जो-जो कर्म करने के लिये मुझे होगा, केवल वही कर्म करने की मुझे सुबुद्धि दे। इसके अतिरिक्त दूसरे कर्म करने की, हे माता! मुझे दुर्बुद्धि कभी न दे।"

भक्ति और कर्म:—भक्त की प्रार्थना

विन्दु ४०।

पंडित.—महाराज, आप तीर्थयात्रा के लिये कहां तक गये थे?

महाराजः—(सहास्य) हाँ, गया था कई स्थानों में। ह्त्रा बहुत दूर गया था। बहुत ऊंचा गया था। हिमालय के हृशीकेश तक गया था। मैं उतनी दूर नहीं गया। उतना ऊंचा भी नहीं गया। बाज, गीदड़ आदि आकाश में बहुत ऊंचे उड़ते हैं। परन्तु उनकी नज़र कहां रहती है? जहां जानवरों के मुरदे फेंके जाते हैं वहीं न? एक बार भक्ति की महिमा जहां मनुष्य ने समझी, जहां उसका रहस्य दिल में जमा, कि फिर तीर्थ, क्षेत्रादि घूमने का प्रयोजन नहीं रहता। मैं यात्रा के निमित्त काशी गया था; परन्तु वहां का क्या चमत्कार तुमसे कहूं। वहां यहां की घास, वहां यहां के पत्तों के पत्ते, इनमें कोई भेद नहीं दिखता। मन में भक्ति का लेश भी यदि न होगा तो केवल तीर्थयात्रा से कोई फलप्राप्ति न होगी। भक्ति से ही अन्तःकरण पूरा पिघलना चाहिए, भक्ति का ही पूरा संचार चित्त में होना चाहिए। यही सर्वसार है। भक्ति से ही तुम्हारा सब प्रयोजन है।

तीर्थ यात्रा का महत्व, कर्म और भक्ति।

बाज, गीदड़ों का उदाहरण ऊपर दे चुके हैं। संसार—कामिनी (कामेच्छा) और कांचन (सम्पत्ति, मान, कीर्ति, सकामकर्म इत्यादि)—यह संसार केवल मरे जानवर फेंकने का ही स्थान है। तो फिर कहो उसमें बाज, गीदड़ आदि कौन हुए? जो लोग बड़े बड़े इरादे बांधते हैं, बहुत लम्बी लम्बी बातें बोलते हैं, शास्त्र-विहित कर्म करने की आढ्यता बताते हैं, वही लोग, हाथ से सब शास्त्रोक्त कर्म करते

हुए भी, अपने चित्त को विषयवासना में फंसाये रहते हैं; स्वार्थी बन कर पैसा, सन्मान और दैहिक सुख आदि का प्राप्त करना, यही उनका मुख्य ध्येय रहता है।

पंडितः—ठीक है महाराज, ऐसी अवस्था में शास्त्र का जाना, मानों कौस्तुभमणि को लात से ढकेल कर कांच के पीछे पड़ने के समान है।

धर्म-जागृति का बिना समय आये फल नहीं मिलता।

श्रीरामकृष्णः—तुम्हें इस बात का विचार करना चाहिए कि उपदेश के लिए योग्य शिष्य का समय आया है या नहीं। यदि शिष्य का मन विषय-वासनाओं से अनुरक्त है, यदि शिष्य संसारी वासनाओं में फंसा है, तो उसे उपदेश करना व्यर्थ है। संसारी वासनाओं के विषय में तिरस्कार जब तक मन में न उत्पन्न हो, तब तक ज्ञान का पूरा असर मन पर नहीं होता। इसलिए तुम पात्र देखकर उपदेश किया करो तो उसका कुछ उपयोग भी होगा। प्रत्येक मनुष्य या स्त्री को संसार-सुख का उपभोग पाने का अवश्य अवकाश मिलना चाहिए। जब तक संसारी कर्मों से उसका मन विरक्त नहीं हुआ, तब तक ज्ञान का कुछ परिणाम उसके मन पर नहीं हो सकता। बोये हुए बीज का योग्य अङ्कुर होने के लिए जमीन भी उसके लायक तयार होनी चाहिए। तभी उस बोआई का सार्थक होगा। जिन्हें तुम उपदेश करते हो उनका यदि योग्य ग्रहण-काल प्राप्त न हुआ हो, तो तुम्हारे उपदेश का कुछ भी फल न होगा। सच्ची धर्म-बुद्धि मनुष्य में जागृत होने के लिये योग्य काल के प्राप्त होने की आवश्यकता है। गुरू केवल निमित्तमात्र है। भगवत्प्राप्ति के लिये सब से मुख्य बात यही है कि चित्त में अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिए, फिर गुरु का केवल सहाय-मात्र होने से भी कार्यसिद्धि में पूर्णरूप से सफलता प्राप्त हो जाती है।

वैद्य तीन प्रकार के होते हैं:—

तीन प्रकार के गुरु।

एक वैद्य वे हैं जो घर आकर रोगी को देखते हैं, उसके रोग की परीक्षा करते हैं और उसे औषध देते हैं; परन्तु यदि दवा का परिणाम रोगी पर यथोचित न हो तो वे उसकी परवाह न करते हुए सीधे लौट जाते हैं—ये अधम प्रकार के वैद्य हैं। दूसरे वैद्य वे होते हैं जो केवल रोगी को औषध ही देकर नहीं ठहरते, किन्तु रोगी यदि औषध ग्रहण न करे तो वे उसे योग्य रीति से समझाते हैं और रोगी को चंगा करने की तन, मन से चिंता करते हैं। इसी तरह पहिले प्रकार के गुरू केवल उपदेश करके चलते होते हैं। उन्हें यह परवाह नहीं रहती कि उनके उपदेश का यथार्थ परिणाम लोगों पर होता है या नहीं। दूसरे गुरू केवल उपदेश करके ही नहीं शान्त होते; किन्तु साथ ही इस बात की भी चिंता रखते हैं कि उनके उपदेश का असर कहां तक लोगों पर होता है। वे लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये यथाशक्ति उद्योग और प्रयत्न करते रहते हैं।

अब तीसरे प्रकार के वैद्यों का एक वर्ग होता है—ये वैद्य जब देखते हैं कि रोगी औषध ग्रहण नहीं करता तब वे क्रोध में आकर, रोगी की भलाई के लिये, जबरदस्ती भी करते हैं। उसे गिरा कर, छाती पर सवार होकर, रोगी के मुँह में औषध डालने में भी कमी नहीं करते। ये उत्तम वैद्य हैं। उत्तम गुरू भी ऐसे ही होते हैं। वे अपने शिष्य को सन्मार्ग पर लाने के लिये जबरदस्ती का भी उपयोग करने को तयार रहते हैं।

पंडित—जैसे उत्तम वैद्य वैसे ही उत्तम गुरू भी होते हैं न? फिर, विना समय आये फलप्राप्त नहीं होता—शिष्य की ही योग्यता और ग्राहक शक्ति होनी चाहिए—गुरू केवल सहाय-मात्र होता है—यह जो आपने कहा उसका क्या अर्थ है?

श्रीरामकृष्णः—माना कि वैद्य उत्तम है, तो भी उससे क्या लाभ? जब तक दवाई पेट में न जायगी, तब तक उत्तम मेहनती वैद्य भी क्या कर सकेगा? ऐसी अवस्था में वैद्य का भी हाथ रुक जाता है। योग्य पात्र को देख कर धर्म का उपदेश किया जाता है। उपदेश करते समय तुम पात्रापात्र का विचार नहीं करते। यदि मेरे पास कोई तरुण मनुष्य आता है तो मैं उससे पहले यह पूछता हूं कि—"तुम्हारे यहां कौन कौन हैं?" "घर में कोई बुजुर्ग सयाने हैं या नहीं!" क्योंकि, कल्पना करो, यदि उस युवक का पिता नहीं है, कुटुम्बपालन का बोझ उसके ऊपर पड़ा है; कर्ज भी उसे बहुत सा चुकाना है तो ऐसी अवस्था में उस मनुष्य का चित्त ईश्वर में कैसे लगेगा? नहीं लग सकता।

पात्रापात्र।

पंडितः—ठीक है महाराज! आपका कहना। फिर महाराज की बातें "ईश्वर की दया" इस विषय पर होने लगीं।

महाराजः—एक दिन बहुत से सिक्ख सिपाही काली माता के मंदिर में आये। मंदिर के सामने ही उनसे मेरी भेंट हुई। तब उनमें से एक ने कहा "ईश्वर दयामय है"। मैंने हँस कर उत्तर दिया "क्या ऐसा है?" "ठीक है" परन्तु तुम्हें यह बात कैसे जान पड़ी? उसने कहा "क्यों?" देखिये वह हमारी सब इच्छाएं पूर्ण करता है। वह हमारा पालन करता है। मैंने कहा इसमें कौन सी बड़ी बात हुई। वह सब का पिता ही है; अतएव पिता का यह धर्म है। भला अपने बालकों को पिता न पाले तो कहो क्या कोई अन्य पुरुष उनका पालन करेगा?

नरेन्द्रः—तो फिर ईश्वर को दयामय न कहें?

श्रीरामकृष्ण—उसे 'दयामय' न कहो, ऐसा मैं तुम्हें उपदेश नहीं करता। उसे अवश्य "दयामय" कहो। परन्तु मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि ईश्वर मूल से अपना है कोई दूसरा नहीं।

पंडित—कितने अनमोल ये शब्द हैं !

श्रीरामकृष्णः—(धीरे एक शिष्य से) तुम गाते रहे; परन्तु आ के तुम्हारे भजन में मुझे कोई रस नहीं मिला। जैसे कोई अप ही कुटुम्बी मुखिया की शिफारस लेकर नौकरी ढूंढने जात है, वैसी ही तुम्हारी अवस्था रही; इसलिये मैं यहां से चल गया। मुझसे ऐसा अहंभाव भरा भजन नहीं सुना गया। शिष विचारा यह सुन कर शरमा गया।

शुद्धि।

महाराज को पानी पीना था। पास ही उनके एक प्याल पानी से भरा था। परन्तु वह पानी पीते न थे। फिर से नया पानी लाने लिए उन्होंने कहा। पीछे यह पता लग कि किसी घोर विषयासक्त मनुष्य ने उसे स्पर्श किया था अतएव ऐसा दूषित जल, वे अपने हृदयस्थ जनार्दन को अर्पण करना नहीं चाहते थे।

पंडित—(हृपा से) हम सब महाराज की संगति में सच मुच बड़े आनंद में रहते हैं।

प्रयाण।

महाराजः—(हंसते हंसते) आज का बड़ा भाग्यवान् दिन है आज मानों द्वितीया के चन्द्र का मुझे दर्शन हुआ है। कहो समझे, मैंने द्वितीया का चन्द्र क्यों कहा ? सीता ने रावण से कहा था " तू पूर्णचन्द्र है। और मेरे रामचन्द्रजी द्वितीया के चन्द्र के समान हैं। " यह सुन रावण को अत्यानंद हुआ, क्योंकि उसने उस कथन का मर्म नहीं समझा। सीताजी के बोलने का अर्थ यह था कि रावण के वैभव का अब पूर्ण विकास हो चुका। चन्द्र का जैसे पूर्ण विकास होकर उसे क्षयावस्था प्राप्त होती है, उसी प्रकार रावण को भी क्षयावस्था प्राप्त हुई थी। रामचन्द्रजी का वैभव उदयावस्था में था। उनके उत्कर्ष का समय था। रावण का अपकर्ष होनेवाला था।

यह बातें कह कर महाराज जाने के लिये उठे। पंडित तथा वहां की मंडली ने उन्हें प्रणाम किया। फिर महाराज अपने शिष्यों सहित वहां से चल दिये।

बिन्दु ४१।

स्थलः—दक्षिणेश्वर का देवालय, कलकत्ता।

ठिकानाः—महाराज की कोठरी। दिन—३ अगस्त सन् १८८४।

समय—दिन के २ बजे से रात्रि के ८॥ बजे तक।

मंडलीः—बलराम, एम्, राखाल, शिवपुर के बाऊल, हज्रा अधर, रामचटर्जी और भवानीपुर के कुछ लोग।

महाराजः—नित्य-नियमानुसार अपनी छोटी खाट पर बैठे थे, उनका मुँह उत्तर की ओर था, उनकी कोठरी के उत्तर और पश्चिमी दरवाजों से पवित्र गंगा नदी का आनन्दमय दर्शन होता था। शिवपुर के बाऊल (एक प्रकार के वैष्णव भक्त) कोठरी में चटाई पर बैठे थे। वे गोपीयंत्र * पर भक्तिरसपूर्ण भजन गा रहे थे। उनका मुँह पश्चिम दिशा को, महाराज की ओर, था। अन्य सब लोग दक्षिणाभिमुख महाराज के सन्मुख बैठे थे।

एक भजन में योगशास्त्रांतर्गत षटचक्र का वर्णन किया था। उस भजन के समाप्त होने पर महाराज कहने लगेः—

---

* (१) एक प्रकार के वैष्णव भक्त, (२) एक सारंगा ही एक वाद्य. (३)शरीर के षट्चक्र, अर्थात् १ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपुर, ४ अनाहत, ५ विशुद्ध और ६ आज्ञा।

तंत्रान्तर्गत योगशास्त्र में जो षट्चक्र कहे गये हैं उनकी सर्वांग साम्यता वेदों में कथित सप्त भूमि से है।

षट्चक्र और सप्तभूमि। मन जब तक विषयासक्त रहता है तब तक उसका निवासस्थान पहली तीन भूमि में होता है। हृदय चतुर्थभूमि है। मन यहां पहुंचा कि मनुष्य को ईश्वरज्योति का दर्शन होने लगता है। जहां इस ज्योति का दिव्य दर्शन-सुख उसे प्राप्त हुआ कि वह विस्मयाकुल होकर " यह क्या, यह क्या ! " ऐसे उद्गार मुंह से निकालने लगता है। इसके बाद कंठस्थान पंचमभूमि है। यहां मन के प्राप्त होने पर मनुष्य को सिवाय ईश्वर-चर्चा के और कुछ भी कहने या सुनने की इच्छा नहीं होती। यदि भक्त-परायण यहां से चला जाता है ! ईश्वर-चर्चा में यदि कोई दूसरी बातें करे तो उसका जी विह्वल हो जाता है। ऐसे भक्त के आगे विषय-कथा—कामिनी और कांचन की वार्ता—कोई निकाले भी, तो उसके चित्त को बड़ा कष्ट होता है। आगे षष्ठभूमि कपाल या भ्रूमध्य है। यहां मन के पहुंचते ही ईश्वर का दर्शन होता है। फिर उस मनोहारिणी मूर्ति का स्पर्श और आलिंगन सुख प्राप्त होने के लिए उसकी आत्मा ललचाती है; परन्तु उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती, क्योंकि लालटेन में जैसे ज्योति दिखाई देती है अथवा चौखट में कांच के भीतर, जैसे चित्र दिखाई देता है, उसी प्रकार भक्त को ईश्वर-मूर्ति का दर्शन होता है। परन्तु वह केवल उसे (ईश्वर-मूर्ति को) देख ही सकता है, स्पर्श नहीं कर सकता। ईश्वर-सुख का पूर्ण अनुभव उसे यहां प्राप्त नहीं होता, क्योंकि यहां कुछ अहंकार का अंश उसमें बाकी रहता है। सातवींभूमि पर मन के पहुंचते ही अहंकार का पूरा नाश होकर पूर्ण समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। मन के यहां समाधिस्थ होने से उसको बाह्य-जगत् का भास नहीं रहता, इस अवस्था में योगी इक्कीस दिन तक जीता रहता है, पीछे उसकी

मृत्यु होती है। इसमें वह अन्न-जल कुछ नहीं पाता। मुँह में यदि उसके दुग्ध डाला भी जावे, तो पेट में नहीं जाता, बाहर निकल आता है।

इस सप्तमभूमि में पहुंच कर कुछ योगी फिर भी इस मृत्यु-लोक में आते हैं; परन्तु केवल लोक-हित के लिए। उनमें भी 'मैं'—अर्थात् अहं-भाव—रहता है। परन्तु वह केवल ज्ञान-मय, शुद्ध 'मैं' है। वह 'मैं' केवल भासरूप है—पानी पर की रेखा के समान है। यद्यपि भक्तवर हनुमानजी को परमात्मा के सगुण और निर्गुण (दोनों) रूपों का साक्षात्कार हुआ था, तथापि अपना "दास-भाव" उन्होंने स्थिर ही रक्खा था। नारद, सनक, सनंदन और सनत्कुमार ने भी अपना "दास-भाव"—"भक्त-भाव" कायम ही रक्खा था। किसीने महाराज से प्रश्न किया, कि क्या वे (नारदादि) केवल भक्त ही थे और क्या वे ज्ञानी न थे? महाराज ने कहाः—यद्यपि नारदादि ऋषियों को ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ था, तथापि निरंतर बहती गंगा के समान उनका कीर्तन-भजन चलता ही रहता था। इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने अपना 'ज्ञानी-मैं' स्थिर रक्खा था। जैसे वे ज्ञानी थे, वैसे ही भक्त भी थे। लोगों को भक्ति-मार्ग सिखाने के लिए, लोगों का कल्याण होने के लिए, वे निरंतर हरि-भजन में तत्पर रहते थे। जहाज स्वयं पार होकर अन्य लोगों को भी अपने साथ पार कर देता है। नारदादि सत्पुरुष जहाज के ही तुल्य हैं।

ज्ञानी मैं।

परमहंस दो प्रकार के होते हैं:—

पहले प्रकार के परमहंस निराकार-वादी होते हैं। त्रैलंग स्वामी की गणना इन्हीं लोगों में है। इस प्रकार के सत्पुरुष कुछ स्वार्थी भी होते हैं। स्वयं मुक्त हो जाना ही उनका उद्देश रहता है और वे प्रयत्न भी वैसे ही करते हैं।

परमहंस "ज्ञानी।"

: दूसरे प्रकार के परमहंस साकारवादी और निराकारवादी भ होते हैं। उनका यह कथन है कि परमात्मा अपने भक्तों को साकाररूप से दर्शन देता है। जैसे एक नाला नदी में जा मिला, फिर उस नदी के प्रवाह में नाले का भी प्रवाह मिल कर जाते हुए

क्या महाराज ने अप्रत्यक्ष रूप से अपना ही वर्णन किया?

क्या कभी किसीने देखा है? कभी कभी ऐसा होता है कि नाले और नदी के प्रवाह मिल कर इस प्रकार एकरूप हो जाते हैं कि इन दोनों में भेदभाव जानने का कोई उपाय ही नहीं रहता; परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर नाले के पानी की धारा नदी में से जाती हुई जान पड़ेगी। दूसरी बात यह, कि ऐसे सत्पुरुषों की तुलना आकंठ जलपूर्ण घड़े से भी कर सकते हैं। इस भरे घड़े का पानी दूसरे घट या पात्र में डालिये। ब्रह्मज्ञान से पूर्णावस्था को पहुंचा हुआ सत्पुरुष भरे घड़े के समान जानो; और शिष्य को अपूर्ण पात्र जानो। अतएव जिन जिन साधनों से उन्हें परमात्मा प्राप्त हुआ है, वे सब साधन संसारी लोगों को सिखलाने के लिये सत्पुरुष अपना "ज्ञानमय अहं" स्थिर रखते हैं।

कल्पना कीजिये, कि जिस प्रकार किसी मनुष्य ने कूप खोद कर पानी निकाला। पानी निकल आने पर भी, वह मनुष्य उन हथियारों को, जिनसे कि उसने कूप खोद कर पानी निकाला था, इसलिये सम्हाल कर, जतन से, रखता है कि कदाचित उसी काम के लिये और किसीको इनका उपयोग न हो।

उसी प्रकार शान्तिरूपी कूप का जल पीकर अपनी अध्यात्मतृष्णा जिसने शान्त की, वह, दूसरे प्रकार का परमहंस, परहित करने के लिये सदा उत्सुक रहता है और लोगों को ज्ञान सिखाने के हेतु से वह अपना 'ज्ञानी-मैं' और 'गुरू-मैं' स्थिर रखता है। कुछ, लोग आम खाकर तुरन्त ही मुँह पोंछ इस

तरह चुप-चाप रहते हैं कि दूसरों को उनके आम खाने का पता ही नहीं लगता। ये लोग केवल स्वार्थी होते हैं। इनके सिवाय एक प्रकार के और लोग होते हैं, वे यदि स्वयं आम खावें, तो दूसरों को भी अवश्य देवें।

वृन्दावन की गोपियों को भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। परन्तु उन्हें ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा ही न थी। वे नित्य कृष्ण-प्रेम की ही भूखी थीं। परमात्मा रस-स्वरूप है; अतएव हम रसिक होकर उसका उपयोग लेवेंगी, यही उनकी इच्छा थी। स्वयं शक्कर बनने की अपेक्षा उसका स्वाद चखने में अधिक आनंद है।

अनुलोम और विलोम।

इसमें केवल अनुलोम और विलोम गति का तत्व है। तुम निवृत्त होकर अथवा अनुलोम गति से परमात्मा में मिल जाओ, तो तुम्हारा जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। उसीको कहते हैं, 'समाधि-अवस्था'। तुम उस अवस्था से फिर प्रवृत्त होते हो, यही विलोमगति है। इस गति का अंगीकार जहां तुमने किया, कि तुम्हारा अहंकार फिर आकर तुम्हें आलिंगन करता है। फिर तुम अपनी पूर्व स्थिति को प्राप्त हो जाते हो, अर्थात् जिस स्थान से, अनुलोम गति से, पहिले निकले थे, उसी स्थान को फिर प्राप्त हो गये। फिर तुम्हें क्या अनुभव होता है? यही न, कि हमारा जीव और अखिल ब्रह्माण्ड उसी परमात्मा में व्याप्त है; अतएव ईश्वर, जीव और जगत् का यथार्थ स्वरूप एक ही है। इन तीनों मे किसी भी एक का यथार्थ ज्ञान जब हमें होता है, तब अन्य दो का भी साक्षात्कार हो जाता है, यही बात तुम्हारे अनुभव में आती है।

यदि कपास के पर्वत पर आग की एक चिनगारी भी पडे तो वह उस पर्वत को भस्म करके नष्ट कर डालती है। उसी प्रकार यदि भगवान् का भक्तिपूर्वक भजन करो तो तुम्हारे पापों के पर्वत भस्म हो जावेंगे।

पापवाद और भय से भजन। ईसाई-धर्म और ब्राह्मोपंथ।

नरकवास के भय से अथवा यमराज के भय से भगवान् की भक्ति या भजन करना केवल साधक के लिये प्रथमावस्था में ठीक है। कुछ लोगों को संसार में मनुष्य के पापीपन के सिवाय और कुछ भी नजर नहीं आता। उदाहरणार्थ ईसाईधर्म और ब्राह्मोपंथ को लीजिए। मनुष्य को अपने पापीपन की भावना होना ही इस धर्म का सार है। "हे प्रभो, मैं अत्यंत पापी हूं; कृपा कर मेरे पापों को क्षमा करो," इस प्रकार की प्रार्थना ही उनमें उत्तम गिनी जाती है। स्वतः के पापीपन को जानना, यह धर्म की अत्यंत नीची और पहली सीढ़ी है। यह बात उनके ध्यान में नहीं आती। पारमार्थिक अवस्था की इससे भी ऊंची सीढ़ी, ईश्वर के साथ मातृभाव और पितृ-भाव रखने की, है।

अभ्यास का बल या सामर्थ्य क्या है, यह इन लोगों को नहीं समझता। 'मैं पापी, मैं पापी' इस प्रकार यदि तुम्हारी जन्म-भर भावना बनी रहे या यही बात तुम रटते रहो तो अन्त तक तुम पापी ही बने रहोगे। 'मैं बद्ध हूं, मैं बद्ध हूं' इस तरह जो सदा कहता है वह सारी उमर बद्धता ही भोगता रहता है। 'जगत् के बन्धन से मैं मुक्त हूं' इस प्रकार जो कहता और जिसकी यही भावना है, वह मुक्त ही है। क्या परमात्मा हमारा पिता नहीं है? अभ्यास का प्रभाव बहुत प्रबल है।

बिन्दु ४२।

फिर भजनी लोगों में से कुछ भक्तों की ओर देख कर महाराज कहने लगे, "क्या कुछ ऐसे भजन कहोगे, जिनमें ईश्वर-लाम के आनंद का सुख वर्णन किया हो ? (राखाल की ओर देख कर) क्यों राखाल, क्या उस दिन के, नवीन नियोगी के घर के, कहे हुए भजन का तुम्हें स्मरण है ? यानी जिसका अर्थ यह था, कि 'हे चतुर मन ! तू हरि-रस रूपी मधुर मदिरा का पान कर और उसीमें मस्त होगा।' फिर शिवपुर के भक्तों में से एक ने प्रार्थना की, कि "महाराज ! क्या आप कृपापूर्वक एकाध भजन कहेंगे ?"

हरिनामरूपी मदिरा का उन्माद।

महाराजः—मैं क्या कहूं? अच्छा तुम कहते हो उसी प्रकार मैं भी कहता हूं। इतना कह कर महाराज कुछ देर स्तब्ध रहे। फिर इन्होंने जो भजन कहे, उनमें तीन थी चैतन्यदेव और भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति के सम्बन्ध में थे। इन भजनों को कह कर महाराज समाधिमग्न हो गये। दृष्टि उनकी अर्धोन्मीलित हो गई। शरीर के सब व्यापार बन्द हो गये। वृत्ति उनकी, बाह्य शून्य होकर, समाधि-सुख की लहर लेने लगी।

विन्दु ४३।

कुछ देर के वाद वे माता से बोलने लगेः—"माता, क्यों कर यह क्लेश! तुम नीचे आओ और, स्वस्थ होकर, बैठो।"

हे माता! जो जो कार्य तुम जिस जिस प्रकार से नियमित करोगी, वैसे ही होगा। मैं इन लोगों से यह बात कहां तक कहूं!

ईश्वर-प्राप्ति कैसे हो।

जब तक विवेक या सदसद्विचार और वैराग्य—सम्पत्ति, सन्मान और इन्द्रिय-सुख के विषय में तिरस्कार—का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, तब तक, ईश्वर-प्राप्ति की बात ही कहना व्यर्थ है। वैराग्य के अनेक प्रकार हैं। एक मर्कट-वैराग्य होता है। जब संसारी दुःखों से शरीर अत्यंत सताया जाता है तब यह वैराग्य होता है। परन्तु यह वैराग्य बहुत दिन नहीं टिकता। जब सारा संसारी सुख अनुकूल है; और जब इस बात का बोध होता है कि संसारी सुख अनित्य है, केवल दो पहर की छाया है, अतएव यह सुख मिथ्या है। इससे, सच्चे और नित्य सुख की प्राप्ति नहीं होगी; तब समझो कि तुम्हें वैराग्य हुआ।

धर्म-जागृति के लिये समय ही आना चाहिए।

परन्तु इस उत्तम वैराग्य की भी प्राप्ति केवल चुटकी बजाते आसानी से नहीं हो जाती। सच्ची परमार्थबुद्धि का उदय होने के लिए अनुकूल समय की ही आवश्यकता है। तब तक तुम्हें धीरज धरे रहना चाहिए, तथापि एक बात अवश्य है कि ऐसा समय प्राप्त होने तक गुरु-उपदेश भक्तिपूर्वक श्रवण करते जाना चाहिए, क्योंकि आगे

जब सच्चे वैराग्य का समय आवेगा तब यह सारा उपदेश-समूह मनुष्य के आगे आ खड़ा होता है, फिर उस विरागी को एक एक बात का स्मरण होता है और तब वह अपने मन में कहने लगता है, "ठीक है, ठीक है, अमुक एक समय पर अमुक मनुष्य से—अमुक सत्पुरुष के मुख से—अमुक वाक्य सुने थे।" दूसरी बात यह है, कि प्रति दिवस सदुपदेश के श्रवण से तुम्हारी विषयवासना क्रमशः रत्ती रत्ती कम होती जाती है। मदिरोन्मत्त मनुष्य यदि भात का 'मॉड़' घूट घूट भी पीते जाय, तो क्रम क्रम से उसकी नशा कम होते जाती है। मनुष्य का विषयोन्माद भी मदिरा की नशा के समान है।

ज्ञान-लाभ के अधिकारी पुरुष सदा थोड़े ही होते हैं। भगवान् ने गीता में कहा है कि "हजारों मनुष्यों में कोई एक ही ईश्वर-लाभ की इच्छा करता है।"

एक भक्त—मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

श्रीरामकृष्ण:—संसार की आसक्ति जितनी अधिक होगी, उतनी ही ज्ञानप्राप्ति की कम सम्भावना जानो।

ज्ञान और अनासक्ति। आसक्ति जितनी कम, उसी प्रमाण से ज्ञानप्राप्ति उतनी अधिक होगी। अतएव ज्ञान का प्रमाण वैराग्य से अथवा विषय-सुख की अनासक्ति से सदा सम रहता है, और विषयासक्ति से सदा व्यस्त रहता है।

धार्मिकता की सीढ़ियाँ। सच्चिदानन्दरूप परमात्मा का विचार मन में आते ही 'अवाक' अथवा स्तब्ध होना, इस अवस्था को 'भाव' कहते हैं। साधारण मनुष्यों का परमार्थ में यदि बहुत प्रवेश हुआ, तो इसी भावावस्था तक होता है, अधिक नहीं।

प्रेमरूपी अमृत सब के लिए नहीं है। वह थोड़े से त्माओं का सामर्थ्य स्वयंभु अर्थात् निसर्गतः होता है, और भगवान् का 'आदेश' होता है। ईश्वर का तेज और सा उनमें रहने से उनके लक्षण ही कुछ निराले होते हैं। उ एक वर्ग ही निराला होता है। श्रीचैतन्यदेव के समान अव पुरुष इस वर्ग में गिने जाते हैं।

प्रेम के मुख्य दो लक्षण हैं:—(१) 'जगत् मिथ्या है' बात का बोध होना; (२) जो शरीर साधारण लोगों के अत्यंत प्रिय वस्तु है उसकी कुछ परवाह न होना। भाव, क आम के समान है; और प्रेम, पके आम के तुल्य है। प्रेम, के हाथ में एक रस्सी है। उसीसे वह ईश्वर को बांधकर अ वश करता है। किंबहुना अपना दास ही बना लेता है। की प्रेममय पुकार जहां भगवान् को सुनाई दी, कि भग दौड़ते आते हैं। फारसी पुस्तकों में यह लिखा है, कि शरीर में चमड़े के भीतर मांस, मांस के भीतर हड्डी, हड्डी भीतर मज्जा, इसी प्रकार एक के भीतर एक पुट बतला सब के अन्दर प्रेम बतलाया है।

कृष्णजी को त्रिभंग नाम दिया गया है। परन्तु उनका भला ऐसा (त्रिभंग) कैसे हुआ? जब कोई वस्तु यदि न रहे तभी उसका रूप बदल सकते हैं। कृष्णजी की त्रिभं आकृति से यह जान सकते हैं, कि किसी विशिष्ट वस्तु के का उनमें नरमता प्राप्त हुई होगी। और उस परमात्मा को न करनेवाली सिवाय प्रेम के भला और कौन सी वस्तु है?

प्रार्थना कैसे करना चाहिए?

प्रश्न यह होता है कि भगवान् की प्रार्थना किस प्रकार जाय? अपनी संसारी कामना पूर्ण हो के हेतु भगवान् की प्रार्थना कभी करनी चाहिए। नारदजी के समान सदा वरदान मांगना चाहिए। नारद के स्तोत्र से प्रसन्न

भगवान् कहने लगे, कि 'हे नारद तुम्हें जो चाहिए सो मांगो' नारदजी कहने लगे 'हे भगवान् मुझे केवल भक्ति चाहिए।' "तथास्तु" कह कर भगवान् ने फिर कहा 'परन्तु, इसके सिवाय तुम्हें और भी जो कुछ चाहिए, सो मांगो।' नारदजी ने उत्तर दिया "भगवान्, तुम ऐसा करो कि तुम्हारी जगन्मोहिनी माया में मैं कभी मुग्ध न होऊं"। भगवान् ने कहा "अच्छा नारद, और भी कुछ मांगो"। तव नारदजी कहने लगे, 'हे प्रभो! और कुछ नहीं चाहता; केवल भक्ति, केवल तुम्हारी भक्ति चाहता हूं!'

सब ज्ञान भी एक ही प्रकार का नहीं है। उसके भी भिन्न भिन्न प्रकार हैं। संसारी जीवों को जो ज्ञान होता है वह पहले प्रकार का ज्ञान है। इस ज्ञान में कोई विशेष सामर्थ्य नहीं है। यह केवल दीप-प्रकाश के समान है। दीप-ज्योति का प्रकाश कहां तक होगा? बहुत हुआ, तो वह अपनी कोठरी भर में ही प्रकाश करेगी। उसी प्रकार यह ज्ञान भी केवल संसारी कार्यों के लिए—जैसे घर बनाना, खाना-पीना, शरीर की रक्षा और स्त्रीपुत्रादि का पालन-पोषण इत्यादि के लिए—ही उपयोगी है। केवल संसारी बुद्धिमानी इस ज्ञान से होती है।

भक्त का ज्ञान दूसरे प्रकार का होता है। इसका सामर्थ्य पहले की अपेक्षा बहुत अधिक है। इस ज्ञान को चन्द्र-प्रकाश की उपमा देना उचित होगी। चन्द्र-प्रकाश से घर की वस्तु नहीं दिखाई देती। तीसरे प्रकार का ज्ञान है सिद्ध पुरुषों या औतारी पुरुषों का। इस ज्ञान का प्रभाव सब से अधिक और सब से श्रेष्ठ होता है। इसे सूर्य-प्रकाश की उपमा दी जा सकती है। इससे भीतर-बाहर, नजदीक-दूर और मोटा-पतला सभी पदार्थ नजर आता है। ऐसे सिद्ध ज्ञानी के लिए कठिन कुछ भी नहीं है। जीव और संसार-सम्बंधी अनेक विकट प्रश्नों का वह चलते चलते उत्तर दे देता है। मानवजाति के

सच्चे सुख-कारक तथा हित-कारक तत्वों का निरूपण वह ज्ञा
इस प्रकार से करता है, कि जिसमें एक छोटा लड़का भी सम
सके। युगानुयुग का संचित अंधकार उस वेदान्तमार्तंड
प्रकाश से न जाने कहाँ भाग जाता है।

महाराज प्रत्यक्ष रूप से अपना ही वर्णन करते हैं। ज्ञान और प्रेम दोनों जिनमें हों, सो चैतन्य प्रभु।

इन तीन प्रकार के ज्ञानों के अतिरिक्त एक और ज्ञान चौथा प्रकाश है। जैसे चन्द्र और सू एकत्रित होने से जो जाज्वल्य मिश्रि प्रकाश उत्पन्न होगा, वही स्वरूप इ ज्ञान का होता है। चैतन्य प्रभु के समा अलौकिक अवतारी पुरुषों का दिव्य ज्ञ इसी प्रकार का था, क्योंकि वे महात्म जैसे ज्ञानी वैसे ही भक्त भी होते हैं। चन्द्र और सूर्य जैसे ए ही समय पर नभ में प्रकाशित होते हों, ऐसे इस ज्ञान मिश्रित और अद्भुत तथा अद्वितीय तेज प्रकाश होता है।

संसारी जीव की आशा।

विषयासक्त मनुष्य को ज्ञान-प्राप्ति की—ईश्वरप्राप्ति की किसी भी अवस्था में आशा करना व्य है। गदले पानी में कभी सूर्य का अथ अन्य किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब न पड़ सकता। तब फिर प्रश्न यह होता है कि क्या "संसा पुरुष के लिये कोई उपाय ही नहीं है? अवश्य है। अच उपाय है। देखो, गदले पानी में यदि कोई मैल-हारक ध डाल दी जाय, तो उसका सब मैल नीचे बैठ जाता है अ जल स्वच्छ हो जाता है। विवेक और वैराग्य ही दो मैल-हार द्रव्य हैं। इन्हींसे विषयी प्राणियों का, विषयानुराग नष्ट होक जीवात्मा शुद्ध हो जाता है।

जीवात्मा को सीढ़ीसीढ़ी से ईश्वर-लाभ करना चाहिए, अ वे सीढ़ियां ये हैं:—

साधुसमागमः—यही पहली सीढ़ी है। सत्संग से ईश्वर के विषय में, मन में, श्रद्धा उत्पन्न होती है। श्रद्धा
-भक्ति की सीढ़ियां। दूसरी सीढ़ी है। श्रद्धा से निष्ठा होती है। निष्ठा जहां जमी, कि फिर ईश्वर-कथा
सिवाय और कुछ सुनने की इच्छा नहीं होती। जीव चाहता कि निरंतर उसी परमात्मा की कुछ सेवा करें। यह तीसरी ढ़ी है। निष्ठा के लिए यह बात नहीं कि कोई मुख्य ही ास्य देवत हो। उपास्य देवत तुम्हारा चाहे गुरू हो, सगुण र हो, निर्गुण ईश्वर हो, कोई अवतारी पुरुष हो अथवा कोई ादेवता हो, सब एक ही हैं। वैष्णवों की निष्ठा विष्णु या ावान् श्रीकृष्ण पर होती है। शाक्तों को शक्ति पर—इसे ही ली, दुर्गा इत्यादि नाम दिये गये हैं।

भक्तिः—निष्ठा की परिपक्वता का परिणाम भक्ति है। यह ाथी सीढ़ी है।

भक्ति अपनी परिपक्वता से भाव में परिणत होती है। भाव की वस्था में ईश्वर-नाम-स्मरण होते ही मनुष्य निःशब्द या स्तब्ध जाता है। यही पाँचवीं सीढ़ी है। सामान्य संसारी जनों गति, इसी अवस्था तक पहुंचती है, इसके आगे नहीं जाती।

महाभाव—यह छठी सीढ़ी है। ईश्वर-दर्शन के बाद महाभाव प्त होता है। महाभाव, यह भगवद्भक्ति का आत्यंतिक स्वरूप । इस अवस्था में भक्त पागल सा रहता है। कभी हंसता है ैर कभी रोता है। उसे अपने शरीर की कुछ भी सुध नहीं हती। साधारण संसारी जीवों की देह-बुद्धि होने से इस वस्था का अनुभव उन्हें कभी नहीं होता। जो केवल अव- ारी पुरुष हैं—जो मनुष्य-जाति का उद्धार करने के लिए इस ोक में जन्म लेते हैं—उन्हें ही यह अवस्था प्राप्त होती है।

प्रेमः—यह सातवीं और आखिरी सीढ़ी है। महाभाव और म बहुधा साथ ही साथ रहते हैं। प्रेम ईश्वर-भक्ति का शिखर है।

जीवात्मा, साक्षात्कार के बाद गाढ़ प्रेम में मग्न होता है। इस अवस्था के मुख्य दो लक्षण हैं:—(१) बाह्यजगत् की कोई सुध न होना, (२) अपने शरीर की कुछ सुध न होना। चैतन्यदेव इस अवस्था को पहुंचे थे। वे प्रेमावश में इस प्रकार मग्न रहते, कि उन्हें अपने शरीर की भी परवाह नहीं रहती थी और देखे हुए स्थान की भी उन्हें स्मृति रहती न थी। कोई भी वन देख कर उसे वे वृन्दावन ही समझते थे। एक समय वे जगन्नाथपुरी को गये थे, वहां 'समुद्र' देख कर वे उसे 'जमुना' ही कहने लगे, और उसी आवेश में आकर वे समुद्र में कूदने लगे। इस तरह उनकी विदेहावस्था देख उनके शिष्यों ने उनकी आशा ही छोड़ दी थी। ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर भक्त को इष्ट-प्राप्ति होती है, उसे साक्षात्कार होता है और इस संसार में जन्म लेने की सार्थकता होती है।

इस प्रकार निरूपण होने पर वे मंडली से कहने लगे "तुममें से किसीको कोई शंका पूछना हो तो पूछो; परन्तु कोई आगे नहीं आया। तब उन्होंने अपना बोलना फिर शुरू किया:—

ज्ञान-प्राप्ति के लिये योग्य समय आना चाहिये।

ज्ञान किसीको एक-दो मिनट में नहीं प्राप्त करा दिया जा सकेगा। योग्य समय आये विना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। कल्पना कीजिये, कि एक मनुष्य को खूब ज़ोर से ज्वर चढ़ा है। ऐसे समय पर वैद्य उसे कुनैन नहीं दे सकता। दिया, तो भी रोगी के लिए वह अनिष्ट होगा, इस बात को वैद्य जानता है। रोगी के शरीर का ज्वर पहले शांत होना चाहिए, तब कुनैन का उपयोग होगा। ज्वर के शान्त होने के लिए अवश्य कुछ काल चाहिए। कभी कभी ऐसा भी होता है कि शरीर का ज्वर-ताप अपने-आप निकल जाता है कुनैन अथवा और किसी औषध की आवश्यकता भी नहीं होती। ज्ञान-लाभ की भी यही बात है। जिज्ञासु का मन जब

रामकृष्ण-वाक्सुधा

प्रथम भाग।

बिन्दु १।
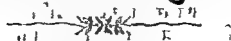
दक्षिणेश्वर का देवालय। ११ मार्च १८८३।

ारामकृष्ण.—(भेंट के लिए आये हुए एक गोस्वामी से) ह्रीं
। आपने कहा ? (मुक्ति का) साधन कौन है।
ोस्वामी —वह हरिनाम से प्राप्त हो सकती है। कलियुग में
। ही का महिमा अधिक है।
ारामकृष्ण —सच है। नाम की महिमा सचमुच बड़ी है, पर
। बिना भक्ति के कथल नाम से ही कुछ लाभ हो सकता है?
र को रिझाने के लिये मनुष्य चाहे जितने प्रयत्न किया
, पर यदि भक्ति नहीं है तो वह कभी वश नहीं हो सकता।
में परमेश्वर का सिड़ीपन निरन्तर लगा रहना चाहिए,
तो इससे क्या होगा कि मुख में राम, बगल में ईंट!"
मुख से तो राम नाम कहता है पर मन कांचन और कामिनी
मा है! बिच्छू का विष सिर्फ मन्त्र से नहीं उतरता, किन्तु
की सेंकाई करनी पड़ती है।
ोस्वामी.—तो फिर अजामिल के सम्बन्ध में आपका क्या
ना है? वह तो घोर पातकी था, ऐसा कोई पाप नहीं था
उसने न किया हो। पर प्राण निकलते समय अपने "नारा-
" नाम के लड़के का पुकारने से ही उसकी सद्गति हो गई

तक संसारी वातों में रंगा है, तव तक ज्ञानोपदेश का उस पर कुछ भी असर न होगा! किंवहुना यह उपदेश केवल औंधे और चिकने घड़े पर पानी डालने के तुल्य है। अतएव संसार-सुख भोगने के लिए संसारी लोगों को कुछ अवकाश देना ही ठीक है। कालान्तर से उसकी विषयासक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जायगी। संसारी कर्मों से उसका मन उकता जायगा और फिर ज्ञानोपदेश के लिए योग्य काल प्राप्त होगा। यही अनुकूल समय है। ऐसे ही समय पर सदुपदेश का सच्चा प्रभाव मन पर होता है। मेरे पास वहुत से आदमी आते हैं। इनमें से किसी किसीको परमार्थ से अभिरुचि होती है। उन्हें मेरा उपदेश सुन कर वड़ा आनन्द होता है और उनका मन रमता है; परन्तु ऐसे आदमियों के साथ कुछ और आदमी होते हैं, उन्हें इस ज्ञानोपदेश में कोई रुचि नहीं होती। उनका जीव ऊव आता है। 'कव यहां से निकल चलें' यही वे चाहते हैं। अपने मित्रों से वार-वार 'चलो अव चलें,' यही कहा करते हैं। जब देखा कि वे उठते ही नहीं, तव ये विचारे, राग-रंग में रंगनेवाले लोग, उकता कर यों कहने लगते हैं:—'अच्छा, तो अव हम आगे चल कर नाव पर सवार होते हैं तव तक आप यहां आइये'!!

पक्की दीवार में कील ठोंकना कठिन काम है। इससे दीवार में छेद तो नहीं होगा; किन्तु कील की नोक टेढ़ी हो जायगी।

कछुए की पीठ पर तलवार मारने की चेष्टा करना व्यर्थ है, क्योंकि तलवार मारने से उसके एक भी घाव न होगा; परन्तु तुलवार टूट जायगी। इसीलिए मैं कहता हूं कि इस परमार्थ-विषय में योग्य समय ही मुख्य वात है। विना योग्य समय के ज्ञान का प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। गुरु केवल निमित्तमात्र है। इसके वाद मंडली चली गई।

महाराज (प्रश्न से):—ज्ञान की अथवा मोक्ष की इच्छा उत्पन्न होना अधिकांश पूर्व-कर्म का फल है।

कर्म। शिष्यः—सच है महाराज! मनुष्य की अवस्था को सब तरह जानना बहुत कठिन काम है। आज हमारे आगे जो कुछ दिखाई देता है उसी अवस्था का हमें ज्ञान है, भूत भविष्य भला क्या समझ पड़ता है। पहले शायद हमारे अनेक जन्म हुए होंगे। हम घर की जमीन पर चलते हैं; परन्तु वह किस प्रकार बनी है, नीचे उसके क्या क्या पदार्थ डाले गये हैं, इत्यादि आन्तरिक दशा का, स्थिर चित्त से, हम कभी विचार नहीं करते।

महाराज—शिष्य की ओर देखकर मुसकराये और अपने स्थान से उठे। वे पश्चिमी दरवाजे की फरस पर आये और आकाश में वेग से चलनेवाले सूर्य की ओर देखते हुए समय देखने लगे। उनके सामने पवित्र विस्तृत गंगाजी का मनोहर प्रवाह भी दिखाई देता था।

बिन्दु ४४।

साक्षात्परमेश्वर।

स्थान—पञ्चवटी।

मन्दिर के समीप से बहनेवाली गंगानदी के घाट पर एक शिष्य इधर-उधर टहल रहा था। बलराम आदि कुछ भक्त लोग कलकत्ते को लौट जाने के लिये नौकारोहण कर रहे थे। उन दिनों ग्रीष्मऋतु विद्यमान थी; अतएव गंगानदी का पृष्ठ भाग तरंगों से विभूषित था। पांच बज गये थे। सूर्यदेव अस्ताचल

के निकट जा रहे थे। आकाश मेघाच्छादित था। उनकी छटा वशेष उत्तर दिशा की ओर ही मनोहर दृग्गोचर होती थी। अग्रभाग में पंचवटी, उसके पीछे ऊंचे और विशाल झाऊ के वृक्ष, उन दोनों के बीच दाहिनी ओर को बहनेवाला गंगा नदी का शुभ्र प्रवाह, पीछे की ओर नीलवर्ण मेघों का समुदाय और उनके प्रतिबिंब से कृष्णवर्ण जाह्नवी का जल, ऐसा रमणीय चित्रपट उस शिष्य को अपने सामने दीख पड़ता था।

ऐसा चित्ताकर्षक दृश्य देखने में वह शिष्य बिलकुल मग्न हो गया था। इतने ही में एकाएक उसका ध्यान महाराज की ओर खिंच गया। वे दक्षिण दिशा की ओर से पंचवटी की ओर और प्रख्यात झाऊ के वृक्षों की ओर आ रहे थे।

महाराज का मुख पांच वर्ष के बालक के मुख-सदृश प्रफुल्लित और स्मितपूर्ण था। पूर्व के सुन्दर दृश्य में उनके सुरम्य और तेजस्वी मूर्ति की अधिकता होते ही वह तो अब अव्यंग और सर्वांगसुन्दर प्रतीत होने लगा। एक ओर देखिये तो सारे ब्रह्मांड का दृश्य देख पड़ता है और दूसरी ओर अपने आप में ही अखिल ब्रह्मांड का प्रतिबिम्ब रूप देखनेवाली तथा उसका यथार्थ स्वरूप जाननेवाली श्रीरामकृष्ण परमहंस की स्वयं प्रकाशमूर्ति देख पड़ती है, ऐसा अद्भुत दृश्य उस शिष्य के सामने उपस्थित था। क्या कहें! उस शिष्य को ऐसा मालूम हुआ कि संसार के जन्ममरण के विकट प्रश्न का प्रायः निर्णय हो ही चुका। इसी अवतारी पुरुष के कारण वहां की प्रत्येक वस्तु पवित्र और प्रेमपूर्ण देख पड़ती थी। अधिक तो जाने दीजिये, वहां के वृक्ष, लता, कुंज, उद्यान-पथ, देवालय, देव-प्रतिमा, सेवकगण, प्रत्येक रजकण, इत्यादिकों को, इन्हींके सहवास के कारण, एक प्रकार का दिव्य माधुर्य और मांगल्य प्राप्त हुआ था। वहां की हरएक वस्तु भगवत्-प्रेम से परिपूर्ण थी, इसका भी कारण यही दिव्य मूर्ति थी। उस समय उस शिष्य को सचमुच यही प्रतीत

हुआ, कि उस अद्भुत स्थान के प्रत्येक वस्तु में—सजीव, निसर्ग-निर्मित, मनुष्यनिर्मित, ज्ञान-चक्षु से दीख पड़नेवाली, चर्म-चक्षु से दिखनेवाली, ऐसी प्रत्येक वस्तु में—जो धूलिकण इस प्रवित्र पुरुष के पादस्पर्श से पवित्र हो गये थे, उनसे लेकर मन्दिर के भीतर की मूर्ति तक, अथवा मानव-शरीर के भीतर गुप्त रीति से निवास करनेवाली और जो ज्ञान-दृष्टि से देखेगा, उसीको दिख सकनेवाली साक्षात् भगवान् की मूर्ति तक प्रत्येक वस्तु में—इसी दिव्य पुरुष की विलक्षण शक्ति दृष्टिगोचर होती थी। उस मूर्ति को देखते ही उस शिष्य की अवस्था जादू से मोहित होने के सदृश होगई।

महाराज ने शिष्य से कहा "मुझे यह मालूम पड़ता है कि क्या पानी बरसेगा? क्या वहां जाकर छाता ले आओगे? लाओ तो भला।"

महाराज के कमरे में जाकर शिष्य छाता लेकर तुरन्त लौट आया। पंचवटी में आने पर फिर निम्न सम्भाषण हुआ।

महाराज (शिष्य से):—तुम पर इतना काम सौंपता हूं; बाबूराम से कहना, कि राखाल के यहां से जाने के पश्चात्, तुम यहां आकर एक दो दिन रहो; नहीं तो मेरे मन को बहुत दुःख होगा। बाबूराम कैसे स्वभाव का बालक है!

शिष्य—वह अत्यन्त शान्त है।

महाराजः—क्या वह सीधे स्वभाव का नहीं है।

शिष्यः—ऐसा नहीं दीख पड़ता, कि वह बिलकुल सीधा हो। मुझे ऐसा मालूम होने का कारण भी है, क्योंकि जिस मनुष्य का स्वभाव शांत होता है, वह अपने दिल की बात किसीको मालूम नहीं होने देता। वह अपना दिल खोल कर कभी बातें नहीं करता; बिलकुल मन को मन में ही रहने देता है।

कुछ देर बाद महाराज अपने कमरे में आकर बैठे।

बिंदु ४५।

हज्रा के साथ बात-चीत।

एक वैद्यराज भी वहां आ पहुंचे थे। हरताल-भस्म तयार करने में उनको बड़ी ख्याति थी। इनको देखते ही महाराज ने कहा " इनकी औषध से मुझे लाभ होता है। ये बहुत योग्य आदमी हैं।

हज्रा —सत्य है महाराज! परन्तु बेचारे को संसार में फँसना पड़ा। इससे लाचार है!

कोन्नगर से नवाई चैतन्य आया था। वह संसारी पुरुष था, तिस पर भी वह गेरुवे वस्त्र पहिने था। उसके

नवाई और गेरुवे वस्त्र। उस कृत्य पर हज्रा ने खूब जोर से टीका की। गृहस्थ होकर गेरुवे वस्त्र धारण करना कैसा भयंकर कृत्य! इस पर महाराज बोले, " क्या कहना चाहिए, यही मुझे नहीं सूझता। तिस पर भी मुझे उसमें एक समाधान है। मैं ऐसा मानता हूं कि सब मनुष्य—मनुष्य ही क्यों, सब प्राणी—परमेश्वर के अवतार हैं। मुझे ऐसा स्पष्ट देख पड़ता है, कि परमेश्वर ही सब वस्तुओं के रूप में विद्यमान् है। मनुष्य ही क्यों, पृथ्वी में जितने पदार्थ हैं वे सब उसके व्यक्त स्वरूप हैं। इसलिये ब्रह्मांड में जो कुछ दीख पड़ता है वह सब उसका ही रूप है; किसे क्या कहूँ। "

हज्रा:—नरेन्द्र फिर मुकदमों में फँस गया है!

महाराज:—हाँ! शक्ति की निंदा नहीं है! मनुष्य का उत्तम लेकर शक्ति पर श्रद्धा रखनी चाहिये।

हज्राः—ठीक है! परन्तु वह कहता है "यदि मैं शक्ति पर भरोसा रख कर स्वस्थ बैठूं, तो मैं लोगों के सामने बहुत बुरा उदाहरण उपस्थित करूंगा!"

महाराजः—अच्छा; क्या तुझे मालूम पड़ता है कि उसे यहां आने से, अर्थात् मेरे पास से, कुछ लाभ हुआ है?

हज्रा—आपका तो उस पर जी-जान से प्यार है।

महाराजः—(एम् से):—क्या तुमसे आज-कल उसकी (नरेन्द्र की) भेंट नहीं होती? क्या तू उसके घर जाकर उससे भेंट करेगा? देख! उसे गाड़ी में अपने साथ ही ले आ! क्या ले आ सकोगे?

बाद को हज्रा की ओर मुंह फेर कर वे कहने लगे "भवनाथ यहां आता रहता है, उसकी मुझ पर बहुत निष्ठा है। इस सम्बन्ध में तू क्या समझता है? क्या यह पूर्व-संस्कार का फल नहीं है?

हरीश और लाटू सदा ध्यानमग्न रहते थे। उनकी इस आदत के सम्बन्ध में वे हज्रा से कहने लगे, "यह है तो भी क्या? वे केवल ध्यान ही करते हैं! इस विषय में तेरा क्या कहना है?"

हज्राः—यह ठीक है! केवल ध्यान करने से क्या होगा? यदि वे आपकी कुछ सेवा करते, तो हाँ, बात दूसरी थी।

महाराजः—(सम्हाल लेने के लिये):—कदाचित् उनके साधन का समय पूर्ण हो गया हो! वे जायगे तो दूसरा कोई उनके स्थान पर आ ही जायगा!

मेरे सम्बन्ध में तुझे क्या मालूम पड़ता है? क्या तू यह नहीं देखता, कि कभी कभी तो माता पर मेरी अनन्य निष्ठा रहती है, और कभी तो रहती भी नहीं? बीच में मुझे दूसरे सैकड़ों देवताओं का ध्यान हो आता है! और मैं उनकी भक्ति भी उतनी ही निष्ठा से करता हूं। अच्छा, फिर देखो तो मैं अपने अखंड सच्चिदानन्द के ही ध्यान में मग्न रहता हूं!

कभी पातिव्रत-धर्म का पालन करता हूं और कभी नहीं भी करता? क्या यह सब विलक्षण नहीं है? दूसरों को देखो, तो उनको एकनिष्ठा ही बनी रहती है। किसीकी कृष्ण पर और किसीकी राम पर निष्ठा होती है। किसी किसीको तो केवल ब्रह्म-चिंतन में ही आनन्द मालूम होता है।

इन्द्र कुछ भी न बोला।

* * * *

विरोध अथवा मेल।

संध्याकाल हुआ। जब सायंकाल के नित्यकर्मों से निवृत्त होकर महाराज और उक्त शिष्य दोनों बैठे थे, तब निम्न लिखित सम्भाषण हुआ। सम्भाषण का विषय हिन्दुओं के धर्म-शास्त्रों में दीख पड़नेवाला बाहरी विरोध था।

शिष्यः—महाराज! शास्त्रों में दो मत हैं। किसी किसी पुराण में कहा है कि कृष्ण चिदात्मा और राधा चिच्छक्ति—उत्पत्ति, स्थिति, लय करनेवाली आदिशक्ति—है; और किसी किसीमें तो कृष्ण को ही काली—आदिशक्ति—कहा है। भला यह कैसे हो सकता है? क्या यह विरोध नहीं है?

महाराजः—यह दूसरा मत देवीपुराणानुसार है। इसके अनुसार यदि कृष्ण 'काली' हों, तोभी ठीक ही है। इसमें विरोध उत्पन्न होने को तो कहीं स्थान भी नहीं है। वह अनंत रूपों से व्यक्त हो सकता है! और उसकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त ही हैं!

शिष्यः—हाँ, अब आया मेरे ध्यान में! आप जो कुछ सदा कहते हैं, वही यह बात है! अटारी पर चढ़ना यह मुख्य बात है, ऊपर चढ़ने का साधन चाहे कुछ भी हो—चाहे सीढ़ी हो, चाहे रस्सी हो, चाहे और ही कुछ साधन हो!

महाराजः—बिलकुल ठीक। यह बात तेरे ध्यान में शीघ्र ही आ गई, यह केवल ईश्वर की कृपा है! यदि ईश्वर-कृपा न होती

तो संशय का समाधान पूर्णरूप से कभी नहीं होता। तात्पर्य यह है, कि अपनी भावना हनुमान के सदृश होना चाहिए। उसने एक समय कहा था, 'मुझे दिन, तिथि, नक्षत्र, कुछ मालूम नहीं—मैं तो केवल एक राम को चिंतना करना जानता हूँ।'

सिर्फ एक भक्ति ही चाहिए।

मान ले, कि तू एक बाग में आम खाने गया। तो क्या तुझे, वहां कितने पेड़ हैं और उनमें शाखायें कितनी हैं तथा उनमें पत्ते कितने हैं, इत्यादि बातों से कुछ सम्बन्ध है? सैकड़ों वृक्ष रहें, हजारों शाखायें तथा लाखों पत्ते हों, तुझे उनसे क्या मतलब? सचमुच कुछ भी मतलब नहीं है। तू आम खाने आया है न; तो फिर देर क्यों? एकदम खाना शुरू कर। उसी प्रकार परमेश्वर सम्बन्धी अनेक वाद-विवाद करना भी व्यर्थ है। उससे अपने समय का तथा शक्ति का व्यर्थ व्यय है। इस प्रकार समय का दुरुपयोग करने की अपेक्षा भक्ति-रस में मग्न होने का प्रयत्न करना ही मनुष्य का अत्यंत महत्व-कर्तव्य है।

सांसारिक कर्म।

शिष्यः—अब यही इच्छा है कि मेरे सांसारिक कर्म दिनों-दिन कम होते जाँय। सांसारिक कामों की झंझट से परमेश्वर की ओर ध्यान देने में बाधा पड़ती है। क्यों महाराज बाधा पड़ती है या नहीं?

महाराजः—हाँ बाधा पड़ती है; यह यथार्थ ही है; परन्तु ज्ञानी मनुष्य संसार में निर्लिप्त होकर रह सकता है।

शिष्यः—उस प्रकार संसार में रहने को तो विशेष शक्ति होनी ही चाहिए। साक्षात्कार से वैसा सामर्थ्य स्वतः में होना ही चाहिए। पहले तो साक्षात्कार होना चाहिए और तब फिर कहीं अलिप्त रीति से संसार में रहने की—निष्काम मन से सांसारिक कर्म करने की—बात! क्यों महाराज ऐसा ही है न?

महाराजः—हाँ, तेरा कहना सर्वथा सत्य है। परन्तु पूर्वजन्म में तूने विशेष कर इस कर्म की—इस संसार की—इच्छा की होगी। कृष्ण श्रीमती के (राधा के) हृदय में था; परन्तु इच्छा करने पर उसने मनुष्य-रूप धारण कर अनेक लीलायें कीं! 'हे परमेश्वर! तू मुझे अनन्य भक्ति दे,' ऐसी निरंतर प्रार्थना करना ही अब तेरा कर्तव्य है। उसीके द्वारा धीरे धीरे सब बन्धन टूट जायँगे और तेरा दुःख कम होगा। मन से त्याग उत्पन्न होते ही सम्पूर्ण काम हो जाता है।

शिष्यः—(दीर्घ श्वास छोड़कर) पश्चात्ताप करने लगा कि अब तो समय व्यतीत हो गया।

महाराजः—क्या तुझे कभी ईश्वरीय आनन्द का अनुभव हुआ है?

* * * *

ईश्वरी आनंद;—कल की चिन्ता न करो।

महाराजः—संसार में "यदृच्छालाभ" यही तत्व सदा ध्यान में रखना चाहिए। सहज में जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिए। विषय-भोग के लिए घुड़दौड़ करना वृथा है! धनसंचय करने के लिए भी ज्यादा तकलीफ न उठानी चाहिए। जिसने परमेश्वर को अपना मन समर्पण कर दिया, जो उसकी शरणागत होकर उसका एकनिष्ठ भक्त बन गया, वह संसार की किसी भी बात की चिन्ता नहीं करता। जहां आय है वहां व्यय है! एक ओर से धन आया कि वह दूसरी ओर से खर्च होता ही है। इसीका नाम यदृच्छालाभ है! इसका वर्णन गीता में किया गया है।

मेरे विषय में तुझे क्या मालूम होता है?

क्या मेरे भाषण में विशेष मोहक शक्ति रहती है और क्या इसीलिए लोग मेरी ओर आते हैं? मेरे सम्बन्ध में उनका क्या मत है? मेरी ओर देखने से तेरे मन में कैसे कैसे विचार उत्पन्न होते हैं?

शिष्यः—ज्ञान, प्रेम, वैराग्य और इतना होकर भी फिर सहजावस्था—ये सब गुण मुझे आपमें देख पड़ते हैं। आपकी इस सहजावस्था के कारण ही सामान्यजनों की दृष्टि में और आपमें कुछ विशेपता नहीं देख पड़ती। उन्हें आप केवल साधारण आदमी देख पड़ते हैं। आपका सत्य स्वरूप उनके ध्यान में नहीं समझ पड़ता। इसीलिये आपकी ओर वे विशेष ध्यान नहीं देते—दुर्लक्ष्य करके वे चल देते हैं। परन्तु इसी सहजता के कारण दो-चार चुने हुए मनुष्यों का ध्यान आपकी ओर आकर्षित होता है। उन्हें इसी बात का आश्चर्य मालूम होता है कि कोई, मनुष्यों में न दीख पड़नेवाले दिव्य गुणों से विभूषित होकर भी, सहज का सहज ही बना रहे यह कैसी बात! एकाध नदी में से बड़े बड़े लड़ाई के जहाज तो निकल जाया करें, परन्तु वह स्वयं एकाध क्षुद्र नाले से भी बड़ी न दीख पड़े!

महाराज (सस्मित):—घोष पारे में वैष्णवों का एक पंथ है। वे ईश्वर को 'सहज' कहते हैं। उनका कहना है कि सहज बने बिना मनुष्य सहज की ओर नहीं जा सकता। अच्छा, क्या मुझमें अभिमान (अहंकार) है?

महाराज स्वतः के सम्बंध में बोलते हैं।

शिष्य—हाँ, है तो कुछ थोड़ा। परन्तु वह उसी उद्देश से रक्खा गया है कि देह की रक्षा हो, भक्ति के सुख का अनुभव हो, भक्तों का सहवास हो और लोगों को उपदेश तथा शिक्षा मिले। परन्तु यह कहना पड़ता है कि परमेश्वर की अनन्य प्रार्थना करने पर भी आपने अपने 'अहंकार' को स्थिर रक्खा है। मेरी ऐसी समझ है, कि 'समाधि' ही आपकी स्वाभाविक स्थिति है। और इसीलिये मैं कहता हूं कि आपमें जो अहंकार है, वह आपने केवल प्रार्थना ही से रख छोड़ा है।

महाराजः—सच है; परन्तु मैंने उसे नहीं रक्खा है; वह काम उसका—मेरी माता का—ही है!

श्रीरामकृष्ण—बहुत करके पूर्व जन्म में उसके हाथ से बहुत (सत्) कर्म हुआ होगा। यह भी कहा है कि उत्तर वय में उसने बहुत सा तपाचरण किया। कदाचित् ऐसा भी होगा कि उसकी बिलकुल अन्त समय आगई होगी। ('एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ, नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि, ब्रह्म निर्वाणमृच्छति॥') यद्यपि यह सच है कि हाथी को चाहे जितना स्वच्छ करके नहलाओ, पर वह फिर अपने ऊपर धूल डाल मलीन बन जाता है, तथापि फीलखाने में ले जाने के कुछ ही पहले यदि उसे धोकर स्वच्छ कर देंगे तो फिर उसे अपना शरीर मलीन करने का मौका ही न मिलेगा। इसी प्रकार अन्तकाल में, पर निर्विषय स्थिति में, यदि परमेश्वर का नाम-स्मरण और चिन्तन होता है तो जीव के सब कर्म दग्ध हो जाते हैं। और वह सद्गति को प्राप्त होता है।

नामोच्चार से मनुष्य की तात्कालिक शुद्धि होजायगी, पर अनेक पातकी विचारों के लेप तुरन्त ही उस पर चढ़ेंगे। उसमें मन की दृढ़ता नहीं होती, वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि फिर पातक न करेंगे। श्रीभागीरथी का स्नान करने से मनुष्य के पाप नष्ट होते हैं, पर लाभ क्या? कहते हैं कि जब तक वह गंगाजी के पानी में खड़ा रहता है तब तक उसके पातक किनारे पर के वृक्षों पर बैठे रहते हैं और उसके गंगा से निकलते ही फिर उसके शिर पर फुरफुर उड़ आते हैं (हँसी)। उसके पुराने पातक फिर से उसकी गर्दन पर आ सवार होते हैं—गंगा से वह चार कदम भी नहीं बढ़ने पाता कि वे पातक फिर उसे पछाड़ देते हैं, इससे कोई यह न समझे कि हम नाम संकीर्तन की निन्दा करते हैं। हम नामसंकीर्तन की महिमा जानते हैं। नाम संकीर्तन अवश्य करो, पर साथ ही परमात्मा से प्रेमपूर्वक यह प्रार्थना बराबर करते रहो कि "हे परमात्मा! तू मुझे अपनी भक्ति दे" और मान सम्पत्ति, कीर्ति, विषयलोलु

शिष्यः—जब आप 'नारदमुनि और उनका अहंकार' इस विषय पर उस दिन शशधर से सम्भाषण करते थे, तब आपने कहा था कि मनुष्य को कल्पतरु के समीप जाकर प्रार्थना करनी चाहिए। जैसी प्रार्थना होगी, वैसा ही उसको फल प्राप्त होगा, जैसा वह चाहेगा, वैसा उसे मिलेगा। परमेश्वर ही कल्पवृक्ष है।

महाराजः—सत्य है। परन्तु प्रार्थना मान्य करना या न करना केवल माता के आधीन है।

* * * *

महाराजः—यह देखो, बाबूराम 'संसार' का नाम सुनते कह उठता है, कि 'संसार!:—अरे बाप रे'!

शिष्यः—ये सब कहने की बातें हैं! उसने अभी संसार देखा ही कहाँ है? वह तो केवल बालक है।

महाराज का उपदेश संसार भयंकर।

महाराजः—ठीक, यह बहुत ठीक है। देखो निरंजन तो कितना सीधा है!

शिष्यः—उसका चेहरा ही बहुत मोहक है। बिलकुल दूसरों के मन को आकर्षित कर लेता है! और उसके नेत्रों का तेज भी क्या?

सरलता; विवाह-ताप।

महाराजः—नेत्रों का तेज ही क्यों! उसकी सब बातें ही निराली हैं। जब उसके विवाह की बात-चीत हो रही थी, तब उसने कहा था, "मुझे क्यों वृथा डुबाते हो! क्योंकि विवाह हुआ, कि बस, हो चुका सब मेरा काम!"

इसके बाद फिर जब गुरु-शिष्य में निम्न लिखित भाषण हुआ तब राखाल भी वहीं उपस्थित था।

महाराजः—(सहास्य):—लोग कहते हैं कि दिन भर काम करके थकने के बाद एक बार स्त्री का मुख देखने से अत्यानंद होता है! (सब हंसते हैं)

शिष्यः—हां, पत्नी ही जिनको सुख का निधान मालूम होती है, उनकी यथार्थ में ऐसी ही दशा होती है। (धीरे से राखाल को) यह भी तो परीक्षा ही हो रही है। और महाराज के प्रश्न भी तो देखो, कैसे मार्मिक हैं।

महाराज (सहास्य):—माता बहुधा कहती है, कि यदि मेरे बालक का विवाह हो जाय, तो मैं संसार-ताप से छूट जाऊं, क्योंकि संसार-ताप से तप्त होने पर उसे फिर एक पत्नी रूप आधार प्राप्त होगा। (सब हंसते हैं)

शिष्यः—माता-पिताओं में भी कई प्रकार होते हैं। सब माता-पिता कुछ एक ही प्रकार के नहीं होते। जो माता-पिता मुक्त हो जाते हैं, वे अपने पुत्रों का विवाह नहीं करते। यदि उन्होंने विवाह किया, तो फिर वे तो पूर्णतया मुक्त हो चुके!

महाराजः—केवल हंसे। इसी समय बाकी सब लोग उठ कर चले गये।

महाराजः—जब मैं भाव के आवेश में रहता हूं, तब तुम कह सकते हो कि क्या होता है?

आवेश।

शिष्यः—तब आपका मन छठवीं भूमिका में रहता है। वहां आपको ईश्वर-दर्शन का अनुभव होता है। और आप जब भाषण करने लगते हैं, तब आपका मन पंचम भूमिका पर रहता है।

महाराजः—मैं क्या, मैं तो केवल उसके हाथ का एक खिलौना हूं। सब कुछ वही करता है। मुझे कुछ भी समझ नहीं पड़ता।

शिष्यः—क्या ही विलक्षण आत्म-निवेदन यह है! महाराज! इसी कारण आप लोगों का चित्त आकर्षित कर लेते हैं! मनुष्य अपने आप्त इष्टों पर जो प्रेम करता है, उसे माया—तथा सब प्राणिमात्र पर जो प्रेम रखता है उसे दया कहते हैं; ऐसा आपने बताया था। परन्तु मेरे मन पर यह बात जैसी चाहिए

वैसी नहीं जंचती। दया प्रवृत्ति विषयक होती है, ऐसा ही है न?

महाराजः—दया कुछ बुरे मनोविकारों में से नहीं है। उससे मन का विकास होता है और उससे मनुष्य ईश्वर के निकट पहुंचा करता है।

शिष्यः—परन्तु कुछ हो, तो भी दया प्रवृत्ति-मार्ग ही की अनुगामिनी है; ऐसा ही है न?

शिष्य की फिर प्रार्थना।

शिष्यः—महाराज, अब मेरी ऐसी उत्कट इच्छा है कि जितना हो सके उतना ध्यान इधर (परमार्थ की ओर) देना चाहिए; और ऐसा मालूम होता है कि इसके लिये सांसारिक कर्म जितने कम हों उतना ही अच्छा होगा।

साकार अथवा निराकार।

महाराज—ठीक है; वैसा मालूम होना तो बिलकुल स्वाभाविक ही है। मुझे ऐसा जान पडता है, कि परमेश्वर तेरी इच्छा पूर्ण करेगा। परन्तु यह तो बता, कि साकार तथा निराकार में से तेरी श्रद्धा किस पर है।

शिष्यः—मेरी पहुंच केवल सगुण तक ही हो सकती है। मुझे स्पष्ट रीति से समझ पड़ता है कि ईश्वर में गुण तथा स्वरूप दोनों हैं। परन्तु साकार की (प्रतिमाओं की) सहायता बिना निराकार की कल्पना बिलकुल नहीं हो सकती। क्यों ऐसा ही है न? कुछ भी हो, हमें तो मूर्ति ही के द्वारा निराकार का आकलन करना चाहिए।

महाराजः—(सस्मित):—तब तो यह आ गया तेरे ध्यान में। मेरा ऐसा कटाक्ष है, कि मनुष्य को साकार ही का निरंतर ध्यान करना चाहिए। क्योंकि उससे उसे भक्तियोग का साधन सुलभ हो जाता है।

शिष्यः—महाराज ! क्या पंडित शशधर की इस ओर कुछ गति हो रही है।

महाराजः—हाँ, कुछ कुछ हो रही है; परन्तु उसकी प्रवृत्ति ज्ञानमार्ग की ओर विशेष है। कुछ लोग इस वर्ग के भी रहते हैं। परन्तु उनके ध्यान में यह नहीं आता कि ज्ञानमार्ग अत्यन्त कठिन है।

कुछ देर तक सब स्तब्ध रहे। सद्‌गुरु के चरण के समीप ही यह शिष्य अत्यन्त लीनता से बैठा था। महाराज की मुद्रा तो हास्य और निरामय आनन्द से चमक रही थी। शिष्य का सब ध्यान उस मुख कमल ही की ओर आकर्षित था। ऐसा दृष्टिगोचर होता था, कि मानो यह अपने दयार्द्र नेत्रों से प्रार्थना कर रहा है, कि मुझ पर कृपा कीजिये और मोक्ष के मार्ग में ले जाइये। भला, गुरूजी क्या कर रहे हैं? ऐसा कहिए, तो ऐसा दीख पड़ता था, कि मानों वे शिष्य के अंतःकरण में प्रवेश करके वहां पता लगा रहे हैं।

त्याग।

महाराजः—(उत्तेजनापूर्वक):—यदि मनुष्य मन से संसार का त्याग कर दे, तो समझो कि वह बहुत कुछ कर चुका।

शिष्यः—मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह उपदेश केवल असमर्थ आदमियों के लिये ही है। जो ऊंचे दर्जे के लोग हैं उनको तो पूर्ण त्याग का ही अवलम्ब करना चाहिए। उन्हें केवल मन से ही नहीं, वरन् शरीर से भी, संसार का त्याग करना चाहिए।

क्या बाह्य त्याग अत्यंत आवश्यक नहीं है।

महाराजः—मैंने वैराग्य के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह तो तू सुन ही चुका है।

शिष्य—हाँ, मैं समझता हूं कि "संसार के विषय में विराग" केवल यही वैराग्य का अर्थ नहीं है; परन्तु उससे और भी कुछ

अधिक है; और वह "ईश्वर में अनुराग" इसके सिवाय और कुछ नहीं। तात्पर्य यह है, कि यथार्थ वैराग्य उसीको कहना चाहिए, जोकि ईश्वर में अनुराग और संसार में विराग उत्पन्न करे।

शिष्यः—महाराज! ईश्वर-दर्शन होने से मनुष्य की क्या अवस्था होती है?

ईश्वर-लाभ किसे कहते हैं।

महाराजः—यद्यपि ईश्वर-दर्शन होने पर मनुष्य को जो दशा रहती है, उसका ठीक ठीक वर्णन करना असम्भव है, तथापि उस समय जो कुछ अवस्था रहती है, उसका थोड़ा वर्णन कर सकता हूं।

नाटक का प्रयोग देखने के लिये तो तुम नाटक-गृह में कभी न कभी गये ही होगे। अतएव यह तुम्हारे ध्यान में भी होगा, कि प्रयोग के आरम्भ होने के पहले वहां के लोग राजकीय, सामाजिक, सांसारिक और व्यावहारिक बातें करने में बिलकुल मग्न रहते हैं। इतने ही में दर्शनीपट ऊपर चढ़ने लगता है; और पर्वत, नदी, घर, मनुष्य इत्यादि रम्य दृश्य आँखों के सामने उपस्थित होता है। बस, सब गड़बड़ शान्त हो जाती है; और प्रेक्षकगण बिलकुल तन्मय वृत्ति से खेल देखने लगते हैं।

ईश्वर-दर्शन के सुयोग का जिसे लाभ होता है, उसकी वृत्ति भी ठीक इसी प्रकार की होती है।

संसार और प्रेम।

शिष्य.—आपने आज कहा, कि प्रेम, भक्तों के हाथों की, एक रस्सी है; जिससे वह प्रेमस्वरूप भगवान् को बाँध डालता है। भक्त ने प्रेम से भगवान् को पुकारा, कि तुरन्त ही वह सामने उपस्थित हो जाता है।

परन्तु क्या यह प्रेम गृहस्थ को—संसारी पुरुष को—प्राप्त हो सकता है? महाराज कुछ समय तक नहीं बोले।

* * * *

हरिपद।

शिष्यः—हरिपद, पुराण इतनी अच्छी तरह पढ़ता है कि मानो वह कोई शास्त्री हो हो! प्रल्हाद-चरित्र, श्रीकृष्ण-जन्मकथा, इत्यादि आख्यान तो वह बहुत ही अच्छी तरह बताता है।

महाराजः—क्या ऐसा है? मैंने उस रोज देखा तो उसकी आँखें बहुत चढ़ी हुई देख पड़ीं। तब मैंने उससे पूछा कि क्या तू अधिक ध्यान करता है? वह तो अपनी गर्दन नीची करके खड़ा हो रहा! मैंने उससे फिर अधिक ध्यान न करने को कहा, क्योंकि 'अति सर्वत्र वर्जयेत।'

इस समय रात के ६ बजे थे। इतने ही में अधरसेन आ पहुँचे। कुछ देर बाद सीताकुण्ड के सम्बन्ध में कुछ बात-चीत शुरू हुई। यह कुण्ड चितगांग प्रान्त के चन्द्रनाथ नामक तीर्थ स्थान में है। उसका पानी उबलते हुए पानी के सदृश सदा उष्ण रहता है। कोई कोई ऐसा कहते हैं कि कुण्ड के पानी पर ज्वालायें दीख पड़ती हैं।

महाराज (अधरसेन से):—क्यों भला, ऐसा क्यों होता है?

अधरसेन (महाराज से):—उसमें हाथ डालने से हाथ जल जाता है, क्योंकि उसमें फास्फरस बहुत है।

महाराज (अधरसेन से):—यह राम (चक्रवर्ती) बहुत अच्छा आदमी है, वह यहां रहता है; इसीलिये मुझे अधिक फिकर नहीं करनी पड़ती। नहीं तो हरीश इत्यादि (शिष्यों) को रोटी खाने को बुला लाने के लिये यहां कोई भी नहीं था। उनका क्या ठिकाना! वे तो जहां कहीं जाते वहीं ध्यान-मग्न हो बैठ जाते हैं!

अधरसेन डिप्टी मॅजिस्ट्रेट के पद- पर थे। वे गरीब आदमियों की अच्छी तरह सहायता करते थे, इसीलिये महाराज ने राम चटर्जी (वहां का पुजारी) की मीठी वाणी से उन्हें पहिचान करा दी ।

विन्दु ४६ ।
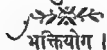
भक्तियोग ।

श्रीरामकृष्ण अपने कमरे में एक छोटी चारपाई पर बैठे हुए थे; वे पूर्ण रूप से समाधिमग्न थे। नीचे जमीन पर चटाइयाँ बिछी हुई थीं, उन पर शिष्य-गण और दूसरे बाहर के लोग भी बैठे हुए थे। वे एकटक दृष्टि से महाराज की ओर देख रहे थे। महिमाचरण, राम (दत्त), मनमोहन, नवाई चैतन्य, एम् इत्यादि भी वहीं बैठे थे। कुछ देर बाद नरेन्द्र भी वहां आ पहुंचा।

यह इतवार का दिन था; उस दिन मार्च सन् १८८४ की पहली तारीख थी। दोलयात्रा उसी दिन लगनेवाली थी।

कुछ समय के बाद यद्यपि महाराज देहशुद्धि पर आने लगे और उनकी वाक्शक्ति भी जाग्रत होने लगी, तथापि उनकी वृत्ति तो केवल उसी परमानंद में रंगी हुई थी। उन्होंने महिमाचरण को भक्ति का माहात्म्य वर्णन करने तथा उसकी आवश्यकता बताने को कहा।

महिमाचरणः—एक समय नारदमुनि के मन में तपश्चर्या करने की इच्छा उत्पन्न हुई। इतने ही में आकाशवाणी हुई किः—

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥

विरम विरम ब्रह्मन् किं तपस्यासु वत्स।
व्रज व्रज द्विज शीघ्रं शंकरं ज्ञानसिंधुम्॥
लभ लभ हरिभक्तिं वैष्णवोक्तां सुपक्वाम्।
भवनिगडनिबन्धच्छेदिनीं कर्तरीं च॥

नारदमुनि अरण्य में, एकान्त स्थान में, तपश्चर्या कर रहे थे कि इतने में उक्त आकाशवाणी उन्होंने सुनी—'यदि हरि की आराधना की जाय, तो फिर तपश्चर्या का प्रयोजन ही क्या है? अच्छा, यदि हरि की आराधना न की, तो फिर तपश्चर्या करने से मतलब ही क्या है? हरि अन्तर्बाह्य है, यह सिद्धान्त यदि हृदय में जँच जाय, तो फिर तपश्चर्या की क्या आवश्यकता है? इसलिए हे वत्स, बस हो गया, अब तपश्चर्या में ही क्या अधिक रक्खा है? ज्ञान के सागर शंकर को जाकर मिल; और वैष्णवों ने जो हरिभक्ति बताई है, उस सुपक्व हरिभक्ति को उनके पास से ले। इस भक्तिरूपी कैंची से संसार के सब दृढ़ बंधन कट जायँगे'।

महाराज—ईश्वर-भक्ति दो प्रकार की है। भक्ति के एक प्रकार का नाम वैधीभक्ति है। नानाविधि के पूजोपचार, जप, पुरश्चरण ये सब इसी भक्ति के अंग हैं। भक्ति का यह मार्ग शास्त्र-द्वारा दिखाया गया है। इस वैधीभक्ति से समाधिद्वारा ब्रह्मज्ञान का लाभ होता है। परमात्मा में जीवात्मा का लय हो जाता है। और ऐसा लय एक बार भी हो जाने से फिर उसमें भिन्नता कभी नहीं होती। यही जीव-योनि का—सामान्य जनों का—मार्ग है!

ईश्वर-योनि के मनुष्यों की बात तो निराली है। उनकी भक्ति केवल औपचारिक ही नहीं रहती; किन्तु आंतरिक भी होती है। उसका उगम अन्दर से होता है! उसके फव्वारे तो आत्मा से ही उठते रहते हैं। चैतन्यादि अवतारी पुरुष समाधि में ब्रह्म-साक्षात्कार का सुख अनुभव करते हैं; और उस परमपद से

नीचे उतर कर मातृ-पितृ-भाव से परमेश्वर की भक्ति करके भक्ति के दिव्य रस का भी आस्वादन करते हैं। 'नेति नेति' कह कर वे सीढ़ियों को एक एक सीढ़ी चढते जाते हैं और अंत में एकदम शिखर पर जा पहुंचते हैं। शिखर पर पहुंच कर वे कहते हैं, यही वह है। तुरंत कुछ देर बाद उनके ध्यान में आ जाता है, कि शिखर भी ठीक उसी मसाले का बना हुआ है, जिससे कि सीढ़ियां बनाई गई हैं। दोनों का स्वरूप एक ही होता है? फिर वे लोग कभी ऊपर कभी नीचे आते-आते रहते हैं:—कभी तो वे शिखर पर जा बैठते हैं और कभी सीढ़ियों पर ही बैठे रहते हैं!

शिखर तो समाधि की अवस्था में अनुभव में आनेवाला ब्रह्म है; इन्द्रियगोचर जगत् के अनुभव लेनेवाले अहंकार का यहां नामनिशान भी नहीं रहता। बाह्यजग—नामरूपात्मक सृष्टि—यही सीढ़ी है। जब एक बार शिखर प्राप्त हो जाता है तब इस बात की भी प्रतीति होने लगती है कि ये सीढ़ियां मानों उस ब्रह्म ही के अनेक व्यक्त-रूप हैं, जोकि इंद्रियों को गोचर हो सकते हैं।

एक समय शुकदेव समाधिमग्न थे—वे निर्विकल्प, जड़ समाधि में बिलकुल मग्न थे। इतने ही में नारद यह खबर लेकर आये कि आप परीक्षित को पुराण सुनाइये। शुकदेव जड़पदार्थ के सदृश, बिलकुल बाह्यशून्य होकर बैठे थे। उस समय नारद ने अपनी वीणा का मधुर स्वर निकाल चार श्लोकों में भगवत्-स्वरूप का प्रेम से वर्णन किया। पहले श्लोक के सुनते ही शुकदेव का शरीर रोमांचित हो आया; दूसरे श्लोक को सुनते ही उनकी आंखों में प्रेमाश्रु छा गया। अंतर्यामी चिन्मूर्ति उनके सन्मुख खड़ी हो गई, उन्हें उसके दर्शन का अनुभव होने लगा। अन्त में परमोच्चपद से नीचे आकर उन्होंने नारद से भाषण किया।

शुकदेव जैसे ज्ञानी थे वैसे ही भक्त भी थे। वे ईश्वर-योनि के थे।

हनुमान को भगवान् के साकार तथा निराकार दोनों स्वरूपों का साक्षात्कार हो चुका था, तिस पर भी वे चिद्घन और आनन्दमूर्ति श्रीरामचन्द्रजी का ध्यान करते थे।

प्रल्हाद और नारद की भी यही अवस्था थी। उन्हें ब्रह्म साक्षात्कार होकर, सगुण रूप का दर्शन भी हो चुका था। कभी तो प्रल्हाद 'सोऽहं' महावाक्य का अनुभव करता था, और कभी कभी 'तू प्रभु, मैं दास' इसी भावना में तल्लीन रहता था। नारद तो सदासर्वदा भक्ति सुख में ही तैरते रहते थे। भक्ति का आश्रय करते ही संसार की सब चिंता छूट जाती है। जब तक 'मैं मैं कहने वाला' अहंकार राक्षस जीवित रहता है, तब तक 'पेट किस प्रकार भरेगा' यही चिंता मन को जलाती रहती है। क्या मुझे विषयरूप कीचड़ ही में पड़े रहना चाहिए? नहीं, उस अहंकार को प्रभु का दास बना देना चाहिए—उसको इस संसार का अर्थात् विषयों का, दास बनने न देना चाहिये। 'हे प्रभु! तुम समर्थ हो, मैं तुम्हारा अनन्य दास हूं, अब मुझे संसार में न फँसाओ, सांसारिक सुखों से मेरा जी विरक्त हो गया है, मैं अब उस अतिशय सुख और अखंड आनन्द के उपभोग की लालसा कर रहा हूं!"

भक्त और संसार चिंता।

'मैं' शब्द ईश्वर के पास से दूर ही दूर खींचता ले जाता है, परन्तु 'मैं भक्त हूं,' 'मैं ज्ञानी हूं,' 'मैं दास हूं,' 'मैं बालक हूं' इत्यादि भावनाएं परमेश्वर के समीप पहुंचा देती हैं। शंकराचार्य ने अपना सात्विक अहंकार अर्थात् 'मैं ज्ञानी हूं' स्थिर रक्खा था, परन्तु वह अहंकार केवल लोक कल्याण हो के लिये रक्खा गया था। बालक में 'मैं पन' की भावना संसार से अलिप्त रहता है अर्थात् उसका अंतःकरण संसार के किसी पदार्थ से विकृत नहीं होता, किन्तु वह सदा निर्मल बना रहता है। कभी कभी बालक को क्रोध आ जाता है,

पत्ता, इत्यादि इहलोक के क्षणभंगुर वस्तुओं के विषय में जो मेरी आसक्ति है उसे दिन दिन कम होने दे।" इस प्रकार भी उसकी करुणा मांगो। (गोस्वामी को सम्बोधन करके)—कोई भी धर्म हो, पर यदि सत्यता हुई (सच्ची भक्ति हुई) तो परमेश्वर की प्राप्ति होती ही है। परमेश्वर का दर्शन जैसा वैष्णवों को होगा वैसा ही शाक्तों को भी होगा, वेदान्ती, ब्रह्म-समाजी, मुसलमान, ईसाई—प्रत्येक सच्चे भक्त को वह प्राप्त होगा। कुछ लोग वितंडावाद करके झगड़ते रहते हैं:—"हमारे कृष्ण की पूजा किये विना किसीका उद्धार नहीं हो सकता।" अथवा "हमारी काली माता की पूजा किये विना सब व्यर्थ है।" अथवा "क्रिश्चियन धर्म का स्वीकार किये विना कुछ हाथ नहीं लग सकता।"

ये विचार पंथाभिमान के हुए! मेरा ही मार्ग सच्चा और सब के मार्ग झूठे हैं, यह समझ बहुत बुरी है। अनेक भिन्न भिन्न मार्गों से ईश्वर की ओर जा सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि, "वह सगुण है, निर्गुण नहीं।" और इस प्रकार वादविवाद करते रहते हैं। वेदान्तियों से वैष्णवों का ऐसा ही झगड़ा मचा रहता है।

पर ईश्वर के सच्चे स्वरूप का अपरोक्षानुभव होते ही सब सच्चा सच्चा निर्णय हो जाता है। जिसे ईश्वर का ज्ञान हो जाता है वह समझ जाता है कि ईश्वर सगुण भी है, निर्गुण भी है, और जो जो कुछ विशेषता होती है सब वह जानता जाता है।

———

परन्तु वह एक ही क्षण में नष्ट भी हो जाता है। बालक अनेक अनेक प्रकार के खेल खेलता है, परन्तु एक ही क्षण में उन सब खेलों को वह भूल भी जाता है। अपने साथ खेलनेवाले साथियों से गले से गला मिलाता है, अपने साथियों पर अत्यंत प्रेम रखता है; परन्तु यदि उसके वे ही साथी कुछ रोज के लिये बाहर किसी ग्राम को चले जांय, तो उसे उनका विस्मरण हो जाता है और फिर वह नये नये बालकों से मित्रता करता है। वह कभी आसक्त नहीं होता। वह सत्व, रज, तम में से किसी भी गुण में लिप्त नहीं रहता।

सामान्य मनुष्य को भक्ति का साधन क्यों करना चाहिए? इसका एक और कारण है। वह यह है कि अहंकार का नाम-निशान बिलकुल मिटाया नहीं जा सकता। बहुत विचार करने पर तुम कदाचित् उसे दबा लो, परन्तु वह तो शिर उठाये बिना रह ही नहीं सकता। बात बात में 'मैं मैं' कहनेवाले अहंकार को तुम एकदम छिड़ कर छोड़ नहीं सकते। चाहे जितना विचार करो, परन्तु 'मैं' कुछ तुम्हारा पीछा छोड़ने का नहीं। 'मैं' तो कुम्भ के सदृश है और ब्रह्म अमर्याद सागर के सदृश है। वह कुम्भ इस सागर में डुबाया हुआ है। विचार करने पर तुम्हारे ध्यान में यह बात आ जायगी, कि घड़े के भीतर-बाहर, इधर-उधर (सर्वत्र) पानी ही पानी है, परन्तु जब तक तुम विचार की कक्षा में हो तब तक यह घड़ा स्थिर ही रहेगा। जब तक तुम विचार करते रहोगे तब तक तुम्हें यही मालूम होगा कि ब्रह्म उपाधि सहित है। यही 'मैं' जिसका कभी नाश नहीं किया जा सकता, सच्चा भक्त है। जब तक घड़ा अथवा अहंकार बना है तब तक 'मैं, तू' भी उसीके साथ बने रहेंगे। 'तू परमेश्वर, मैं तेरा भक्त; तू प्रभु, मैं तेरा दास' इत्यादि भावनायें सदा बनी रहेंगी। विचार की मर्यादा चाहे जितनी बढ़ा दो

जाय, तोभी ' मैं ' का साथ कभी छूट नहीं सकता । हाँ, यदि घड़ा (अहंकार) नष्ट ही हो जाय तो बात जुदी है !

विन्दु ४७।

नरेंद्र को सन्यास का उपदेश ।

इतने में नरेंद्र आया और महाराज को प्रणाम करके बैठ गया। महाराज और नरेंद्र का सम्भाषण आरम्भ हुआ; भाषण करते करते महाराज चारपाई से उतर कर जमीन पर, बिछी हुई चटाई पर, आ बैठे। कमरा, महाराज के भक्तों तथा बाहर के आदमियों से अच्छी तरह भरा था।

महाराज (नरेंद्र से):—सब ठीक तो है न, बेटा ! क्या तू गिरीश घोष के घर सदा आते रहते हो ? क्यों यह बात सत्य है न ?

नरेंद्रः—हाँ, मैं कभी कभी उसके यहां जाया करता हूं।

गिरीशः—महाराज का एक नया शिष्य था। यह सन् १८८४ के अक्टूबर में शिष्यगणों में आ मिला था । महाराज उसकी सदा प्रशंसा किया करते थे। वे कहते थे, कि उसकी श्रद्धा का वर्णन नहीं किया जा सकता । जैसी उसकी श्रद्धा थी वैसे ही उसके अंतःकरण में परमेश्वर का अनुराग भी बहुत था। घर में तो वह सदा परमेश्वर-चिंतन में ही मग्न रहता था। सदा हरि-रस की ही धुंध में निमग्न रहता था। नरेंद्र, हरिपद, नारायण, विनोद इत्यादि लोग सदा उसके घर जाया-आया करते थे। बस, ऐसे ही लोगों के एकत्रित होने पर उनके वाद-विवाद का विषय तो एक नियुक्त ही रहता था—श्रीरामकृष्ण।

गिरीश सांसारिक—गृहस्थाश्रमी—था। महाराज के ध्यान में
ह बात आ चुकी थी, कि नरेंद्र संसार-जाल में न फंसेगा, वह
कामिनी और कांचन का त्याग करके धर्म-कार्य के लिये अपना
सर्वस्व अर्पण कर देगा।

महाराज (नरेंद्र से):—क्या तू गिरीश घोष की भेट को बार
बार जाता है, यह सत्य है?

ध्यान में रक्खो कि जिस कटोरी में एक बार लहसुन रख
दिया जाय, उसकी बास फिर, उस
कटोरी के बार बार धोने से भी, नहीं
मिटती। जो पुरुष संसार में एक भी
बार नहीं फंसते, कामिनी और कांचन की जिन्हें बू तक मालूम
नहीं होती, वे शुद्ध पात्र के सदृश—जिसमें किसी वस्तु की
बास नहीं आती ऐसे पात्र के सदृश—रहते हैं। जिन्होंने
संसार में अनेक दिन व्यतीत किये हैं—कामिनी और कांचन
के सहवास में जिनके अनेक दिन व्यतीत हुए हैं—वे लोग लह-
सुन की बास लगे हुए पात्र के सदृश हैं।

संन्यासी।

अथवा, ये पुरुष कौआ से खोदे हुए अपवित्र तथा निरुप-
योगी आम के सदृश हैं।

नये घड़े में दूध रखने से कोई हानि नहीं होती; परन्तु जिस
घड़े में एक बार दूध जमाया गया, कि फिर उसमें दूध रक्खा
नहीं जा सकता। यदि रख ही दिया जाय तो वह बिगड़
जाता है! जो लोग संसार में बिलकुल ही नहीं फंसे, वे नये
घड़े के सदृश हैं और सांसारिक पुरुष तो एक बार दूध जमाये
हुए घड़े के बराबर हैं।

~ जो संसार में नहीं फंसे, ऐसों को भक्ति या ज्ञान का उप-
देश करना तो नये घड़े में दूध रखने के समान है। यदि नये
घड़े में दूध रक्खा जाय तो उसके बिगड़ने का भय बिलकुल
नहीं रहता। परन्तु जिस घड़े में एक बार दूध जमाया गया है,

उसमें फिर दूध रखने से जिस प्रकार वह (दूध) व्यर्थ जायगा ! ठीक उसी प्रकार एक बार संसार में पड़े हुए मनुष्य को उपदेश देने से वह (उपदेश) व्यर्थ हो जायगा !

इसमें कोई संदेह नहीं है कि परमेश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले बहुत से पुरुष संसार में भी रहते हैं। परन्तु वे लोग बिलकुल भिन्न प्रकार ही के होते हैं--उनका एक वर्ग ही बिलकुल निराला रहता है। उनमें योग तथा भोग दोनों रहते हैं। रामायण में यह बतलाया गया है कि रावण भी इसी श्रेणी का था। देवकन्या, गंधर्वकन्या और असुर-कन्या आदि से उसने विवाह किया; परन्तु अंत में उसे राम की भी प्राप्ति हुई। पुराणों से यह बात विदित होती है कि असुरों ने नाना-प्रकार के भोग भोगे; परन्तु अंत में उन्हें नारायण का भी लाभ हुआ !

नरेंद्रः—गिरीश घोष आज-कल बुरे लोगों की संगति टालता है।

महाराजः—एक समय एक जगह बहुत से सन्यासी बैठे थे, इतने ही में वहां से एक स्त्री जा निकली। उसके वहां से निकलने पर सब के मन तो ईश्वर-चिंतन ही में मग्न रहे; परन्तु उनमें से केवल एक ही उसकी ओर तिरछी दृष्टि से देखने लगा। स्त्री के सौंदर्य से मोहित होनेवाला वह मनुष्य पहले गृहस्थाश्रमी था और जब उसने सन्यास लिया था तब उसके तीन लड़के थे।

लहसुन का पानी बना कर उसे कटोरी में कुछ देर रखने पर फिर भला कटोरी की बास (गंध) कैसे जा सकती है ? पूर्व संस्कारों को भूलना बहुत कठिन काम है। भला क्या कभी बबूल के पेड़ में आम भी लग सकते हैं? हाँ, जिस मनुष्य के सत्गुरु सिद्धियाँ प्राप्त होकर रहती रहती हैं, वह चाहे भले ही यह चमत्कार कर ले; परन्तु क्या ऐसी सिद्धियाँ सब को प्राप्त होती हैं ?

जो मनुष्य संसार में न फंस कर परमेश्वर-प्राप्ति की ओर ाग जाते हैं, उन्हींके समान सांसारिक पुरुष भी शुद्ध तथा नेमल हो सकेंगे; और बबूल के वृक्ष में भी मधुर आम लगेंगे! रन्तु ऐसे चमत्कार करने का सामर्थ्य तो ईश्वर से ही प्राप्त ो सकता है। यद्यपि ईश्वर को तो कुछ भी असम्भव नहीं ;, तथापि यह ईश्वरी देनगी बहुत दुर्मिल है।

मुख्य बात तो यही है कि तुझे अपना तन-मन-धन सब रमेश्वर को अर्पण करना चाहिए।

परन्तु इस सांसारिक पुरुष को—गृहस्थाश्रमी पुरुष को— रे बाप रे! कितनी चिंताएँ, विचारे के पीछे, लगी रहती ! परमेश्वर का नाम लेने की कभी फुरसत भी रहती है?

एक मनुष्य को भागवत श्रवण करना था; इसलिये उसे एक डित की आवश्यकता थी। उसने उस विषय में अपने एक मेत्र से पूछा। मित्र ने कहा, हाँ, ऐसा एक पंडित है तो, वह री पहचान का है। आपको जैसा पंडित चाहिए वैसा ही वह भी; परन्तु उसके विषय में एक बड़ी अड़चन है।' उसकी नेज की कुछ खेती है, उसे रोज उसकी देख-भाल करनी ड़ती है। चार 'हल' और आठ बैल सदा काम करते रहते । इसलिए अड़चन यही है, कि उसे बिलकुल फुरसत हीं मिलती।' जिस मनुष्य को पंडित की आवश्यकता थी, ह बोला, 'क्या मुझे ऐसा पंडित चाहिये? क्या मैं ऐसे डित की खोज में हूं जिसके 'हल' हैं, 'बैल' हैं और जिसे सांसारिक कामों से क्षण भर भी फुरसत नहीं मिलती? (सब हसते हैं) नहीं नहीं, मैं ऐसा पंडित खोजता हूं, जो मुझे गवत श्रवण कराये।'

एक राजा प्रति दिन भागवत सुना करता था। पुराण के समाप्त होते ही, पंडितजी उस राजा से पूछते थे, 'महाराज, आपकी समझ में मेरी पढ़ी हुई कथा अच्छी तरह आई है न?' इस पर

राजा इतना ही उत्तर देता था:—' पंडितजी, पहले तो आपही की समझना चाहिए ! ' जब पंडितजी घर जाते तब वे सदा राजा के शब्दों का अपने मन में चिंतन किया करते थे। वे यह सोचते थे कि राजा प्रतिदिन मुझसे यह प्रश्न क्यों करता है कि " क्या इसका अर्थ तुमने समझ लिया है ? " यह भी भजन-साधन करनेवाला ब्राह्मण था। कुछ दिन विचार करते करते उसे आप ही आप जागृति हुई। उसके मन को ऐसा बोध हुआ, कि इस संसार में हरि-भजन को छोड़ सब मिथ्या है। बस, उसी समय वैराग्य प्राप्त होकर उसने संसार का त्याग किया, उस दिन उसने एक आदमी के हाथ राजा को सदेशा भेजा, कि ' हे राजा भागवत का सच्चा अर्थ (अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति के लिये सर्वस्व का त्याग करना) अब मुझे मालूम हुआ। '

तात्पर्य यह है, कि संसारी मनुष्यों के विषय में यद्यपि मेरा यह सम्मित है, तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि मैं किसी प्रकार उन लोगों का तिरस्कार कर रहा हूं। अद्वैत-ज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से मुझे यही कहना पड़ता है कि सारी सृष्टि के रूप से वही एक परमात्मा व्यक्त हुआ है— सारा जगत् नारायण-रूप ही है। मुझे तो यही जान पड़ता है कि इस संसार में जितनी स्त्रियां हैं, वे सब मेरी माता ही के अनेक रूप हैं। मैं सब स्त्रियों को एक ही समान पूज्यभाव से देखता हूं। मेरी दृष्टि में, वेश्या और सती में वस्तुतः कोई भेद ही नहीं है ! परन्तु क्या करूं ! सब लोग अपने अपने ढाई चावल अलग ही पकाया करते हैं। अपनी सङ्कुचित और तुच्छ दृष्टि के उस पार कोई भी कुछ देखने का प्रयत्न नहीं करते। सब लोग ' कामिनी और कांचन ' ही के पीछे लगे हुए हैं। यह नहीं देख पड़ता, कि इससे अधिक विस्तृत किसीने अपने जीवन का उद्देश निश्चित किया है। सब लोग

स्त्री-लावण्य ही में भूले पड़े हैं ? धन, दौलत, ऐश्वर्य, वैभव, कीर्ति, सन्मान और पदवी ही की प्राप्ति में सब लोग लगे हैं ! शोक है, कि इन विचारों को यह नहीं मालूम, कि परमेश्वर के साक्षात्कार के सामने ब्रम्हा का भी ऊंचा पद तुच्छ है।

एक बार रावण से किसीने कहा " तुम राम का रूप धर कर सीताजी के सामने क्यों नहीं चले जाते ? " तब रावण ने उत्तर दिया कि " यदि मैं एक बार अपने हृदय में राम का रूप देख लूंगा—यदि एक बार उस चिदानन्दस्वरूप का ध्यान कर लूंगा—तो रम्भा और तिलोत्तमा सी अप्सरा भी मुझे चिता-भस्म की नाईं तुच्छ प्रतीत होने लगेंगी; तब अन्य स्त्रियों की कौन कहे ! राम का ध्यान करते ही मेरा ' रावण पन ' नष्ट हो जायगा ! "

जो शुद्धात्मा नहीं हैं और जो सांसारिक विषयों के कारण भ्रष्ट हो गये हैं, वे परमेश्वर की शुद्ध भक्ति नहीं कर सकते। वे ईश्वर के अनन्य भक्त नहीं हो सकते। उनका ध्यान ईश्वर की ओर नहीं लग सकता—उनका चित्त हजारों वासनाओं में भ्रमण करता रहता है।

संसारी जनों का दासत्व।

महाराज ने मनमोहन की ओर देख कर कहा—कदाचित् तुम्हें क्रोध आ गया, तोभी मैं सच कहता हूं। सुनो, एक दिन मैंने राखाल से कहा ' केवल धन के लिये किसीका दास हो जाने की अपेक्षा—केवल सांसारिक स्वार्थ के लिये किसीकी नौकरी या सेवा करने की अपेक्षा—यदि ईश्वर-प्राप्ति के लिए तू गंगाजी में डूब मरेगा, तो यह समाचार सुन कर मुझे विशेष संतोष होगा।

इसके बाद नरेंद्र की ओर झुक कर महाराज बोलेः—एक बार कप्तान के साथ एक नैपाली स्त्री यहां आई थी। वह *इसरार

* एक वाद्य विशेष।

पर अच्छे भजन गाया करती थी। उसका मधुर स्वर सुन कर इस कमरे में लोगों की बहुत भीड़ हो गई। किसीने उस स्त्री से पूछा 'क्या आपका विवाह हो गया है?' यह सुन कर उसने उत्तर दिया कि 'मैं परमेश्वर की दासी हूं; वही मेरा स्वामी—मेरा पति—है। मैं केवल एक नारायण ही की सेवा किया करती हूं। मैं अन्य किसी मनुष्य की सेवा नहीं करती। किसी मनुष्य की दासी होने में मुझे क्या लाभ होगा!'

यदि तू सदा 'कामिनी और कांचन' ही में निमग्न रहेगा, तो तुझे ईश्वर का साक्षात्कार कैसे हो सकेगा? इनमें (कामिनी और कांचन, अर्थात् संसार में) निमग्न रह कर अनासक्त होना बहुत कठिन काम है। संसारी जनों की दशा बड़ी विकट होती है। एक ओर वे अपनी स्त्री के दास हो जाते हैं और दूसरी ओर धन के दास बने रहते हैं! पेट के लिये जिसकी नौकरी करनी पड़ती है उसके भी वे सदा दास ही बने रहते हैं।

अकबर और फकीर।

अकबर बादशाह के जमाने में दिल्ली के पास किसी वन में एक फकीर रहता था। उसके दर्शन के लिये कई लोग उसकी झोपड़ी में जाया करते थे। वह चाहता था कि मैं इन लोगों का कुछ आदर-सत्कार कर सकूं। परन्तु वह अत्यन्त दरिद्री था, इसलिये वह कुछ नहीं कर सकता था। तब एक दिन उसने अपने मन में सोचा कि अकबर बादशाह साधु और फकीरों को बहुत चाहता है; यदि मैं उससे निवेदन करूंगा तो वह मुझे कुछ द्रव्य अवश्य ही देगा। जिससे मैं अतिथियों का उचित सत्कार कर सकूंगा। इस प्रकार मन में सोच कर वह बादशाह के पास गया। उस समय बादशाह नमाज पढ़ रहा था। फकीर भी वहीं जाकर बैठ गया। नमाज पढ़ने के समय अकबर बादशाह ने यह प्रार्थना की, कि "हे ईश्वर!

मुझे और धन दे और सत्ता दे तथा दौलत दे!' यह सुन कर फकीर वहां से उठ कर बाहर जाने लगा। तब बादशाह ने संकेत से उसे बैठने को कहा।

नमाज पढ़ कर बादशाह ने फकीर से कहा "आप मुझसे मिलने आये थे; परन्तु बिना कुछ बात-चीत किये ही लौट कर चले जा रहे थे, यह क्या बात है?" फकीर ने जवाब दिया "मैं हुजूर के दरबार में इसलिये आया था कि ... ...; परन्तु अब आपसे निवेदन करने में कोई लाभ नहीं है!" जब बादशाह ने बार बार आग्रह करके पूछा तब फ़कीर ने कहा "मेरी झोपड़ी में बहुतेरे लोग आया करते हैं। मैं दरिद्री हूं; इसलिये मैं उनका स्वागत किसी तरह नहीं कर सकता। अतएव कुछ द्रव्य मांगने के लिये आपके यहां आया था।" तब बादशाह ने कहा, तो फिर आप बिना कुछ मांगे ही लौट कर क्यों जा रहे हैं! यह सुन फकीर ने कहा "खुदावंद, आप तो स्वयं भिखारी हैं! आप खुदा से धन और दौलत मांग रहे हैं! जब आपकी यह दशा मैंने देखी तब मैंने सोचा, कि जो स्वयं दरिद्री है वह मुझे क्या दे सकेगा! यदि कुछ मांगना ही है तो अब मैं भी खुदा ही से मांगूंगा!'

नरेंद्रः—इन दिनों गिरीश घोष के मन में भी ऐसे ही विचार आया करते हैं।

महाराजः—अच्छी बात है। यही होना चाहिए। परन्तु वह बुरे शब्दों से अपनी जिह्वा को भ्रष्ट क्यों किया करता है! मुझे यह उद्दण्डता अच्छी नहीं लगती। माना, कि मेघगर्जना से बड़े बड़े पर्वतों की कुछ हानि नहीं होती; परन्तु छोटे छोटे जीव-जंतु तो भयभीत हो जाया करते हैं! इस समय मेरी प्रकृति सात्विक हो रही है। अतएव किसीका तामसी स्वभाव मुझे अच्छा नहीं लगता। कुछ दिनों से हृदय भी बहुत ही बड़बड़ किया करता था—मुझे बहुत सताया करता था; परन्तु मेरी

मता ने उसे यहां बहुत समय तक रहने ही न दिया--वह यहां से आप ही आप चला गया!

महाराज कुछ समय तक स्तब्ध रहे। फिर नरेंद्र की ओर देख आपने कहाः--गिरीश कहा करता है, कि परमेश्वर मनुष्यरूप से अवतार लेता है। इस विषय में तेरी क्या राय है?

नरेंद्रः--वह यही कहा करता है कि 'मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि परमेश्वर मनुष्यरूप से अवतार लेता है।' उसका यह विश्वास अटल है; इसलिये मैं उसके साथ कुछ नहीं बोलता। और यही उचित भी है।

महाराजः--इसमें संदेह नहीं, कि उसका विश्वास अटल है। क्या तुझे ऐसा नहीं मालूम होता?

महाराज जमीन पर बिछी हुई चटाई पर बैठे थे। एम उन्हींके पास बैठा था। सामने नरेंद्र था। अन्य भक्त-जन तथा कलकत्ते से आये हुए अनेक दर्शकगण चारों ओर बैठे थे। सब लोग महाराज की ओर टकटकी बान्ध कर देख रहे थे महाराज स्वयं बैठे बैठे नरेंद्र की ओर स्नेहपूर्वक देख रहे थे। कुछ देर बाद आपने नरेंद्र से कहा "सच कहता हूं, कि जब तक तू कामिनी और कांचन का त्याग नहीं करेगा, तब तक तू कुछ भी नहीं कर सकेगा--तू अपने जीवन की कुछ भी सार्थकता नहीं कर सकेगा!" यह कहते ही कहते महाराज भाव-मग्न हो गये--स्नेह-दृष्टि से देखते ही देखते वे गाने लगे--सांसारिक मोह और माया का साक्षात् चित्र उनकी आंखों के सामने देख पड़ने लगा--उन्हें यह भय हुआ, कि कदाचित् नरेंद्र की आँखों से आंसू न टपकने लगें।

इतने में किसीने प्रश्न किया, कि महाराज, यदि ईश्वर-प्राप्ति के लिये कामिनी और कांचन का त्याग नितांत आवश्यक है, तो फिर गृहस्थाश्रमी मनुष्य को क्या करना चाहिए? उसका उद्धार कैसे होगा?

बिन्दु २।

५ एप्रिल १८८३।

श्रीरामकृष्णः--(मणिमल्लिक से) आप काशी गये थे, वहां आपको क्या कोई साधु मिला था?

मणि०:—हाँ, तैलङ्गस्वामी और भास्करानन्द मिले थे।

श्रीरामकृष्ण —उनके सम्बन्ध से आपने क्या क्या देखा? बतलाइये भला!

मणि०:—तैलङ्गस्वामी पुराने ही स्थान में—बिन्दुमाधव के पासवाले मन्दिर में--रहते हैं। लोग कहते हैं कि पहले उनकी अधिकार बड़ा था, उस समय वे बहुत चमत्कार करते थे, पर अब उनका वह सामर्थ्य नष्ट हो गया है।

श्रीरामकृष्णः--ये अपवाद संसारी जनों के हैं।

मणि०:--भास्करानन्द की ओर मुक्तद्वार है। चाहे जो उनसे मिल सकता है। तैलङ्गस्वामी की तरह उनका हाल नहीं है। वे तो बिलकुल ही नहीं बोलते।

महाराज.—गृहस्थाश्रमी मनुष्य को अपने आश्रम ही में रह कर—कुटुम्ब का यथोचित पालन-पोषण करते हुए—स्वधर्म की रक्षा करनी चाहिए। अभी जो बात-चीत हुई, वह हमारे (नरेन्द्र) आपस की बात-चीत है। वह अन्य लोगों के लिये नहीं है।

गृहस्थाश्रमी को अभयदान और उत्तेजन।

महिमाचरण भी गृहस्थाश्रमी था। वह चुपके बैठा हुआ सब बातें सुन रहा था। इतने में महाराज ने हँस कर उसकी ओर देखा और कहा, हाँ, आगे बढ़ो—बीच ही में न ठहरो। घोर वन के भीतर प्रवेश करो। तब चंदन मिलेगा, और आगे बढ़ो, चांदी की खान मिलेगी! वहां भी मत ठहरो, और आगे बढ़ो, सोने की खान मिलेगी। हाँ, वहां भी मत ठहरो, और आगे बढ़ो, हीरे की खान मिलेगी! बस, इसी तरह आगे बढ़ो, आगे बढ़ो!

महिमाचरण:—हाँ महाराज! आप सच कहते हैं। इसमें संदेह नहीं, कि हमको आगे ही आगे बढ़ना चाहिए। पर, क्या करें! न जाने ऐसी कौन सी शक्ति है कि जो हमें पकड़ कर पीछे पीछे घसीट ले जाती है! मानों कोई लगाम लगा कर हमें पीछे की ओर खींच रहा है!

महाराज.—झटका देकर उस लगाम को तोड़ डालो! परमेश्वर के नाम का खड्ग अपने हाथ में लो और उसीसे उस लगाम के दो टुकड़े कर डालो! काली (ब्रह्म) के नाम में काल-पाश को भी तोड़ डालने का सामर्थ्य है।

बिन्दु ४८।

महाराज और एम आपस में धीरे धीरे बातचीत कर रहे थे। उनके निकट कोई नहीं था। बाल भक्ति के विषय में वार्तालाप हो रहा था। शिष्य व भक्तगण बाग में इधर उधर घूम रहे थे। जिस समय का यह जिक्र है, वह दिन का तीसरा पहर था।

महाराज—"हमारा ध्यान अच्छी तरह लग रहा है," ऐसा पल्टू के सिवाय सब कोई कहता है। पल्टू ऐसा नह कहता—उसका ध्यान ईश्वर की ओर नहीं लगता, ऐसा क्यों होता है?

एम—यह परीक्षा के लिये कितना ही अभ्यास करता है परन्तु उसका चित्त प्राय एकाग्र नहीं रहता।

महाराज—नरेन्द्र के सम्बन्ध में तुझे क्या जान पड़ता है? व बहुत लबाड़ नहीं है—बिलकुल सीध है, ऐसा नहीं क्या?

संसार की छाया और नरेंद्र।

एम—हाँ सत्य है, महाराज!

महाराज—परन्तु कुछ दिनों से उसको संसार का बहुत ह आघात पहुंचा है।

एम—हाँ, उसके पिता के मरने के कारण उसका कुटुम्ब बिलकुल निराधार हो गया है।

महाराजः—उसको अपने कुटुम्ब की बहुत चिन्ता होने लगी है, अतएव उसकी अन्तर्ज्योति संसार की छाया में कुछ असिर हो गई है, परन्तु ऐसा बहुत दिन नहीं रहेगा।

इस समय नरेंद्र बैठक में किसी वेदान्ती से बातचीत कर रहा था, कि महाराज धीरे धीरे वहां गये और ध्यानपूर्वक उसकी बातचीत सुनने लगे।

इतने ही में शिष्यगण लौट आये। महाराज ने महिमाचरण से एकाध स्तोत्र पाठ करने को कहा। यह सुन कर उसने "महा निर्वाणतंत्र" के आगेवाला 'स्तव' का पाठ करने लगा --

हृदय कमलमध्य निर्विशेष निरीहम्।
हरिहरविधि वद्य योगिभिर्ध्यानगम्यम्॥
जनन-मरणभीतिभ्रंशि सच्चित्स्वरूपम्।
सकलभुवनबीज ब्रह्म चैतन्य मीडे॥

(म० तृतीय उल्लास)

महिमा ने इसी प्रकार और कुछ स्तोत्रों का पाठ किया। महिमा के स्तोत्र पाठ करते समय महाराज का

नागरिक आदमी को अभय।

अन्तःकरण आनन्द से बिलकुल परिपूर्ण हो गया। पुनः वह शंकराचार्य्य विरचित शिवस्तोत्र का पाठ करने लगा। "मैं इस भवसागर में डूब रहा हूं। हे शूलपाणे! मेरी रक्षा कीजिये।" ऐसी उस स्तोत्र में भक्त प्रार्थना करता है। संसार केवल दुःख-मय है। यह एक गहन अरण्य है, इससे निकलने के लिये रास्ता नहीं मिलता, ऐसा उस स्तोत्र में कहा है।

महिमाचरण --संसारी--गृहस्थाश्रमी--था।

श्रीरामकृष्ण (महिमा से):-- संसार यह एक कूप है, इसमें मनुष्य गिर पडता है किंवा यह एक घना अरण्य है, जिससे निकलने का रास्ता नहीं मिलता, ऐसा तू क्यों कहता है? यह (संसार) केवल दुःखमय है--दुःखबिना उसमें और कुछ नहीं, ऐसा तू क्यों कहता है? नवीन मनुष्य को ऐसा बोलना ठीक है। परन्तु जो नित्यप्रति परमात्मा की सेवा करता है, सुख में और दुःख में ईश्वराराधना को नहीं छोडता, उसके मुख

से ऐसे शब्द निकलना अशोभायमान लगते हैं ! तू सांसारिक डर से बिलकुल निडर हो जा—परमात्मा ही मजबूती से तेरा हाथ पकड़ कर तुझे चलाता है। फिर गृहस्थाश्रमी भक्त की तरह ही तेरे मुख से ऐसे उद्गार निकलेंगे:—यह संसार केवल आनन्द-भुवन है। इसमें हम खाते, पीते और आनन्द करते तथा आयुर्दायु का काल बिताते हैं। राजर्षि जनक संसारी होते हुए भी कैसे तेजोमय हो गये हैं। उनको क्या किसी बात की कमी थी? ऐहिक अथवा पारमार्थिक वैभव की उनको क्या कुछ कमी थी? छि! नहीं थी—बिलकुल कमी नहीं थी। जैसा उनका सांसारिक कामों में ध्यान था, वैसा ही परमात्मा की ओर भी था। इधर उधर (दोनों ओर) वे एक समान थे।

भय कैसा? ईश्वर तेरे पीछे है—तेरी रक्षा करता है, उसको तू मजबूती से पकड़ ले, फिर वह तुझको पकड़ लेगा। जंगल काँटों से भरा-पूरा है, तो क्या हुआ? पैर में जूता पहिन, फिर काँटे तेरे पैर में न लगेंगे, तेरे पैर से रक्त नहीं निकलेगा। भय क्यों करता है? इस संसार के आँख-मिचौनीरूपी खेल में 'भोग्य' के—अपनी माता के—पवित्र अंग का स्पर्श कर, फिर तेरे ऊपर "नहीं पकड़ पाया, नहीं ढूंढ पाया" यह दोष कदापि नहीं आयेगा। यह कैसा अलिप्तपन का दाँव है! देख, यदि एक बार उसके अंग का तू स्पर्श कर लेगा, तो फिर तुझे दाँव देने की आवश्यकता नहीं रहेगी। सत्य कहता हूँ, तुझे फिर किसी प्रकार की खटपट (दौड़ धूप) नहीं करना पड़ेगी। और उस दाँव में फिर तेरी आँखें बन्द करके तुझे किसीके स्पर्श करने के लिये कोई कष्ट नहीं देगा! राजर्षि जनक दोनों तलवारों को देखते थे, यह तुझको मालूम ही है। एक ज्ञान की तलवार व दूसरी कर्म की। तलवार घुमाने में जो दक्ष है उसको तलवार-सम्बन्धी किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

महाराज छोटी चारपाई पर बैठे थे। एम उनके पास ही जमीन पर बैठा था।*

महाराज (एम से):—तूने जो कुछ कहा है, उसने—तेरे वाक्य ने—मेरा ध्यान ऐसा कुछ आकर्षित किया है, कि वह (ध्यान) अब छोटी-मोटी बातों की ओर नहीं लगता।

(महिम्नाचरण जो प्रथम स्तोत्र पर श्लोक कहा, उसके विषय में महाराज के यह उद्गार थे।)

इतने ही में भक्तगण पुनः नाचने-गाने लगे। महाराज भी उनमें मिल गये। कीर्तन शुरू होने पर वे भी भावमग्न होकर नाचने-गाने लगे।

कीर्तनान्त में महाराज शिष्यों से बोले, 'भक्ति से नामसंकीर्तन करना, यही मुख्य है, शेष सब वृथा! एक भक्तिमात्र वस्तु है, शेष सब अवस्तु!'

सब लोग जमीन पर बैठे हुए बात-चीत कर रहे थे। नरेंद्र और राम (दत्त) इन दोनों का किसी विषय पर बड़े आवेश के साथ वादविवाद हो रहा था। राम ज्वर से अच्छा होकर केवल महाराज से मिलने के लिये आया था।

सत्य व साक्षात्कार।

महाराज उनके आवेशयुक्त वाद-विवाद को बड़े ध्यान से सुन रहे थे।

महाराज (एम से):—हमको तुम्हारा यह वाद-विवाद पसन्द नहीं है। (जोर से राम से) चुप! तेरी अभी तक शारीरिक दशा ठीक नहा ह! अच्छा धीरे धीरे बोलो! आवेश में मत आवो! (धीरे से एम से) हमको यह अच्छा नहीं लगता! मैं घबराकर माता से कहता हूं, कि माता! एक आदमी कहता है, 'यह ऐसा है;' 'यह ऐसा है' और दूसरा कहता है, 'यह ऐसा है,' अतएव सत्य क्या है, यह मुझे तू बता।

बिंदु ४९ ।

नरेन्द्र (विवेकानन्द) गिरीश घोष, चुनीलाल, लाटू, एम और नारायण इत्यादि शिष्यगणों के सहित श्री रामकृष्ण अपने बलराम नामक एक शिष्य के घर जाते हैं ।

बुधवार फाल्गुण कृष्ण दशमी, बंगाली तारीख २६, अंग्रेजी तारीख ११ मार्च सन् १८८५ के दिन श्रीरामकृष्ण बलराम के घर गये थे, बलराम रामकृष्ण का शिष्य था । वे दक्षिणेश्वर से सबेरे दस बजे के लगभग यहां आये, उस दिन आपने यहीं भोजन किया ।

बलरामबाबू को धन्य है ! जिनके यहां श्रीरामकृष्ण ने अपना प्रधान कर्म-क्षेत्र किया था । नवीन नवीन भक्तों को साथ लेकर प्रेम की (भक्ति की) रस्सी से उनको बांधने का कार्य उन्होंने उस ही जगह में किया ! वहीं पर आप भक्तों समेत भजन रंग में विदेह होकर नाचने-गाने लगे ! उस समय ऐसा मालूम होता था, कि मानों श्री गौरांग ने श्रीवास (गौरांग का एक प्रिय शिष्य) के घर में प्रेम का (भक्ति का) बाजार लगाया है ।

महाराज का अपने भक्तों पर कितना प्रेम ! दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में वे अकेले बैठते और अज्ञान बालक की तरह रोते, उनके (भक्तों के) मिलने के लिये व बिलकुल विह्वल हो जाते ! रात्रि को उनको निद्रा भी नहीं आती ! वे माता से कहते कि, " माता ! कृपा करके उसको अपने समाज में ले न । गरीब बिचारा क्या वह तेरे ऊपर भक्ति करेगा ! उसके मिलने को हमको बहुत लालसा लग रही है । माता ! एक

हार उसको यहां ला न। अथवा माता ! यदि तुझसे ऐसा नहीं होता, तो मुझे ही उसके पास ले चल !" बलराम के घर में वे प्रायः आते-जाते हैं, उनके आने का कारण यही तो नहीं है ? वे आप ही आप जिसके-तिसके पास ऐसा कहते हैं, कि बलराम सच्चा भक्त है; वह जगन्नाथ की नित्य सेवा करता है; अतएव उसके यहां का भोजन बिलकुल शुद्ध है। परन्तु जब वे बलराम के यहां आते हैं; तब उसको वे तुरन्त ही बुलाने को भेजते हैं वे उससे कहते हैं, कि " जा नरेंद्र, राखाल, भवनाथ पूर्ण, छोटा नरेंद्र, और नारायण, इत्यादि सब भक्तों को बुला ला। उनको खाने को दिया, मानों नारायण (परमात्मा) को भोजन कराया। इन्हें सामान्य मनुष्य न समझो। ये ईश्वर ही हैं। यदि इनको भोजन देगा तो तेरा बहुत कल्याण होगा।

एम पास ही के एक अंग्रेजी-स्कूल का मास्टर था। आज दस बजे के लगभग श्रीरामकृष्ण बलराम के घर आनेवाले हैं, ऐसी खबर उसने सुनी थी। बीच में कुछ काम न रहने के कारण वह दोपहर (दुपहर) के समय महाराज की भेंट करने के लिए आया। आकर उसने महाराज को प्रणाम किया।

दुपहर को, भोजन करके, महाराज दिवानखाने में आराम कर रहे थे। कम उम्र के भक्तगण आपको चारों ओर से घेरे हुए बैठे थे। कभी कभी महाराज एक थैली से, मसाला और कबाब-चीनी आदि निकाल कर मुख में डाल लेते थे।

श्रीरामकृष्ण (प्रेम से एम को):—आया तू ! आज स्कूल बन्द है क्या ?

एमः—मैं अभी स्कूल से ही आ रहा हूं। इस समय स्कूल में कोई विशेषावश्यकीय काम नहीं है।

एक भक्तः—नहीं, महाराज ! यह काम छोड़ कर स्कूल से वापस आया है ! (सब हँसते हैं)

इतने ही में महाराज किसी प्रकार के विचार में मग्न हो गये। कुछ देर बाद आपने एम से अपने पास बैठने को कहा, और अनेक विषयों पर वे उससे बात-चीत करने लगे। वे बोले, "भीगे हुये अंगोछे को निचोरता है क्या? निचोर, देखूं। और इस वारावन्दी (पहिरने का एक वस्त्र) को धूप में सूखने को डाल दे। हमारे पैर दुखते हैं, उन पर हाथ फिराता है क्या?" गुरु-सेवा कैसी करना चाहिये, यह एम को बिलकुल मालूम न था। यह महाराज ने उसको सिखाया। महाराज के कथनानुसार वह प्रत्येक काम को बड़ी खुशी से करने लगा। वह उनके पैर दाबने लगा। और महाराज कथा के रूप से उसको उपदेश देने लगे।

श्रीरामकृष्ण(एम से):—क्यों रे, तुझको इसके लिए क्या मालूम होता है? आज कितने दिवस हुये,ऐसा विलक्षण प्रकार चला है। धातु-सम्बन्धी किसी पदार्थ के स्पर्श करने की मेरी इच्छा नहीं होती, ऐसा हो गया है! एक बार मैं 'कटोरी' को हाथ लगाया, तो क्या चमत्कार हुआ, यह तुझे मालूम है क्या? शृंगीमत्स्य का काँटा हाथ में चुभ गया, इस प्रकार हमारे हाथ में पीड़ा होने लगी! हाथ एकदम झंझनाने लगा! भला लोटा बिना कैसे गुजर होगी? एक दफे 'झाऊ' के वृक्ष के पास लोटा ले जाना चाहिए, ऐसा हमने विचार किया। मैं जो लोटा लिया, कि फिर प्रथम की तरह हाथ में वेदना होने लगी! यह कैसी भयंकर वेदना! अन्त में प्रार्थना करके मैंने माता से कहा, कि माता! इस समय मुझे क्षमा कर; मैं ऐसा फिर कभी नहीं करूंगा।" मैं प्रत्येक सुखोपभोग से अलिप्त रहूं; अतएव यह माता का संकेत है, क्या ऐसा नहीं तुझको मालूम होता?

वैराग्य किंवा सच्चा सन्यास।

एमः—मुझे मालूम होता है, यही उसका सच्चा अर्थ है।

श्रीरामकृष्ण (एम से):—छोटा नरेंद्र प्रायः हमसे मिलने को आता है। भला उसके घर के लोग क्या कहते होंगे! अहाहा! वह क्या अच्छा लड़का है, कितना शुद्ध! स्त्री का उसको अभी स्पर्श नहीं हुआ!

विषयराहित्य और ईश्वर के लिये व्याकुलता।

एमः—सत्य है, महाराज! वह कोई सामान्य कोटि का आदमी नहीं है।

श्रीरामकृष्णः—यह सत्य। वह कहता है, "किसी प्रकार की ईश्वर-वार्ता मेरे कान में पड़ी, कि वह मेरे मन में जम जाती है। और वह कहता है, कि मैं जब छोटा था, तब मैं इसलिए रोता था कि मुझे ईश्वर नहीं दीख पड़ता था।

छोटे नरेंद्र के सम्बंध में एम इसी प्रकार की अनेक बातें लगातार कर रहा था, कि इतने ही में एक शिष्य बोला, "क्यों मास्टर साहब! क्या आपको स्कूल में वापस नहीं जाना है?

श्रीरामकृष्णः—कितने बजे?

शिष्यः—एक बजने में दस मिनट बाकी हैं।

श्रीरामकृष्ण (एम से):—अब तुम वापस जाओ, तुमको बहुत देर हो गई है। काम छोड़ कर तू आया है। (लाटू से) क्यों रे! गवाल किधर है?

लाटूः—वह घर गया।

श्रीरामकृष्णः—क्या कहना है? मुझसे बिना मिले कैसे चला गया?

बिन्दु ५०।

स्कूल की छुट्टी हो जाने पर एम फिर आया। बलराम के दिवानखाने में शिष्यों के बीच में महाराज बैठे थे, यह देख कर उसको बहुत संतोष हुआ। महाराज के मुख पर मधुर स्मित-चिन्ह प्रकट होते थे, जो शिष्य-वर्गों के मुख पर प्रतिबिम्बित हुये थे। एम ने उनको प्रणाम् किया; तब महाराज ने उसको अपने पास आकर बैठने का संकेत किया। गिरीशघोष, सुरेशमित्र, बलराम, लटू और चुन्नीलाल इत्यादि अनेक शिष्य उस जगह उपस्थित थे।

श्रीरामकृष्ण (गिरीश से):—इस विषय की चर्चा तुम नरेंद्र से करः देखो, उसका क्या कहना है।

गिरीश—नरेंद्र कहता है, "ईश्वर अनन्त है। जो कुछ अपने को दिखता और सुनता है—फिर चाहे वह कोई पदार्थ हो अथवा कोई व्यक्ति—यह सब ईश्वर का अंश है, ऐसा हमसे नहीं कहते बनता; फिर यह सब ईश्वर ही है, ऐसा कहना तो बहुत दूर है, कहां है अनन्त का अंश? अंश तो है ही नहीं। वह भी कल्पनातीत ही है।"

महाराजः—ईश्वर अनन्त है, इसमें बिलकुल सन्देह नहीं। परन्तु वह बहुत बड़ा है, सर्वशक्तिमान् है। यदि वह इच्छा करे तो प्रेमरूप से प्रकट होकर मनुष्य-अवतार ले सकता है, उसको कुछ कठिन नहीं। और वैसा वह अवतार लेता ही है। ईश्वर मनुष्यरूप से अवतरित होता है, यह बात सत्य है।

अर्थात् केवल शब्दों से—उपमा से—यह बात उतनी स्पष्ट करके नहीं कहने में आयेगी, जितना कि ज्ञान-दृष्टि से उसका अनुभव हो सकता है। ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहिये; तभी विश्वास होगा। उपमा-द्वारा उसकी केवल सूक्ष्म कल्पना

पुतलियाँ हैं। जो जागृत होते हैं वे टेढ़ा कदम रखते ही नहीं—असन्मार्ग टालने के लिए उन्हें पूर्व विचार नहीं करना पड़ता। ईश्वर का ही उन पर इतना प्रेम होता है कि वे जो जो कुछ करते हैं वह वह सब अच्छा ही होता है। उसी प्रकार उनके मन में सदा यही बात बनी रहती है कि हम कार्य के सच्चे कर्ता नहीं हैं, किन्तु हम जगदीश्वर के सिर्फ दास हैं, वे यन्त्र के समान हैं और ईश्वर यन्त्र चालक है। वह जैसा कराता है वैसा ही काम वे करते हैं, जैसा बोलाता है वैसा ही वे बोलते हैं, जिस प्रकार वह चलाता है उसी प्रकार वे चलते हैं।

जो जागृत होते हैं वे सद्गुणों और दुर्गुणों के आगे रहते हैं। वे समझते हैं कि सब कुछ ईश्वर करता है। एक मठ के साधु भिक्षा पर अपनी उपजीविका चलाते थे। एक दिन उनमें से एक साधु भिक्षा के लिए बाहर गया। एक जगह उसने देखा कि एक जमीदार एक मनुष्य को निर्दयता से मार रहा है। साधु बड़ा दयालु था। वह उन दोनों के बीच में खड़ा हो गया और उस गरीब को न मारने के लिए जमीदार को समझाने लगा। जमीदार क्रोध से पागल हो गया था। इस कारण क्रोध के आवेश में वह साधु ही की ओर फिर गया और उसे इतना बेदम करके मारा कि वह साधु बेहोश होकर, पृथ्वी पर, गिर पड़ा। यह खबर मठ में पहुची। बाकी साधु वहा दौड़ते हुए आये। उन्होंने देखा कि वह साधु बेहोश पड़ा है। वे उसे मठ में उठा ले गये, और उसे बिछौने पर लेटा कर दे, सब उस पर हवा आदि करके, उसकी शुश्रूषा करने लगे। उसके मुख में जब थोड़ा सा दूध डाला गया तब उस साधु को कुछ होश आया और उसने आँखें खोलीं। यह देखने के लिए, कि वह पूरा पूरा होश में आया है कि नहीं, उनमें से एक साधु पूछा, "आपके मुख में दूध कौन डाल रहा है?"

होगी। देखो, जैसे अपनी 'गाय' के सींग को, पूँछ को अथवा किसी अंग को हाथ लगाया, तो यही समझोगे न, कि हम गाय को स्पर्श करते हैं? अच्छा, यदि गाय के सम्बन्ध में विचार किया, तो हमको—मनुष्यों को—उसका दूध यही मुख्य है। यह दूध कहां से आता है। उसी तरह भक्ति का दूध अवतारी पुरुषों से प्राप्त होता है। मनुष्यों को भक्ति के मार्ग में लाने के लिये, ईश्वर कभी कभी भक्तिरूप से अवतरित होता है।

गिरीशः—नरेंद्र कहता है, "ईश्वर का स्वरूप मालूम हो सकता है क्या? अपने छोटे से मस्तिष्क में उसकी धारणा होगी क्या? वह अनन्त है!"

महाराज (गिरीश से):—यह सत्य है। ईश्वर की धारणा किसको हो सकती है? उसके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान किसको हो सकता है? उसके पूर्ण स्वरूप का ज्ञान अपने को नहीं हो सकता? और उस ज्ञान के होने की अपने को आवश्यकता भी नहीं। पूर्ण स्वरूप का ज्ञान किस लिए चाहिए? अपने को उसके प्रत्यक्ष दर्शन हुए, जगत् में वह क्या है? वह सत्य है, यह बात अपने मन में समझ पड़ी कि 'बस' हुआ। अवतारी पुरुषों के दर्शन हुए, तो भी 'बस' है, क्योंकि वह ईश्वर के दर्शन होने के समान ही है।

अनन्त की धारणा।

समझो, कोई आदमी गंगाजी पर जाकर गंगा-जल का स्पर्श किया, तब वह क्या कहता है? वह कहता है, कि "मैं गंगाजी दर्श-स्पर्श कर आया।" 'हरिद्वार' से 'गंगा-सागर' तक—तमाम नदी का—उसको स्पर्श करना चाहिए, ऐसा कुछ नहीं। (सब हँसते हैं)

तेरे पैर को स्पर्श किया, कि तुझको स्पर्श किया, दोनों बराबर ही हैं। समुद्र के किनारे पर आप गये और उसके पानी को स्पर्श किया, तो समुद्र को स्पर्श किया के समान ही है।

अग्नि-तत्व सब जगह है और सब वस्तुओं में है तोभी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा काष्ठ में उसका अंश विशेष रूप से है।

गिरीश (सस्मित):—ठीक! मैं उसी अग्नि को खोज करता हूं। जहां वह मिले, वही हमको चाहिए—अन्य स्थान नहीं।

महाराज (सस्मित):—ठीक! काष्ठ में उसको विशेष रूप से परमेश्वर ने रक्खा है। तू परमेश्वर की खोज करता है क्या? ठीक है, मनुष्य के बजाय तू उसको—परमेश्वर को—खोज! अन्य वस्तुओं की अपेक्षा वह मनुष्य में विशेष प्रकाशमान है। जिस मनुष्य को भक्ति बिलकुल ऊर्जितावस्था को प्राप्त हुई है—जो मनुष्य ईश्वर के लिए एक सरीखा तड़फड़ाता है, जिसको ईश्वर की ही लव लग रही है, जो प्रेम से विदेह हो गया है—उस मनुष्य में ईश्वर अवतरित हुआ है, ऐसा निश्चित जान।

(एम से) ईश्वर सब वस्तुओं में विराजमान है; परन्तु सब वस्तुओं में उसकी शक्ति समान प्रकाशित नहीं है—कहीं कम है, कहीं विशेष। अवतारी पुरुषों में उसकी शक्ति अत्यन्त प्रकाशित हुई है।

गिरीशः—नरेंद्र कहता है, कि "वह अवाङ्मानसगोचर है।"

महाराजः—केवल ऐसा ही नहीं कुछ। विकृत अथवा सोपाधिक मन को वह गोचर नहीं, यह सत्य है; परन्तु शुद्ध मन को वह गोचर है। बुद्धि को वह गोचर नहीं; परन्तु शुद्ध बुद्धि को वह गोचर है। शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि और शुद्धात्मा यह एक ही हैं। मर्यादित बुद्धि को अथवा मर्यादित, सोपाधिक और विकृत मन को—विषयासक्त मन को—कामिनी, कांचन के पीछे दौड़नेवाले मन को—वह गोचर नहीं हो सकता, यह बिलकुल सत्य है। मन की विषयासक्ति छूटी, सत्संस्कार-द्वारा वह शुद्ध हुआ और आसक्ति व संसार के बन्धन से वह मुक्त हुआ, कि शुद्धात्मा का स्वरूप उसको प्राप्त हुआ।

प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने ऐसे ही ईश्वर के दर्शन नहीं किये क्या? चैतन्य के द्वारा उनको परमेश्वर का—चैतन्य का—साक्षात्कार हुआ है। शुद्ध मन अर्थात् अन्तरंग में वास करने वाला शुद्ध अथवा निरुपाधिक आत्मा का उनको अनुभव हुआ है।

गिरीश (सस्मित):—नरेन्द्र मेरे आगे हार गया!

श्रीरामकृष्णः—छि, उलटा यह (नरेंद्र) ऐसा कहता है, कि ईश्वर मनुष्यरूप से अवतरित होता है, इस बात पर गिरीश घोष का विश्वास है; यह उसका विश्वास बिलकुल अचल है; तब मैं क्या बोलूं? ऐसी जगह कुछ न बोलना यही अच्छा!

गिरीश (सस्मित):—महाराज! हम सब लोग बोलते हैं, आपका वाक्प्रवाह शुरू है; परन्तु यह एम बिलकुल चुपचाप—मुख में कुलुफ सा लगा कर—बैठा है। इसका विचार न मालूम किस ओर का चल रहा है? महाराज! कृपा करके कहें न, यह क्या है? (सब हँसते हैं।)

महाराज (सस्मित):—जो मनुष्य 'भाट' की तरह सदा बोलता रहता है, वह मनुष्य; जिसके अन्तःकरण का दरवाजा बन्द है—जिसके अंतःकरण का कुछ पता नहीं लगता—वह मनुष्य; अपनी भक्ति के प्रदर्शन करने के लिए, जो सदा कान में तुलसी-पत्र डालता है, वह मनुष्य; जो अपने मुख पर लम्बा बुरका डालती है—लम्बा घूंघट काढ़ती है—वह स्त्री; जिस तालाब का पानी स्वच्छ और शुद्ध नहीं है—वह तालाव; इन पाँचों के सम्बंध में सदा सावधान रहना चाहिए। तालाव के अस्वच्छ और कच्चे पानी की शीतलता शरीर को बहुत हानिकारक है। उसमें स्नान किया कि सान्निपात आया! परन्तु अपना एम ऐसा कुछ नहीं है—यह बहुत गम्भीरात्मा है; इसीलिए यह नहीं बोलता (सब हँसते हैं।)

गिरीश:—महाराज, इसके विषय में फिर भी आप ऐसी बात कहते हैं?

सुरेन्द्रलाल:—इस एम के नाम पर लोग बहुत शोरगुल करते हैं, वैसे तो बाबूराम, नारायण, पल्टू, पूर्ण और तेजचन्द्र आदि सब इसके शिष्य हैं। लोगों का ऐसा कहना है, कि "एम इनके लड़कों को इधर ले आता है; अतएव लड़कों के पढ़ने में बाधा पड़ती है—लड़कों का मन पढ़ने से छूट जाता है। इसका कुल दोष एम के शिर पर सब लोग मढ़ते हैं।

महाराज—भला उनके इस कहने पर कौन विश्वास करेगा?

ऐसी बात चीत हो रही थी, इतने ही में नारायण ने आकर महाराज को प्रणाम किया। नारायण का रंग गोरे वर्ण का था, और उसकी आयु १७।१८ वर्ष की थी। वह विद्यार्थी होकर भी महाराज पर बहुत प्रेम करता था। श्रीरामकृष्ण का भी उसके ऊपर इतना प्रेम था, कि वे उसके मिलने के लिये कभी कभी बहुत व्याकुल होकर माता के आगे बैठ कर रोने लगते और कहते कि नारायण से शीघ्र भेंट करा! नारायण यह सक्षात्कार 'नारायण' है, ऐसा उनको मालूम होता है।

गिरीश (नारायण को देख कर)—अरे वाह! तुझे किसने यह खबर दी, कि "महाराज यहां आये हैं?" परन्तु हमें मालूम होता है कि यह सब एम की कारस्थानी है! (सब हसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण—हाँ, चुप रहो! शुरू से हो इस विचारे का नाम बद्दू (बदनाम) कर रहे हो।

फिर नरेन्द्र के विषय में वार्तालाप होने लगा।

एक शिष्य—प्रथम की तरह अब वह यहां नहीं आता।

महाराज:—आता नहीं, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

बलराम:—शिव-गुह का नाती (पौत्र) अन्दा गुह उसका परम मित्र है। उसके साथ ही वह सदा रहता है।

महाराज—हाँ, उसका कौन सा मित्र है, वह सरकारी नौकर है। उसके घर में बहुधा सब लोग एकत्रित होते हैं। वह ब्रह्म-समाज की सभा वहां करता है।

बलराम (सस्मित):—अमदा गुरु को ' अहम् ' की व्याधि बहुत है, ऐसा पंडित कहते हैं।

श्रीरामकृष्णः--पंडितों का कहना तुम मत सुनो ! उनका स्वभाव तो तुझे मालूम ही है; जो उनको यथेच्छ

प्रतिग्रह और मतामत : देता है, वह तो अच्छा; शेष तमाम जगत् बुरा। (सब हँसते हैं)

अमदा को मैं अच्छी तरह जानता हूं, वह बहुत अच्छा आदमी है।

बिन्दु ५१।

शिष्यों समेत भजनानन्द में।

इतने ही में महाराज ने भक्ति पर भजन सुनने की इच्छा प्रकट की। बलराम का दिवानखाना आदमियों से ठसाठस खूब भरा था। सब महाराज की ओर एकटक दृष्टि से देख रहे थे; उनके मुख से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द को वे उत्कण्ठा से सुनते थे; महाराज क्या करते हैं, यह वे आतुरता से देखते थे। महाराज ने तारापद से गाने को कहा। श्रीकृष्ण की लीला का जिसमें वर्णन है, ऐसा भजन उसने गाने के लिए शुरू किया।

यह भजन समाप्त होने पर—

श्रीरामकृष्ण (गिरीश से):—वाह, कैसा अच्छा भजन है ! क्या तूने यह भजन सुना ?

एक शिष्यः—हाँ महाराज ! *चैतन्य-लीला के सब भजन इसने ही बनाये हैं।

श्रीरामकृष्ण (गिरीश से):—यह भजन बहुत अच्छा हुआ !

---

*एक नाटक।

(गायक से) निताई के (चैतन्य का भाई) एकाध भजन तुझे आते हैं क्या ?

फिर उसने भजन गाना शुरू किया। उसमें निताई, प्रेम का (भक्ति का) उपदेश करता है।

यह भजन गा चुकने के बाद दूसरा भजन जो गाया गया वह गौरांग के सम्बन्ध में था।

तत्पश्चात् सबों ने एम से आग्रहपूर्वक कहा, कि तू एक भजन गा। एम को गाने में शरम लगती है; इसलिए उसने सब से यह प्रार्थना की, कि 'मुझे माफ करो'!

गिरीश (महाराज से सहास्य):—महाराज! हम लोगों ने कितना कहा, तोभी एम एक भजन भी नहीं गाया! (सब हँसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण (नीरसपन से):—यह पाठशाला में खूब हँसेगा, बोलेगा; परन्तु परमेश्वर के नाम लेने में इसे लाज लगती है? एम कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा।

सुरेशमित्र महाराज का एक शिष्य है। वह महाराज से दूर बैठा था। श्रीरामकृष्ण ने स्नेह-दृष्टि से उसकी ओर देखा, और गिरीश घोष की ओर अंगुली करके हँसते हँसते कहने लगे—

श्रीरामकृष्ण (सुरेश से):—तू हमसे ऐसा कहते रहता है न? कि हमारे दिन प्रथम मूर्खता में व्यतीत होते थे, परन्तु इसकी (एम की) तो तुमसे भी गई बीती दशा है, अर्थात् यह तुमसे भी विशेष मूर्ख है! (सब हँसते हैं।)

सुरेश (सहास्य):—सत्य है महाराज! इस काम में तो यह हमारा दादा है! (सब हँसते हैं।)

गिरीश (महाराज से):—लड़कपन में मैं कभी पढ़ने की ओर ध्यान नहीं दिया, तिस पर भी लोग मुझे विद्वान् कहते हैं; यह कैसा क्या!

श्रीरामकृष्ण—महिमा चक्रवर्ती ने अनेक शास्त्रों को पढा है, सुना है। (एम से) नहीं क्या रे, एम?

एमः—हाँ, महाराज!

गिरीशः—क्या कहते हैं आप, महाराज! विद्या! मालूम है मुझको विद्या! मैंने बहुत विद्या पढ़ी है! मुझको उसका कुछ नहीं मालूम होता!

महाराज (हंसते हंसते):—विद्या के लिये मुझे क्या मालूम होता, वह तुझको मालूम है क्या? पुस्तकशास्त्र केवल इतना ही बतला देता है कि ईश्वर की ओर जाने का मार्ग कौन सा है। वह मार्ग एक वार मालूम हो गया, कि फिर शास्त्र का ही उपयोग क्या? फिर एकान्त में ईश्वर-चिंतन करके आत्मोन्नति करना ही कार्य्य करने को रह जाता है।

एक वार एक मनुष्य के पास एक पत्र आया; पत्र में उसके ग्रामजनों ने कुछ वस्तु भेजने को लिखा था। पत्रानुसार वह वस्तु खरीदने के लिये चला; परन्तु देखा, तो वह पत्र कहीं गिर गया। उसने बहुत ढूंढ़ा; पर कहीं पता नहीं लगा। घर के अन्य आदमी भी उस पत्र को ढूंढ़ने लगे। अन्त में वह पत्र मिल गया। पत्र को पाकर वह बहुत आनन्दित हुआ! बड़ी उत्सुकता से वह उस पत्र को पढ़ने लगा। उसमें पाँच सेर मिठाई और कुछ कपड़े-लत्ते आदि भेजने को लिखा था। जो चीजें पत्र में लिखी थीं, उनको समझ कर उसने वह पत्र फिर फेंक दिया और उन चीजों को खरीदने के लिये बाजार चला गया।

अब सोचना चाहिये, कि पत्र को आवश्यकता कब तक के लिये थी? जब तक कि उसको वस्तुएं नहीं मालूम थीं। वे वस्तुएं मालूम हो गईं, कि उन वस्तुओं के प्राप्त करने का उद्योग करना, यहां अब आगे के लिये काम शेष रह गया।

उसी प्रकार शास्त्र में ईश्वर-प्राप्ति के उपाय—मार्ग—बतलाये गये हैं। एक वार मार्ग मालूम हो गया, कि उसके प्राप्त करने

के लिये प्रयत्न करना चाहिये, यही आगे के लिये काम है। वस्तु-लाभ—ईश्वर-प्राप्ति—यही साध्य।

केवल पुस्तकी विद्या से क्या लाभ! केवल पंडिताई ही किस काम का? अनेक श्लोक, अनेक शास्त्र पंडितों का मुखोद्गत होंगे, परन्तु वे केवल पाठ होने से उनसे क्या लाभ? शास्त्रों के तत्व अनुभव में आना चाहिये। जब तक कामिनी और कांचन के पीछे मन चलायमान रहता है तब तक केवल पाठमात्र से ज्ञान अथवा मुक्ति का लाभ कभी नहीं हो सकता।

पचांग (पत्रा) में इतनी इतनी पर्जन्यवृष्टि होगी, ऐसा लिखा है; परन्तु पचांग को निचोरो, तो उसमें से जल का एक भी बून्द नहीं टपके गा! यदि तुम ऐसा कहो, कि भैया पचांग! एक बून्द ही पानी गिरा दे, तब भी उससे पानी नहीं गिरेगा! (सब हँसते हैं।)

गिरीश (सहास्य):—महाराज! आप क्या कहते हैं? पचांग से एक बून्द भी जल नहीं गिरेगा? (सब हसते हैं।)

महाराज (सहास्य):—मुख से तो पंडित लोग बडी बडी लम्बी बातें मारते हैं; परन्तु उनकी दृष्टि किधर है? कामिनी और कांचन या देहसुख और पैसा पर। गिद्ध पक्षी उड़ता तो सब से ऊचा है, परन्तु उसकी दृष्टि कहां रहती है? स्मशान-भूमि पर! अथवा जहां मरे जीव पडे रहते हैं वहीं! (सब हँसते हैं।) वह ऊची जगह पर से एकटक दृष्टि लगाकर देखता है, कि स्मशानभूमि कहां है, मरे जानवर कहां पडे हैं।

(गिरीश से):—नरेंद्र बहुत सदाचारी है। सब गुण उसके शरीर में विद्यमान हैं। इस ओर देखते हैं तो वह गाता है, बजाता है और उस ओर देखते हैं तो विद्या की सब शाखाओं में निपुण। वह बहुत सत्यवादी और जितेन्द्रिय है। उसके शरीर में विवेक और वैराग्य है। उसमें अनेक गुण हैं।

नरेंद्र।

(एम से):—क्यों रे, वह अच्छा है, क्या यह तुझको नहीं मालूम होता ?*

एमः—सत्य है, महाराज ! जैसा आप कहते हो वैसा सत्य है।

श्रीरामकृष्ण (धीरे से एम से):—देखो, उसका (गिरीश का) ईश्वर पर कितना अनुराग और विश्वास है, वह पर्वत के समान बिलकुल अचल है।

एम साविनय गिरीश की ओर देखने लगा। गिरीश महाराज की ओर आते थे। परन्तु वह अपना पूर्व परिचित है—पुराना मित्र है—अपना स्वकीय बन्धु ही है—एक सूत्र में गुंथी हुई मणि-माला में की एक मणि है, ऐसा एम को मालूम होने लगा।

नारायण बोला, महाराज ! कृपा कर कुछ गाइयेगा क्या ?

इस पर श्रीरामकृष्ण मधुर स्वर से माता के गुणानुवाद का गान करने लगे।

एक भजन गा चुकने के पश्चात् फिर "मैं त्रिताप तापित संसारी आदमी हूं, " की भावना करके महाराज दूसरा भजन गाने लगे।

पुनः जिसमें माता के आनन्द का वर्णन किया गया है, ऐसा भजन गाने लगे। माता ब्रह्मानन्द में बिलकुल पागल हो गई है, ऐसा उनको दिव्य-दृष्टि से गोचर हो रहा है। अतएव इस पर भी महाराज ने एक भजन गाया।

शिष्यगण निस्तब्धपन से गाना सुन रहे थे। महाराज की वृत्ति में जो परिवर्तन हुआ था, उस ओर उनका ध्यान लग रहा था। 'ब्रह्मानन्द में लय लग गई है अब शरीर को कौन संभाले, ' ऐसी उनकी अवस्था हो गई थी। चित्त-वृत्ति बिलकुल ब्रह्मानन्द में जाने के कारण, उनको देह-भान नहीं था। हरि-रस-मदिरा से बिलकुल बेहोश हो गये थे।

गाना बन्द हुआ। कुछ देर बाद महाराज बोले, आज मुझसे अच्छी तरह नहीं गाते बनता। सर्दी हुई है !

विन्दु ५२।

सन्ध्या-समय।

सन्ध्या-समय हुआ। समुद्र के वक्षस्थल, निविड अरण्य और गगन-चुम्बित पर्वत के शिखर में अनन्त की कृष्णच्छाया फैल रही है। वायु विकम्पित और कलरवपूर्ण नदी के तट पर तथा दिगन्तव्यापी पारिप्रान्त पर उसने अपना भयानक स्वरूप प्रकट किया है, ऐसा दृश्य देख मनुष्य के मन में भी भावान्तर हो जाता है—उसके मन में विचार-माला शुरू होती है। कुछ समय-पूर्व जो सूर्य चराचर विश्व को प्रकाशित करता था, वह अब कहां गया? इस प्रश्न से बालक के कोमल हृदय पर बड़ा भारी धक्का पहुंचता है, क्योंकि बालक इस जगत् से अभी बिलकुल अपरिचित ही है। वही स्थिति उस महापुरुष (श्रीरामकृष्ण) की भी हो गई; क्योंकि उसकी वृत्ति भी बालक के समान ही थी। उसको सदा यही मालूम होता है, कि मैं केवल माता की कृपा के नीचे—माता की दृष्टि के नीचे—हूं! सन्ध्यासमय! यह कितना आश्चर्य! यह किस दिव्य शक्ति ने उत्पन्न किया? पक्षीगण वृक्ष-स्कन्धों का आश्रय करके मीठे मीठे शब्द बोलते हैं। जिन मनुष्यों में चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हुई है, वे मनुष्य भी उस आदि कवि (परमात्मा) के, उस पुरुषोत्तम के, गुण गान करते हैं।

बात की बात में सन्ध्या-समय हो गया। शिष्यगण अपनी-अपनी जगह पर, जैसे बैठे थे वैसे ही, बैठे रहे। श्रीरामकृष्ण, मधुर स्वर से, ईश-नाम का गान करते थे; और शिष्यगण उद्ग्रीव तथा उत्कर्ण होकर ध्यानपूर्वक सुनते थे। उनके मुख

साधु ने मन्द स्वर से उत्तर दिया --भाई, जिसने मुझे मारा, वही मेरे मुख में दूध डाल रहा है ।

ईश्वर को पहचाने बिना ऐसी मनोरचना नहीं हो सकती ।

बिन्दु ३ ।

ठाकुर श्रीरामकृष्ण समाधि लगा कर अपने खटोले पर बैठे हैं, भक्तमंडली चारों ओर जमा है, अधरसेन अपनी मित्र मंडली सहित आये हैं । अधरबाबू डिप्युटी मजिस्ट्रेट हैं, और परमहंस से मिलने का उनका यह पहला ही मौका है । अधर-सेन की उम्र अभी २८-२९ वर्ष की है । शारदाचरण नामक एक अधर का मित्र है । शारदाचरण का बड़ा लड़का परलोकवासी हो गया है, इस कारण दुःख भार से वे दबे हुए हैं, वे शिक्षा-विभाग में डिप्युटी इन्स्पेक्टर थे । नौकरी करते हुए और पेन्शन लेने के बाद भी वे अपना बहुत सा समय परमार्थ साधन में लगाते थे । पर जब से पुत्र का देहान्त हुआ तब से उनका मन स्थिर न था बहुत प्रयत्न करने पर भी उनका समा-धान न होता था । तब श्रीरामकृष्ण की कीर्ति सुन कर अधरसेन उसे उनके पास ले आये हैं । इधर अधरबाबू की भी बहुत दिन से रामकृष्ण का दर्शन करने की इच्छा थी ।

समाधि खुली । श्रीरामकृष्ण ने आँखें खोलीं । तब उन्होंने देखा कि सारी कोठरी मनुष्यों से भर गई है और सब की आँखें हमारी ओर लगी हैं । उनका यह आत्मगत भाषण शुरू हुआ --जो लोग संसार में रत हैं उन्हें ज्ञान-दर्शन कभी कभी--'दिये की ज्योति की तरह बीच बीच में--नहीं, किसी फटी से भूल कर आये हुए सूर्य किरण की तरह--होता है । मन में भक्ति का लवलेश भी नहीं है, पर संसारी जन जो केवल पर-

से जो ईश-नाम निकलता था, वह कर्णेन्द्रिय को बहुत ही मधुर लगता था। वह मधुरता—वह मिठाई—उस समय उनको जैसी अनुभव में आई, वैसी कभी नहीं आई थी!

श्रीरामकृष्ण के मुख से माता माता!! यह जप एक सरीखा चल रहा था, किसी बालक के मुख से माता माता!! यह शब्द इतने प्रेम से, इतनी मधुरता से, आज तक उन्होंने—शिष्यों ने—न सुना था और न देखा था, जितनी मधुरता और प्रेम से उनके—महाराज के—मुख से (माता माता! !) यह शब्द सुन रहे हैं! महाराज के मुख से भी क्या सुधा-बिन्दु की वृष्टि ही हो रही है, ऐसा उनको क्षण भर भास हुआ! अनन्त आकाश, गगन-चुम्बित पर्वत, नीलवर्ण महासागर, दिगन्त-प्रान्त और गहन अरण्य, का आश्रय करके जगनायक के खोज करने का अब क्या प्रयोजन है? गाय के शृंग, पैर, अथवा उसके शरीर के किसी अंग को अब देखने की क्या आवश्यकता है? ब्रह्मरूपी गाय के स्तन से भक्तिरूपी दुग्ध निकालना चाहिये, ऐसे उद्गार आज महाराज के मुख से निकले। यदि ऐसा हम न कहें, कि "इस कोठरी में आज सुदैव से मुझे एक अवतारी पुरुष का दर्शन होता है," तो सब शिष्यों के अशान्त—त्रिविध ताप से क्षुब्ध हुये—मन को जो शान्ति लाभ हो रहा है, वह किस तरह से? यह निरानन्द और दुःखपूर्ण धरा आज आनन्दपूर्ण क्यों दीख पड़ने लगी? अपने सन्मुख जो यह पुरुष दीख पड़ता है वह क्या अवतरित ईश्वर है? यह ईश्वर हो अथवा न हो? परन्तु मेरा मन इसके चरणों में अर्पण है! अब वहां से यह डमाडोल नहीं हो सकता! उसको (उस महापुरुष को) अब जैसा समझ पड़े वैसा मन को—मेरे मन को—करे। उस महा-पुरुष को अब मैंने अपने मन का अचल ध्रुव तारा किया है! उसके हृदय-सरोवर में वह आदि पुरुष कैसा प्रतिबिम्बित हुआ, यह देखना ही अब मेरा काम रह गया है!

कुछ शिष्यों के मन में ऐसा आ रहा था और उनको ऐसा मालूम होता था कि श्रीरामकृष्ण के मुख से जो हरि-नाम कीर्तन हो रहा है उसको—उस विघ्न, दुखनाशक नाम को—सुन कर मैं कृतकार्य हुआ।

नाम-गुण कीर्तन के अनन्तर महाराज माता की प्रार्थना करने लगे। उस समय ऐसा मालूम हुआ कि प्रार्थना कैसी करना चाहिये, यह सिख लाने के लिये ही साक्षात प्रेममय परमात्मा ने मनुष्य-रूप धारण किया है। वे बोले, " माता ! मैं शरणागत हूं। भक्तों के हृदय में जिन जिन बातों के उत्पन्न होने से भक्ति दूर होती है, माता ! उन उन बातों से मुझे दूर रख। माता ! मुझे देह-सुख की इच्छा नहीं है ! लोक-मान्यता मुझे नहीं चाहिये ! अष्ट सिद्धियों (अणिमादि) की मुझे आवश्यकता नहीं है। मेरी प्रार्थना, माता ! केवल इतनी ही है, कि आपके कमलस्वरूपी चरणों में मेरी शुद्ध, निष्काम, निर्मल, अहेतुक और आन्तरिक भक्ति हो ! उसी तरह माता ! तेरी जगन्मोहिनी माया से मुग्ध होकर, यह तेरा बालक, तुझे न भूलने पावे ! तू अपनी अद्भुत माया से जो यह संसार का—कामिनी, कांचन का—मोहक जाल मनुष्य के चारों ओर फैलाया है, उसमें यह (बालक) फंस कर तुझको न भूलने पावे ! मोह वश में होकर मेरा मन माता ! उसमें (कांचन, कामिनी में) न फसने पावे, ऐसा कर। इस संसार में तेरे बिना माता ! मेरा ऐसा कोई नहीं है, जो मेरी रक्षा करे, यह आप देखती ही हो ! तेरे नाम का कीर्तन किस तरह करूं, माता ! यही मेरी समझ में नहीं आता ! माता ! मैं साधन-हीन, ज्ञान-हीन और भक्तिहीन हूं। इसलिये कृपा करके, माता ! अपने कमलस्वरूपी चरणों में मेरी अभिन्न भक्ति कर दे। "

प्रार्थना कैसी करना चाहिये, यह महाराज कहते हैं।

रात्रि-दिन जिसके मुख से हरि-नाम निकलता है—जिसके मुख से हरि नाम-गंगा निरवच्छिन्नपन से बहती है—उस महापुरुष के लिए भला संध्या-समय से क्या प्रयोजन है? क्या आदमियों के संग्रहार्थ—केवल लोगों की शिक्षा के लिए—ही महाराज इस नियम का पालन करते हैं?

* * * *

गिरीश ने अपने घर आने के लिए महाराज को आमंत्रण दिया था। अतएव उसी रात्रि को महाराज वहां जाने को थे।

महाराज.—बहुत रात्रि हो जायगी, यह क्या तुझे नहीं मालूम होता?

गिरीशः—नहीं, महाराज! जब आपको इच्छा हो, वापस आ जाइये। परन्तु मुझे तो आज नाटकघर* में जाने को है, वहां कुछ झगड़ा हो गया है, उसका हमको निपटारा करना आवश्यक है।

अटारी पर से उतरते उतरते महाराज की चित्तवृत्ति बदल गई। वे भगवद्भाव में विलीन हो गये; शराब से मतवाले (पागल) होनेवाले की तरह उनकी दशा हो गई। नारायण और एम उनके साथ थे। र म, चुनी आदि शिष्यगण पीछे आ रहे थे।

बे भान! उनका इन्द्रिय-ज्ञान एकदम नष्ट होते जा रहा है। जीना पर पैर फिसलने से महाराज गिर न पड़ें; अतएव उनका हाथ पकड़ने के लिए नारायण आगे आया। यह महाराज को पसन्द नहीं पड़ा—उन्हें दुःख सा मालूम होने लगा।

कुछ देर में वे नारायण से प्रेम से कहने लगे, कि यदि तू मेरा हाथ पकड़ेगा तो अन्य आदमियों को मालूम होगा कि मैं पागल हो गया हूं। अतएव मैं आप ही आप चलता हूं।

* * * *

---

* 'स्टार थियटर' में गिरीश व्यवस्थापक था।

घोसपाड़ा में दुबारा बेहोशी आई। गिरीश का घर यहां से निकट ही था। इतने में वे जल्दी जल्दी कदम उठा कर चलने लगे। क्यों? कौन जाने! शिष्यलोग पीछे रह गये! कौन से दिव्यभाव उनके हृदय में व्याप्त थे? कुछ मालूम नहीं होता!

शराबी के समान पैर रखते हुए वे भला क्यों चल रहे थे? वेद में जिसका वाङ्मनोतीत कहा है, उसका चिन्तन करने के कारण तो उनकी ऐसी अवस्था नहीं हुई है? कुछ समय पहिले बलराम के घर उन्होंने ऐसा कहा था, निष्प्रपञ्च शुद्ध (शुद्ध) मन का यह पुरुष अगोचर नहीं है, शुद्ध मन को उसका साक्षात्कार होने के समान है—शुद्ध मन को वह गोचर है। और शुद्ध मन, शुद्ध बुद्धि तथा शुद्धात्मा यह सब एक ही हैं! तब ऐसा मालूम होता है कि उसका उस पुरुष का साक्षात्कार होता है! 'जो जो कुछ है वह वह ईश्वर रूप ही है।' इस तत्व की क्या यही अनुभूति है? यानी सिवाय उनके और किसीको नहीं मालूम हो सकता।

इतने ही में नरेंद (विवेकानन्द) आया। 'नरेन्द्र, नरेन्द्र, नरेन्द्र' ऐसा महाराज का जप कितने ही दिनों से एक सरीखा चल रहा था। परन्तु अब क्या चमत्कार हुआ, कि जब नरेन्द्र प्रत्यक्ष उनके सामने खड़ा है तब आप उससे एक शब्द भी नहीं कहते! जिसको 'भाव' कहते हैं, वही क्या यह अवस्था है? जिस अवस्था में श्रीगौरांग (चैतन्य) सदा रहते थे, उस भावावस्था का मर्म किसको मालूम हो सकता है?

गिरीश का मकान जिस गली में था, उस गली के सामने वे आकर पहुंच गये। शिष्य गण पीछे आ रहे थे, परन्तु नरेन्द्र महाराज के साथ ही था। उस समय आप नरेन्द्र से बात-चीत करने लगे। वे बोले, 'क्यों बाबा! अच्छा है न? अब तक मैं तुमसे बोलने का नहीं था!' उनके मुख से निकले हुए प्रत्येक शब्द कारुण्यपूर्ण थे।

अभी वे दरवाजे तक नहीं पहुंचे थे, कि बीच ही में रुक गये। नरेन्द्र की ओर देख कर वे बोले 'एक ही शब्द; यह एक (देहों, जीव?) और वह दूसरा (जगत्?)।

क्या वे जीव और जगत् का स्वरूप देख रहे थे? वैसा ही होगा, परन्तु किस भाव से भला? क्या कहें! उनका उन्हींको मालूम! स्तब्धपन से देख रहे थे। देववाक्य की तरह—देववाणी के समान—उनके मुख से एक दो शब्दमात्र बाहर निकले!

अथवा, जैसे कोई अनन्त समुद्र के किनारे खडा हो और निःशब्दपन से उसके अमर्याद विस्तार को देखता हो; कि इतने ही में उसकी तरंगमाला से उद्भव होनेवाले अनाहत शब्द की एक दो प्रतिध्वनिमात्र, उसके कान में आकर गुंजार करे, वैसा ही क्या यहां हुआ?

बिन्दु ५३।

ईश्वरी अवतार।

दरवाजे पर गिरीश खडा था। महाराज को लेने के लिये वह सामने आया। शिष्यगणों सह महाराज आकर पहुंच गये! उनका पवित्र दर्शन करके उनके चरणों में वह दंडवत् पड गया। उस समय का दृश्य बहुत ही आनन्द-जनक था। उसको देखकर शिष्यगणों को बहुत कौतुक मालूम हुआ।

महाराज की आज्ञा पाकर गिरीश उठा और उनके चरणों की रज लेकर मस्तक पर धारण की तथा तमाम अंग में लगाई। तत्पश्चात् महाराज को अटारी पर, दीवानखाने में, लिवा ले गया। वहां पर सब आदमी बैठ गये। बहुत आदमियों के होने से वहां पर जगह की संकेती हुई। प्रत्येक की यही इच्छा थी, कि हम

महाराज के निकट जाकर बैठें। सब लोग उनके मुख से निकलने-वाले चिरजीवनदायी वाक्सुधा को पान करने के लिये एकदम उत्कंठित हो रहे थे।

महाराज जहां पर बैठने को थे, वहां पर एक समाचारपत्र (अखबार) पड़ा था। समाचारपत्र में क्या होगा? विषयी (संसारी) लोगों की बातें! विषय, कथा, पर-चर्चा और पर-निन्दा, इसी प्रकार की बातें उसमें भरी हुई हैं। अतएव उनकी दृष्टि से यह अपवित्र है। महाराज ने उसे उठाकर अलग कर दिया और फिर वे नीचे बैठ गये। नित्य गोपाल ने महाराज को प्रणाम् किया।

श्रीरामकृष्ण और समाचारपत्र।

महाराज (नित्य से):—यहां कहां?

नित्यः—हाँ महाराज! मैं दक्षिणेश्वर में आ न सका था, क्योंकि प्रकृति बराबर नहीं थी—तमाम शरीर में पीड़ा होती थी!

महाराजः—अब तबियत कैसी है, अच्छी है न?

नित्यः—अभी पूर्णतया प्रकृति ठीक नहीं है।

महाराजः—अभी जोर से न गाया करो—दीप न छोड़ा करो—यही अच्छा!

नित्यः—मंडली जैसी चाहिये, वैसी नहीं है। यह मण्डली मेरे सम्बन्ध में मनमाना बोलती है; अतएव उसका बोलना मुझे अच्छा नहीं लगता, भय मालूम होता है। कभी मन निर्भय हो जाता है और उसे अन्तःशक्ति का—आत्मशक्ति का—बहुत धैर्य मालूम होता है।

महाराज—ऐसा होना तो साधारण है; भला तेरे साथ सदा कौन रहता है?

नित्यः—तारक। परन्तु उसकी संगति भी कभी कभी हमको अच्छी नहीं लगती।

महाराज —नागगा* कहता था, कि हमारे मन्दिर में एक सिद्ध पुरुष था, वह सदा आकाश की ओर नेत्र करके चलता था! उसका गणेशगर्जी नामक एक मित्र था। वह एक दिन उसको छोड कर कहीं चला गया, तब उसको (उस सिद्ध पुरुष को) इतना दु:ख हुआ, कि मारे दु:ख के वह विचार शून्य हो गया—वह बिलकुल अधीर हो गया!!

इतने ही में महाराज की वृत्ति बदली, क्षणभर के लिये वे नि:शब्द हुए। कुछ देर में भान पर आकर वे बोले, 'भाई क्या? मैं भी तो यहां पर हो हूं!' इन शब्दों का अर्थ भला कौन समझ सकता है? क्या यही देव नापा है?

इस समय अनेक शिष्य आगये थे, सब महाराज के बिलकुल निकट ही बठे थे। नरेंद्र, गिरिश, राम, हरिपद, चुना, बलराम और एम आदि अनेक शिष्य थे।

मनुष्य का शरीर धारण कर परमेश्वर अवतरित होता है, इस विषय पर नरेंद्र का बिलकुल विश्वास नहीं है। और इसके विरुद्ध गिरीश की ऐसी श्रद्धा है, कि प्रत्येक युग में वह अवतार लेता है तथा मानव देह धारण करके इस मृत्युलोक में आता है। इस तत्व के सम्बन्ध में दोनों आदमी हमारे सामने विवाद करें, ऐसी महाराज की इच्छा हुई!

श्रीरामकृष्ण (गिरीश से) —तुम दोनों आदमी इस अवतार सम्बंध के लिये अंग्रेजी में विवाद करो, हम सुनना चाहते हैं। (सब हसते हैं।)

शास्त्रार्थ शुरू हुआ। परन्तु अंग्रेजी में नहीं—बंगला में। बीच बीच में कोई कोई शब्द अंग्रेजी का भी निकल आता है। नरेन्द्र बोला, ईश्वर अनन्त है। हमारी तुच्छातितुच्छ बुद्धि को उसकी

* नागगा नाम का एक संन्यासी तोतापुरी में रहता था। इस सन्यासी के पास महाराज एक वर्ष तक वेदान्तशिक्षा ग्रहण करते रहे।

धारणा नहीं हो सकती। वह सब मनुष्यों में निवास करता है—एक विशिष्ट व्यक्ति के रूप में अवतार लेकर ही रहता है, ऐसा कुछ नहीं।

महाराज (सप्रेम):—ठीक है। इसका जो कहना है, वही मेरा कहना है। वह सर्वत्र है, प्रत्येक वस्तु में है, प्रत्येक मनुष्य में है; परन्तु इसमें थोड़ा भेद है। सब मनुष्य में व्यक्त हुई ईश्वरी शक्ति एक समान नहीं है। कुछ आदमियों में उसकी अविद्या-शक्ति प्रकाशित है और कुछ में विद्या-शक्ति। अच्छा, कुछ पात्रों में उसकी शक्ति विशेष है और कुछ में कम। अतएव सब आदमी एक समान नहीं हैं।

राम:—इन व्यर्थ बातों में क्या अर्थ रक्खा है?

महाराज (दुखित होकर):—नहीं नहीं, इसमें बड़ा गूढार्थ है।

गिरीश (नरेन्द्र से):—ईश्वर देह धारण करके नहीं अवतरित होता, यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ?

नरेन्द्र:—यह अवाङ्मान सगोचर है!

महाराज:—यह बिलकुल सत्य; सोपाधिक व शान्त मन को वह नहीं गोचर होता; परन्तु साधना के दरवाजे पर मन का विषयकलंक मिट जाने से—धो जाने से—जब वह शुद्ध हुआ, कि उसको (मन को) उसका (ईश्वर का) साक्षात्कार होता है। फिर उस मन को शुद्ध बुद्धि का स्वरूप प्राप्त होता है; और शुद्ध बुद्धि व शुद्धात्मा, ये एक ही हैं। ऋषियों ने निरुपाधिक और शुद्ध स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार अनुभव शुद्ध बुद्धि-द्वारा किया है।

गिरीश (नरेन्द्र से):—क्या यह तुम नहीं समझते हो कि ईश्वर यदि मनुष्यरूप से अवतरित न हो तो जगत् के गूढ तत्वों का पृथक् पृथक् वर्णन करके स्पष्ट करनेवाला कोई नहीं है? ज्ञान और भक्ति का, लोगों में, उपदेश करने के लिये ईश्वर देह

धारण करके, यहां, अवतरित होता है। यदि वह न अवतरित हो तो मनुष्यों को मार्ग दिखलाने वाला कौन है?

नरेंद्र:—क्यों? अन्तःकरण द्वारा ही वह ज्ञान देगा—प्रेरणा करेगा!

महाराज (सप्रेम):—हाँ-हाँ! अन्तर्यामी परमात्मा इस रूप से भी ज्ञान-मार्ग दिखलावेगा।

इस प्रकार वाद-विवाद खूब रंग में आया। उत्तरोत्तर उसका स्वरूप इतना गूढ हो गया कि सामान्य पुरुषों को उसका समझना कठिन हो गया। 'अनन्त' क्या विभाज है? उसका अंश किस प्रकार हो सकता है? मानवी ज्ञान-मर्यादा के सम्बन्ध में हॅमिल्टन क्या कहता है?

हर्बर्ट स्पेंसर क्या कहता है? टिंडाल किंवा हक्सले क्या कहते हैं? इत्यादि इत्यादि बातों पर विवाद हुआ।

महाराज (प्रेम से):—इधर देख, हमें तुम्हारी यह बात अच्छी नहीं लगती। ईश्वर, तर्क-शक्ति के उस ओर है। कितनी ही तर्क-शक्ति का क्यों न प्रयोग किया जाय; परन्तु उसको—केवल तर्क-शक्ति का ही प्रयोग करनेवाले को—उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इतना ही नहीं; किन्तु मुझे वह सर्वत्र दीख पड़ता है। जो जो कुछ दीख पड़ता है, वह वह सब ईश्वर-स्वरूप ही दीख पड़ता है। फिर उसके सम्बन्ध में विवाद करने में क्या अर्थ? यह मैं प्रत्यक्ष दीखता हूं कि सब पदार्थ तद्रूप ही हैं।

रामानुज और विशिष्टाद्वैतवाद।

वही सब में दृग्गोचर होता है; संसार के सब पदार्थों के रूप में वही विराजमान है, यहां भी वही है और वहां भी—जिसको ऐसा मालूम होता है, कि "वह नहीं है" उसमें भी—वही है। एक ऐसी अवस्था है कि उस अवस्था में मन और बुद्धि दोनों उस अखंड ब्रह्म में लवलीन

हो जाती हैं । नेंद्र को देख लिया कि मेरा मन अखंड में लीन हो जाता है—मेरा मन समाधि अवस्था में विश्रांति लेने लग जाता है । भला तुम्हीं कहो कि इसका कारण हम तुमसे क्या कहें ?

गिरीश (हँसते हँसते):—महाराज ! इसके सिवाय अन्य सब बातें आपको (महाराज को) मालूम हैं, ऐसा क्या आप को मालूम होता है ? (सब हँसते हैं ।)

महाराजः—ऐसी मेरी समाधि लगने पर, मेरे मुख से एक दो दोष निकले सिवाय (मेरे मुख से) और कोई शब्द ही नहीं निकलता !

वेदान्त का विवेचन श्रीस्वामी शंकराचार्य ने किया है । श्रीरामानुजाचार्य ने भी एक मत का प्रतिपादन किया है; उनका मत "विशिष्टाद्वैत" नाम से प्रसिद्ध है ।

नेंद्र (श्रीरामकृष्ण से):—विशिष्टाद्वैत किसे कहते हैं ?

महाराज (नरेंद्र से):—"विशिष्टाद्वैत" एक प्रकार का वाद है—यह रामानुज का मत है । ब्रह्म, यह जीव जगद्विशिष्ट है—जीव और जगत् को छोड़कर केवल ब्रह्म की भावना मन में नहीं हो सकती । यह तीनों मिलकर एक (ब्रह्म) हैं—एक में तीन और तीन में एक है ।

मेश्वर के नामों का उच्चार करते हैं सो इससे क्या लाभ है! घर की औरतें जब लड़ने लगती हैं तब वे "राम की शपथ" खाती हैं। यही शब्द सीख कर जिस प्रकार बच्चे उलटा-पुलटा उसका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार इनका नामोच्चारण भी है!

संसारी लोगों में—इन लोगों में जो केवल संसार में ही फँसे हुए हैं—हाथ में लिए हुए काम की दृढ़ता नहीं रहती। यश का अथवा अपयश का कुछ बहुत महत्व नहीं। पानी की जरूरत पड़ने पर यह कुआ खोदना शुरू करता है। खोदते खोदते जब चट्टान पड़ जाती है तब यह उस जगह को छोड़ देता है और दूसरी जगह प्रयत्न करता है। यहां उसे बालू पड़ जाती है—इतनी बालू पड़ जाती है कि वह उस स्थान को भी छोड़ देता है। पर पानी निकालने का तो सच्चा मार्ग यही है, कि जहां आरम्भ करो वहां खोदते चले जाओ!

जैसा बोओगे वैसा पाओगे। (रोपे बिरवा आक को, आम कहां ते होय? अथवा "धतूर के फल मीठे कैसे होंगे?")

'मैं' और 'मेरा' कहना ही अज्ञान है। विचार करने पर तुम्हें मालूम हो जायगा कि जिसे तुम 'मैं' कहते हो वह केवल आत्मा ही है। तुम कौन हो? शरीर, या अस्थि, या मांस; या और कुछ? इसकी मीमांसा करो। फिर तुम्हें स्पष्ट देख पड़ेगा कि इनमें से हम कोई भी नहीं—हम बिलकुल उपाधि-रहित हैं।

"यह सोना," "यह पीतल" आदि-भेदबुद्धि रखना अज्ञान ही है। "प्रत्येक वस्तु सोना है," अर्थात् ज्ञानमय ही है।

परमेश्वर का दर्शन हो जाने पर विवेक का काम खतम हो जाता है। कुछ ऐसे भी हैं जो परमेश्वर की प्राप्ति हो जाने पर

चाहिये, तभी कह सकते हैं कि अब वेलफल का सच्चा वजन हुआ। विचारमात्र करने से अपने ध्यान में यह आता है कि 'गूदा' यही वेलफल में सारमय है—बकला और बीय नहीं। पुनः यदि कुछ दूरदृष्टि से विचार किया जाय, तो यह ध्यान में आता है कि 'गूदा,' यह जिस वस्तु का है उसीका बकला (छिलका) और बीय भी है। वैसे ही ब्रह्म-सम्बन्ध में विचार करने से प्रथम "नेति नेति" मुख से निकलता है, अर्थात् जीव 'नेति,' जगत् 'नेति'—'जीव' ब्रह्म नहीं है, 'जगत्' ब्रह्म नहीं है। एक ब्रह्ममात्र वस्तु है, शेष सब अवस्तु। परन्तु कुछ और आगे बुद्धि को जब दौड़ाकर विचार किया जाय, तो अपने को कुछ निराला ही ध्यान में आता है। अपने को ऐसा विदित होता है, कि गूदा जिस पदार्थ का है, उसी पदार्थ का बीज और बकला (छिलका) भी है। अब जिस वस्तु पर से हम ब्रह्म को निषेधात्मक स्वरूप निश्चित करते हैं, उसी वस्तु पर से अपने को जीव और जगत् की भावना होती है। नित्य, यह जिसका स्वरूप है, उसीकी ही लीला का यह (दृश्य जग) स्वरूप है। इस पर से ब्रह्म, यह जीव जगद्विशिष्ट है, ऐसा रामानुज का कथन है। इसका नाम विशिष्टाद्वैत है।

विन्दु ५४ ।

ईश्वर-दर्शन ।

महाराज (एम् से)—हम तो उसके—ईश्वर के—दर्शन प्रत्यक्ष कर रहे हैं, फिर भला हमको विचार (विवाद) करने की क्या आवश्यकता? हमको यह प्रत्यक्ष दिख रहा है, कि यह सब (जगत्) वही (ईश्वर) है—वही (ईश्वर) अपने को जीव और जगत् के रूप से दिख रहा है। जब तक अन्तःकरण में जागृति नहीं होती, तब तक इस स्वरूप का अनुभव किसीको नहीं हो सकता। चैतन्य का साक्षात्कार होने के लिये चैतन्य (अन्तरात्मा) को ही जागृत होना चाहिये। 'नेतिनेति' ऐसा विचार कहां तक? प्रत्यक्ष वस्तु-लाभ हुआ नहीं वहां तक! 'वही यहां सब में व्याप्त है, यह मुझे प्रत्यक्ष दिख रहा है;' ऐसा केवल मुख से कहने से कुछ लाभ नहीं है—केवल कथनमात्र से कुछ अर्थ नहीं है। ईश्वरकृपा से चैतन्य-लाभ होता चाहिये। चैतन्य-लाभानन्तर समाधिलाभ होता है, कामिनी-कांचन पर से—संसार पर से—आसक्ति हट जाती है; ईश्वर-कथा-सिवाय अन्य सब विषय नीरस मालूम होने लगते हैं; विषय-कथा कानों तक पहुंची, कि कष्ट होने लगता है।

अन्तरात्मा जागृत हुआ—चैतन्य-लाभ हुआ—कि फिर परमात्मलाभ प्राप्त होने में देरी नहीं लगती। चैतन्य को ही चैतन्य का लाभ होता है।

विवाद समाप्त होने पर श्रीरामकृष्ण एम से बोले, हमने ऐसा देखा है, कि विचार-मार्ग से ईश्वर का बौधिक ज्ञान होता है वह निराला; और ध्यान से जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह निराला। जैसे इन दोनों में बहुत अन्तर है, वैसे ही विचार और ध्यान, तथा उसकी (ईश्वर की) कृपा से प्राप्त हुआ साक्षात्कार, इसमें भी बहुत भेद है। उसने (ईश्वर ने) कृपा करके ऐसा यदि अपने को प्रत्यक्ष दिखलाया, कि इसे अवतार कहते हैं—उसने यदि लीला से ही अपना मनुष्यरूप हमको प्रत्यक्ष दिखलाया—तो फिर तर्क वितर्क और वाद-विवाद से यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि "अवतार किसे कहते हैं"।

अवतार वाद साक्षात्कार।

यह कैसा, यह मैं तुझे स्पष्टरूप से बतलाता हूँ। कल्पना करो, कि एक अंधेरी कोठरी में कोई आदमी है। उसने जो दियासिलाई (दीपशलाका) को जलाया, कि एकदम उस कोठरी में स्वच्छ प्रकाश फैल गया। वैसे ही उसने (ईश्वर ने) कृपालु होकर यदि अपने को स्वच्छ ज्ञानप्रकाश दिखलाया और अज्ञानान्धकार को नष्ट किया, तो सब सन्देह एकदम दूर हो जाते हैं! ऐसा विचार (वादविवाद, तर्क वितर्क) करके क्या उसका सत्य ज्ञान हो सकता है?

अनन्तर महाराज ने नरेन्द्र को बुलाकर अपने पास बैठाया, और सप्रेम उससे कुशल प्रश्न पूँछे।

ईश्वर—सगुण और निर्गुण।

न० (महाराज से)—महाराज! जरा इधर सुनिये, मैं काली का ध्यान दो तीन दिन तक लगातार करता रहा, परन्तु मुझे तो कुछ नहीं मालूम हुआ।

महाराज.—होगा, क्रम क्रम से होगा। उतावले मत हो। माता तुम किसे समझते हो? वह कोई अन्य नहीं है—वही ब्रह्म है। वह (माता) ब्रह्म का केवल सगुणांग है। ब्रह्म वही काली।

परमात्मा—ईश्वर—निष्क्रिय है, ऐसी भावना हुई कि उसको ब्रह्म कहते हैं। अच्छा, वह जन्म, स्थिति और लय करनेवाला है, ऐसी भावना अपने हृदय में आई, कि उसको शक्ति कहते हैं।

जिनको तुम ब्रह्म कहते हो, उसीको हम काली कहते हैं।

बहुत रात्रि व्यतीत हो गई। गिरीश को नाटकगृह में जाना आवश्यक है। इसलिये उसने हरिपद से कहा, कि "भाई! कृपा करके एक गाड़ी ले आइये!" क्योंकि हमको नाटक गृह में जाना आवश्यक है।

महाराज (हरिपद से हंसते हंसते कहते हैं):—हाँ, अच्छा गाड़ी ले आ! नहीं तो भूल जायगा! (सब हंसते हैं।)

हरिपद (सस्मित):—नहीं, महाराज! देखो न, गाड़ी लाने के लिये ही तो मैं जा रहा हूँ। (सब हंसते हैं।)

गिरीश (महाराज से):—महाराज! आपके कमलस्वरूपी चरणों को छोड़ मुझे नाटक-गृह में जाना ही चाहिये, यह मेरा दुर्भाग्य! इसके सिवाय मैं इसे दूसरा और क्या कहूं।

महाराजः—इसमें कुछ नहीं! यहां और वहां दोनों ओर देखना चाहिये। देखो, जनक संसार में रहते हुये, संसार से अलिप्त रह कर, परमेश्वर की ओर अपनी लय लगा दी। उन्होंने दोनों को (इह लोक और परलोक को) साधा! दूध की कटोरी उन्होंने ली; परन्तु आत्मा की ओर दुर्लक्ष नहीं किया।

गिरीशः—अब तो हमारे मन में यह आता है, कि नाटक की व्यवस्था का काम युवकमंडली पर छोड़कर अपना छुटकारा करूं।

महाराजः—छि छि!! जो कुछ है वह अच्छा है। तुम ऐसे विचार मन में न लाओ। तुम्हारे हाथ से अनेकों का उपकार होता है।

नरेंद्र (धीरे से):—क्षणभर पहले यह कहता था, कि 'ईश्वर ऐसा कहता है, ईश्वर का अवतार होता है'! और अब उस अवतार को—उस ईश्वर सम्बन्धी विषय को—छोड़कर अपने काम के लिये नाटक-गृह में जाता है।

बिन्दु ५५।

महाराज समाधिमग्न।

नरेंद्र को अपने पास बैठा कर महाराज एकटक दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। वे नीचे को खिसक कर बिलकुल उसके पास ही जा बैठे। 'ईश्वर अवतार धारण करता है', इस बात पर नरेंद्र का बिलकुल विश्वास नहीं है। तिस पर भी महाराज का प्रेम जैसा उस पर था, वैसा ही है!

उसके शरीर पर हाथ रखकर वे बोले, तेरा अपमान हुआ यह क्या तुझे मालूम होता है? जाने दो! परन्तु हमारे मन की भी तो बिलकुल वही अवस्था हुई है। हमको तुम्हारा अपमान देखकर बहुत बुरा लगता है।

"ईश्वर स्वतः अवतार लेता है, यही सत्य है, ऐसा क्या महाराज को अन्तर्दृष्टि से दिखता है? क्या वह (परमेश्वर) हमारा पिता नहीं है? क्या वह हमारी माता नहीं है? यदि है, तो फिर भला हमारे अन्तःकरण में प्रकाश डालकर, अवतारी पुरुष के देखने की सामर्थ्य हमको वह क्यों नहीं देता? ज्ञान, यह वारसी हक से वास्तविक अपना होकर अपने को न मिला, इससे उसके (ईश्वर के) लड़कों ने यदि उक्त बात का अपने मन में विचार किया—ज्ञान हमको न मिलने से इसमें हमारा अपमान हुआ, ऐसा यदि उन्होंने विचार किया—तो भला इसमें उनका क्या दोष है? अस्तु।

महाराज (नरेंद्र से):—जब तक ईश्वर के विषय में विचार (तर्कवितर्क, वाद-विवाद) होता रहता है, तब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह निश्चय समझ। तुम दोनों विवाद कर रहे थे; यह हमको बहुत बुरा मालूम होता था।

विचार और ईश्वर-लाभ।

किसी मकान में भोजन-समारम्भ के लिये बहुत आदमी एकत्रित हुए। वहां पर गडबड़ कब तक होती रहेगा? मुख में ग्रास नहीं पड़ेगा—तब तक। प्रथम तो भोजन-परोसने पर ही बहुत शान्ति हो जाती है फिर जैसे जैसे पक्वान पर हाथ बढ़ता जाता है वैसे वैसे गड़बड़ कम होते जाती है। भोजन के अन्तिम पदार्थ के परोसने की पारी आई कि फिर बिलकुल शान्ति हो जाती है। और भोजन के बाद निद्रा।

तद्वत् ही जैसे जैसे ईश्वर के निकट तू जायगा वैसे वैसे तेरे विचार (तर्क वितर्क) कम होते जायँगे। उसकी प्राप्ति एक बार हुई—उसका प्रत्यक्ष दर्शन एक बार हुआ कि फिर निद्रा—समाधि!

इतना कह कर महाराज, नरेन्द्र के शरीर पर और मुख पर प्रेम से हाथ फिराते हुए बोले, "हरे ॐ! हरे ॐ!! हरिॐ!!!

भला, यह सब कुछ उन्होंने क्यों किया? क्या नरेंद्र के बदले साक्षात् नारायण के दर्शन उनको हुये? उसके आश्रय से आनेवाला पुरुष क्या उनको दीख पड़ता है? ऐसा कहते हैं कि "मनुष्य में ईश्वर के दर्शन होते हैं," वह यही है क्या?"

कितना आश्चर्य! देखते ही देखते महाराज की संज्ञा (भान) नष्ट हो गई। कुछ देर में बाह्यजगत् उनको बिलकुल शून्य मालूम होने लगा। ऐसा कहते हैं कि गौरांग (चैतन्य) की जो अर्ध-बाह्य दशा है, वही यह है! इतना हुआ, तोभी महाराज का हाथ नरेंद्र के शरीर पर रक्खा ही रहा। क्या इस निमित्त से

ही नरेंद्र को, नरेंद्र को ही नारायण जान कर उसकी सेवा करते हैं ? नहीं तो फिर भला उसके शरीर पर, उसके पैरों पर, वे क्यों हाथ फिराते ? या क्या उसके शरीर में शक्ति सचार करते थे?

होते होते महाराज की दशा में और भी परिवर्तन हुआ ! हाथ जोड़कर वे नरेंद्र से बोले, "एक गीत—गाना—गा, तो अच्छा हो। भला, हम कैसे उठकर खड़े हो सकते हैं? मेरा नित्य! गौरांग के प्रेम से—भक्ति से—कैसा पागल हुआ है"।

कुछ देर में वे फिर स्तब्ध हुये। मानों वे पत्थर के पुतले हो गये ! पुनः वे भावोन्मत्त में ही बोले—

'हाँ, कृष्ण-प्रेमोन्मादिनी राधे! अपने को सभाल! नहीं तो इस यमुना में गिरेगी।

पुनः वे समाधि-मग्न हुये ! कुछ देर में किसी भाव में आकर वे गाने लगे।

गाना समाप्त होने पर सब जगत् उनको शून्य हुआ ! किसी प्रकार भी उनको होश नहीं आया। नरेंद्र उनके आगे बैठा था; परन्तु वह भी उनको नहीं दीख पड़ता है ! हम कब से, और कहां, बैठे हैं, यह भी उनको विस्मरण हो गया है। मन, अन्त करण, प्राण और सब कुछ ईश्वर में लीन था !

इतने ही में उठकर वे गाने लगे—

फिर वे नीचे बैठ गये और बोले, "यह इधर से प्रकाश आ रहा है, ऐसा दीख पड़ता है, परन्तु यह प्रकाश कहां से आता है, यह कुछ मालूम नहीं होता। इतने ही में नरेंद्र गाने लगा।

गाना सुनते सुनते पुनः महाराज बहिर्जगत् शून्य हुये। नेत्र अधर्मुंदे हुये ! देह स्तब्ध हो गई ! शरीर की बाहरी हलचल एकदम बन्द हो गई ! गहरी समाधि में उन्होंने गोता लगाया!

कुछ देर में, समाधि भग होने पर, वे बोले, अच्छा, हमको घर (अर्थात् मन्दिर) में कौन लिवा ले जायगा ?

जैसे कोई छोटा बालक अकेले हो, उसके आगे-पीछे कोई न हो, ऐसो दशा में जब उसको चारो ओर शून्य—अन्धकार—दीख पड़ने लगता है, तब वह बालक इसलिये बड़ी आतुरता से चारों ओर देखने लगता है, कि कोई हमारा साथी हमको मिले और वह हमको हमारे घर भेज आवे; वैसी ही इस समय महाराज की दशा हो गई!

रात्रि बहुत बीत गई थी(उस दिवस फाल्गुण कृष्णदशमी थी—अर्थात् अन्धेरी रात्रि थी) अतएव महाराज दक्षिणेश्वर के मन्दिर में जाने के लिये तयार हुये। वे गाड़ी में बैठे। उनको पहुँचाने के लिये उनके शिष्यगण गाड़ी के दोनों ओर खड़े थे। महाराज की हरि-रस मदिरा का नशा अभी तक बिलकुल नहीं उतरा था।

गाड़ी चल दी। शिष्यगण कुछ देर तक उस ओर देखते रहे, अनन्तर सब शिष्य भी अपने अपने घर को चले गये।

बिन्दु ५६।

ईश्वर साकार है या निराकार?

आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, तारीख २२ अक्टूबर सन् १८८५ ईसवी, गुरुवार के दिन दुर्गापूजा का महोत्सव समाप्त हो गया था। श्रीरामकृष्ण आज कल कलकत्ते के श्यामपूरकर नामक मुहल्ले में शिष्यों सह रहते हैं। प्रकृति बराबर नहीं है। गले में व्रण सरीखा कोई भयंकर रोग हुआ है। डा० सरकार तथा अन्य अनेक वैद्य लोग आपका औषधोपचार कर रहे हैं। उक्त कथित दिवस को डा० सरकार, गिरीश (घोष), ईशान (मुखोपाध्याय), एम तथा अन्य दूसरे शिष्य और भक्त लोग वहां पर थे।

श्रीरामकृष्ण स्मितपूर्वक प्रत्येक से भाषण करते थे। ईशान, गिरीश और डाक्टर भी धीरे धीरे बात चीत करते थे।

डाक्टर:—ईश्वरलीला का ज्ञान हुआ, कि मनुष्य अवाक् हो जाता है, उसकी वाणी रुक जाती है, उसके नेत्र बन्द हो जाते हैं और अश्रुधारा बहने लगती है ! भक्ति का प्रारंभ यहीं से होता है।

श्रीरामकृष्णः—भक्ति, स्त्री होने के कारण अंतःपुर में प्रवेश करती है; परन्तु (तर्कसिद्ध) ज्ञान वहां के लिये असमर्थ है। उसका प्रवेश दीवानखाने तक, किंवा दरवाजे तक—जहां पर पुरुष बैठते उठते हैं, उस जगह तक—होता है, आगे नहीं। इसके पेर अन्तःपुर में जाने के लिये किसी प्रकार आगे नहीं पड सकते !

डाक्टर:—यह सत्य है; परन्तु बदचलन स्त्रियों को—वेश्याओं को— अन्तःपुर में नहीं जाने देते; अतएव ज्ञान की आवश्यकता है। "मेरी ईश्वर पर निष्ठा है," केवल इतना ही कहनेवाले किसी अज्ञ पुरुष को अन्तःपुर में आने देना अच्छा नहीं।

श्रीरामकृष्णः—यदि किसी मनुष्य की ईश्वर पर भक्ति हुई और उसका अन्तःकरण ईश्वर लाभ के लिये तडफड़ाने लगा, तो उस मनुष्य को भक्ति के बल पर—केवल भक्ति ही के बल पर—ईश्वर-लाभ हुये बिना नहीं रहेगा। फिर चाहे उसको सत्य मार्ग मालूम हो अथवा न हो; उसको ज्ञान हो अथवा न हो। ऐसी दशा में—अनन्य भक्ति उत्पन्न होने की दशा में—ईश्वर की ओर जाने के लिये यदि वह मार्ग भी भूल गया, तोभी ईश्वर उसका हाथ पकड़ कर अपने पास खींच लेता है। एकमात्र ईश्वर-लाभ के लिये उसके अन्तःकरण में व्याकुलता होनी चाहिये—अधीरता आनी चाहिये।

एक भक्त जगन्नाथजी के दर्शन करने के लिये घर से चला, परन्तु उसे जगन्नाथपुरी का रास्ता बिलकुल मालूम न था। इसलिये वह दक्षिण का रास्ता छोड़कर पश्चिम की ओर चल दिया। जगन्नाथजी के दर्शन के लिये उसके हृदय में व्याकुलता

पैदा हुई। अन्त में उसने लोगों से पूछा, कि "जगन्नाथपुरी के लिये हमको किस रास्ते से जाना चाहिये"? उन्होंने उत्तर दिया, कि 'यह रास्ता नहीं है, उस रास्ते से जा; दक्षिण की ओर जा, तूने भूल से दूसरा ही रास्ता पकड़ लिया है।'

डाक्टरः—अज्ञान के कारण ही—रास्ता न मालूम होने के कारण ही—यह रास्ता भूल गया था!

महाराजः—लोगों को अपनी पुस्तकी-विद्या के ज्ञान का बहुत घमंड रहता है। और इस घमंड के कारण ही वे अन्य सीधे-सादे पुरुषों के नाम रखते हैं। परन्तु सच्ची भक्ति की भावना ऐसी होती है, कि भक्तवत्सल परमात्मा अपने भक्त की सहायता के लिये सदा तयार रहता है। सच्चा भक्त यदि भूल से दूसरे रास्ते पर जा रहा है तो, कुछ हरज नहीं, जाने दो। उसकी (भक्त की) उसको (ईश्वर को) आप ही चिन्ता है। क्योंकि 'उसको क्या चाहिये,' यह जिस परम पिता परमात्मा को अच्छी तरह मालूम है, वही अन्त में उसकी इच्छा पूर्ण करता है।

इतने ही में किसीने ऐसा प्रश्न किया कि ईश्वर साकार है या निराकार?

श्रीरामकृष्णः—वह साकार भी है और निराकार भी। एक बार एक सन्यासी जगन्नाथजी के दर्शन के लिये पुरी (जगन्नाथ पुरी) को गया। ईश्वर साकार है या निराकार? यह प्रश्न उसके शिर में उस समय खेल रहा था। उसने यह निश्चय किया, कि जगन्नाथजी के दर्शन होने के बाद हमारी इस शंका का समाधान हो जायगा। उसके हाथ में दंड था। जब वह जगन्नाथजी के दर्शन कर चुका तब उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि यह दंड महाराज (जगन्नाथजी) के शरीर में लगेगा या नहीं, ऐसा विचार कर उसने अपना दंड जगन्नाथजी की मूर्ति के शरीर में दाहिनी ओर से बाईं ओर (यानी

भी विवेक की कमर पकड़े रहते हैं। और कुछ ऐसे भी हैं जो भक्तिपूर्वक परमेश्वर का नाम माहात्म्य गाते रहते हैं।

बच्चा कब तक रोता है ? तभी तक तो, जब तक कि उसे स्तनपान नहीं मिलता। स्तनपान करने लगते ही उसका रोना बन्द हो जाता है। फिर उसके पास आनन्द छोड़ कर और कुछ नहीं रहता, वह आनन्द से स्तनपान करने लगता है। स्तनपान करते समय वह खेलता रहता है और एक ओर फिर हँसते रहता है। पर यह सब वही (ईश्वर ही) हो गया है। मनुष्यों में वह सुव्यक्त रहता है। बालक की तरह जहाँ मन ऋजु है, बच्चे की तरह जहां सरलता, निष्कपटता है, लड़के की तरह जहां निश्चिन्तता से हसना, चिल्लाना, नाचना कूदना, गाना आदि हो रहे हैं, जहां दैवी सम्पत्ति का सञ्चय हुआ है—वहां उसका अस्तित्व है।

बिन्दु ४।

दो दिन के बाद सुबह, आठ बजने पर "एम" फिर दर्शन को आया। महाराज की श्मश्रुविधि हो रही थी। जाड़े की ठढक अभी नहीं गई थी। उनके शरीर पर मुलायम शाल पड़ी थी, उसके किनारे सुर्ख अलवानी कपड़ा लगाकर सिले हुए थे। एम को देख कर महाराज बोले—"अरे! तू आ गया, अच्छा, यहां बैठ जा।"

उनकी कोठरी के दक्षिण ओर के बरामदे में हमारी यह भेंट हुई। ये नाई के आगे बैठे थे और वह उनके पैरों को दाबता था। उपर्युक्त शाल शरीर पर पड़ी थी। एक ओर नाई अपना काम कर रहा था और एक ओर ये एम के साथ बात चीत करते थे। ये हमेशा की तरह हास्यमुख थे। बात-चीत करने में ये बीच बीच में कुछ ठहरते जाते थे।

चारो ओर) फिराया; परन्तु उसको कुछ नहीं मालूम हुआ। तब उसने ऐसा निश्चय किया, कि ईश्वर निराकार है। परन्तु जब वह बाईं ओर से दाहिनी ओर को दंड फिराया और जब उसे जगन्नाथजी के शरीर का स्पर्श हुआ, तब उस सन्यासी ने ऐसा निश्चय किया, कि ईश्वर साकार और निराकार दोनों है। परन्तु इस बात का विश्वास होना कठिन है, क्योंकि जो निराकार है, वह साकार कैसे हो सकता है, यह सन्देह साधारण ही उत्पन्न होता है।

डाक्टरः—उसने आकार (आकारात्मक सृष्टि) उत्पन्न किया है; इसलिये वह साकार है। अच्छा, उसने मन उत्पन्न किया है; इसलिये वह निराकार है।

महाराजः—जब तक मनुष्य को साक्षात्कार नहीं होता, तब तक यह बात उसे नहीं मालम हो सकती, कि वह भक्त के लिये नाना भावनाओं से और नाना रूपों से व्यक्त होता है।

एक रंगरेज था। उसने कपड़े रंगने की अपनी एक ही पद्धति रक्खी थी। बहुत आदमी उसके पास कपड़े रंगवाने को आते थे। वह अपने ग्राहकों से पूछता था, कि आपको कौन सा रंग, अपने कपड़े में, रंगाना है? ग्राहक ने यदि कहा कि मुझे लाल रंग रंगाना है, तो वह उसका कपड़ा एक पीपे में डुबोकर उसे वापस दे देता है, और यदि कोई दूसरा ग्राहक कहता है कि हमें पीला रंग रंगाना है तोभी वह उसके कपड़े को उसी प्रथम-वाले पीपे में डुबोकर उसे वापस दे देता है, तथा यदि कोई तीसरे ग्राहक ने नीला रंग रँगने को कहा, तब भी वह उसी पीपे में उसके भी कपड़े डुबो कर उसे वापस दे देता है। प्रत्येक ग्राहक अपने अपने मन का इच्छित रंग से रंगा हुआ कपड़ा पाकर अपने अपने घर को चले जाते हैं। उस एक ही पीपे से, वह रंगरेज, अनेक प्रकार के रंग के कपड़ा रंग देता है। तुमको अपने कपड़े पर जो रंग चाहिये—नारंगी, मोतिया,

जंगाली, वसन्ती और गुलाबी—यह रंग, उसी पीपे में आपका कपड़ा डुबो कर, आपके कपड़े पर चढ़ा देगा।"

एक मनुष्य खड़े खड़े यह चमत्कार देखता रहा। उसको इस चमत्कारिक कृत्य से बहुत आश्चर्य मालूम हुआ। वह उस रंगरेज के पास आकर बोला, भाई! मुझे अमुक ही रंग पसन्द है, ऐसा कुछ नहीं; अतएव मैं केवल आपको ही इच्छा पर रखता हूं। आपको जो रंग पसन्द हो, वही रंग रंग दीजिये, अर्थात्! हमें तो वही रंग चाहिये, जिस रंग से आप रंगे हो। (सब हँसते हैं।)

मन की इच्छानुसार ईश्वर साकार या निराकार बनता है। उसके जो रूप व्यक्त हैं, वे उसकी पूर्ति के लिये सापेक्षता से सत्य हैं। यानी वे निराली निराली दृष्टि के मनुष्यों की दृष्टि से सत्य ही हैं। परन्तु पहली बात यह है कि वे मनुष्य मर्यादित और उपाधिबद्ध हैं, और दूसरी बात यह, कि उनके चारो ओर की स्थिति निराली रहती है; उसीका ही यह परिणाम होता है। मैं किस रंग से रंगा हूं—मेरे ऊपर कौन सा रंग चढ़ा है—इसका सच्चा रहस्य केवल उस रंगनेवाले (रंगरेज) को ही मालूम रहता है। वह किसी उपाधि से—आकार या निराकार, देखो किसी भी उपाधि से—बद्ध नहीं है।

एक बार एक मनुष्य अपने किसी मित्र से बोला, कि भाई! मैं बाहर गया था, वहां पर हमने एक वृक्ष के नीचे एक लाल रंग का प्राणी देखा। इस पर उसके मित्र ने कहा, कि हाँ भाई, हमने भी तो उस प्राणी को देखा है। तू कहता है कि वह लाल रंग का है; परन्तु मैंने तो उसे हरे रंग का देखा है। उसी समय एक तीसरा मनुष्य बोल उठा, नहीं नहीं, मैंने भी तो उस प्राणी को देखा है; परन्तु हमें तो वह पीले रंग का देख पड़ा है। इनके सिवाय और भी कुछ आदमियों ने, जो वहां पर एकत्रित थे, अपना अपना देखा हुआ रंग वर्णन किया। कोई

कहता है, कि उसका रंग नारंगी के रंग का है, तो कोई कहता है कि नहीं उसका रंग नीला आकाश के रंग का है। इसी प्रकार अपने अपने रंग का अनुभव सब ने बताया; परन्तु किसीका भी रंग किसीके भी रंग से नहीं मिला। परिणाम यह हुआ, कि उन सबों में वाद विवाद शुरू हो गया, और उस वाद-विवाद का रंग इतना चढा, कि मार-पीट का समय आ गया। इतने ही में वहां पर एक और अपरिचित पुरुष आ पहुँचा। वह, उन सबों का वाद-विवाद सुनकर, कहने लगा, कि भाई! तुम सब आपस में क्यों झगड़ते हो? मैं तुम लोगों को शान्त करने के लिये उसका असली रूप बताता हूं। मैं उसी वृक्ष के नीचे रहता हूं, इससे मैं उसको—उसके रंग को—अच्छी तरह जानता हूं। तुम सब लोगों का कथन सत्य है। जिस प्राणी के विषय में अभी तुम बात-चीत कर रहे थे, उसका नाम 'सरडा' है। वह क्षण क्षण में अपना रूप बदलता रहता है। कभी वह लाल दिखता है तो कभी हरा; और कभी पीला दीख पड़ा तो कभी नीला! इसी प्रकार वह नाना रूप धारण करता रहता है, और कभी कभी तो उसका कोई रंग ही नहीं रहता।

सर्वसंग परित्याग कर जो ईश्वर-चिन्तन करने लगा—संसार-वत् वृक्ष के नीचे बैठ कर जो साक्षीत्व से देखने लगा—वह समझता है कि ईश्वर कैसा है। भगवान् भक्त के लिये नाना रूपों से व्यक्त होता है, यह उसको मालूम है। 'सरडा' प्राणी की तरह वह कभी लाल, तो कभी काला और कभी पीला तो कभी नीला, आदि अनेक प्रकार के रंग बदलता है। और कभी कभी तो उसका कोई रंग ही नहीं रहता। वह सर्व-शक्तिमान् है; वह उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है। उसमें ऐसे गुण हैं कि जिनको देखकर आश्चर्यचकित रहना पड़ता है। परन्तु यह सब उसके सगुण रूप हैं। इन रूपों से वह

मनुष्य को प्राप्त होता है। जैसे वह सगुण है, वैसे ही वह निर्गुण भी है। जिस तरह वेरगी 'सरडा' प्राणी के स्वरूप-सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते बनता, उसी प्रकार उसके(ईश्वर के) सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कह सकते।

जो तू कहता है वह सत्य। वह साकार भी है और निराकार भी। उदाहरण के लिये समुद्र की कल्पना करो, क्योंकि वह भी अनन्त है। जिस समय बहुत ठढ पडती है उस समय समुद्र के पृष्ठ भाग के पानी की बरफ बनती है। फिर उस बरफ के, निराली निराली जगहों में, निराले निराले प्रकार के आकार बनते हैं। जब सूर्योदय हुआ और उसकी प्रखर किरणें बरफ पर पड़ीं, कि ये सब आकार पानी हो जाते हैं।

ईश्वर यही अनन्त सागर है, और उसकी भक्ति, यही ठढी है। जिस तरह बहुत ठढी से समुद्र का जल जगह जगह बरफ बन अनेक प्रकार के आकार धारण करता है, उसी तरह भक्तिरूपी कड़क ठढी के पड़ने से ईश्वर नाना रूपों से भक्तों को दर्शन देता है। सूर्य की किरणों से जिस प्रकार बरफ के आकार नष्ट हो जाते हैं और वह पानी हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञान सूर्य का उदय होने पर उसके निराले निराले रूप, भक्त के लिये उसने जो धारण किये हैं वे, नष्ट हो जाते हैं, और वह समाधि में निर्गुण तथा निराकार रूप से प्रतीत होने लगता है।

डाक्टरः—सूर्य ऊपर आया, कि बरफ पानी बनती है। यही नहीं, किन्तु उस पानी की अदृश्य भाफ बनती है। यह भौतिक शास्त्रों से अपने को मालूम ही है।

महाराज—इस दृष्टांत का अर्थ ऐसा है कि मनुष्य सदसद विवेक करते करते 'ब्रह्म सत्य, जगन्मिथ्या' इस सिद्धान्त पर आकर रुकता है। 'जगत्' इस शब्द में नाम रूपात्मक वस्तुओं का—चिज्जडात्मक सब वस्तुओं का—अन्तर्भाव होता है, यह वेदान्त

का सिद्धान्त है। विचार करते करते समाधि अवस्था प्राप्त हुई कि रूप-ऊप सब उड़ जाते हैं। फिर उस समय वह ज्ञानी ऐसा कहता है कि ईश्वर व्यक्त नहीं है। सगुण नहीं है। क्योंकि उसको सगुण कहा कि वह मर्यादित हो जाता है। ब्रह्म-सम्बन्ध में मुख से कुछ भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि समाधि में जाने से जो यह सोपाधिक 'मैं' है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिये ब्रह्म का वर्णन करने के लिये कोई रह ही नहीं जाता। ब्रह्म का वर्णन करनेवाला जो 'मैं' है वही जब उस जगह पर नहीं मिलता, तब फिर ब्रह्म का वर्णन कैसे हो सकता है, इस दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। ज्ञानरूप होने पर ही उसका अनुभव हो सकता है। मन और बुद्धि के द्वारा उसका आकलन कभी भी नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा कहते हैं कि वह अज्ञात और अज्ञेय है।

इसीलिये ऐसा कहा है कि भक्ति शीतल चन्द्रमा के समान है, और ज्ञान प्रखर सूर्य के समान। हमने ऐसा सुना है, कि उत्तर दिशा की बहुत दूरी पर और दक्षिण दिशा की बहुत दूरी पर समुद्र है। वहां इतनी ठंड होती है कि वहां का पानी जम कर बरफ बन जाता है। इसलिये वहां जहाज़ नहीं जा सकते। यदि जहाज वहां गये भी तो अटक कर रुक जाते हैं।

डाक्टरः—महाराज! इस पर से क्या यह निश्चय नहीं होता कि भक्ति यदि विचार-शून्य हुई तो मनुष्य की गति भी ऐसी ही कुंठित होती है।

महाराजः—इस उदाहरण के अनुसन्धान से यदि आगे विचार किया गया, तो उसकी गति कुंठित होती है, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु सत्यरूप से देखा जाय तो उसकी गति रुकती ही नहीं। निराले निराले आकार की बरफ जिस तरह से जल का भिन्न रूप है, उसी प्रकार भक्त के लिये धारण किये हुये अनेक रूप हैं। ये भी सच्चिदानन्द-रूपी-सागर के जल के ही केवल भिन्न रूप हैं। उसको (भक्त को) दूसरा कुछ भी नहीं

देख पड़ता—एक ईश्वरमात्र दृग्गोचर होता है । समाधि में ईश्वर के जिस स्वरूप का अनुभव होता है, उसी स्वरूप का वह (भक्त) केवल भक्ति में अनुभव करता है । तुझे यदि ज्ञान-मार्ग विशेष पसंद है, तो 'ब्रह्म सत्य और जगन्मिथ्या' यह विचार तू कर । ऐसा करने से समाधि की प्राप्ति होकर तुझको उसका अनुभव आयेगा । ज्ञान-सूर्य की प्रखर किरणों से नाना आकार धारण करनेवाली बरफ के समान रूप पिघल कर अनन्त और अमर्यादित सच्चिदानन्द-समुद्र में मिल जायंगे और वहां पर तू सामरस्य पावेगा ।

बिन्दु ५७ ।

इन्द्रिय-संयम का उपाय ।

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से):—निम्न लिखित मनुष्यों से (ईश्वर का) साधन नहीं होता:—(१) जिनको विद्या का—पांडित्य का—अहंकार रहता है, (२) जिनको द्रव्य का अहंकार रहता है, उनको ज्ञान-प्राप्ति कभी नहीं होती । इन लोगों से यदि किसीने ऐसा कहा, कि "अमुक मन्दिर में कोई बहुत पहुंचे हुये महात्मा आये हैं, क्या उनके दर्शनों के लिये आते हो ? तो ये उसको सत्रह बहाना बता देंगे; परन्तु वहां नहीं जायंगे ! ये मन ही मन ऐसा विचार करते हैं, कि हम बड़े आदमी हैं, हम भला कैसे उसके दर्शन को जा सकते हैं । तमोगुण के पेट से—अज्ञान के पेट से—अहंकार का जन्म होता है ।

* * * *

कामक्रोधादि विकारों का दमन कैसे करना चाहिये ? पाथूरे घाट (कलकत्ता के एक स्थान का नाम है) पर गिरीश ने कहा,

लिया है. उनकी स्थिति बिलकुल निराली रहती है. वे कभी खड्डे में नहीं गिर सकते ।

डाक्टरः—परन्तु पिता को लड़के का हाथ पकड़ना अच्छा नहीं, ऐसा करने से लड़के के शरीर में स्वावलम्बन नहीं आता -- उसको सदा परावलम्बी ही रहना पड़ता है ।

महाराजः—जिसको ईश्वर-लाभ होता है, उसका सोपाधिक अहंकार नष्ट होजाता है । उस जगह बुद्धि किंवा निरुपाधिक अहंकारमात्र शेष रहता है । उसीसे वह अपना सांसारिक व्यवहार चलाता है । परन्तु वह अहंकार भी भगवान् में मिल जाता है—उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहता, उसकी वृत्ति बिलकुल बालक के समान हो जाती है । हम कुछ भी नहीं करते—जो कुछ करती है वह सब मेरी माता ही करती है—ऐसी उसकी भावना हो जाती है । उसका ही—माता का ही—सब सामर्थ्य है ! माता-बिना वे पंगु (लंगड़े) रहते हैं । पुत्र माता के पास हुआ कि उसमें दुगुनी शक्ति आ जाती है ।

डाक्टरः—घोड़े के नेत्रों के सामने यदि अन्धेरा न किया जाय, तो वे एक पग भी आगे बढ़नेवाले नहीं । रिपुओं (इन्द्रियों) का दमन न करने से क्या ईश्वरप्राप्ति होगी ?

महाराजः—तू जो कुछ कहता है, उसको ज्ञानमार्ग कहते हैं ।

भक्तियोग और ज्ञानयोग ।

उस मार्ग से भी ईश्वर-प्राप्ति होती है । ज्ञानी लोगों का ऐसा कथन है कि यदि ईश्वर-दर्शन करना है, तो प्रथम चित्त शुद्ध चाहिये । प्रथम ही इंद्रियजित होना चाहिये । प्रथम साधन, फिर ज्ञान ।

ईश्वर-प्राप्ति का एक और मार्ग है, जिसको भक्तियोग कहते हैं । ईश्वर के कमलस्वरूपी चरणों में एक बार भक्ति जम गई—उसके नाम-गुण-गान में एक बार आनन्द—प्रेम—मालूम हुआ—कि फिर इन्द्रियनिग्रह करने के लिये अन्य प्रयत्न की

कुछ आवश्यकता नहीं। फिर षड्रिपु आप ही वश हो जाते हैं।

यदि किसीका मन शोक-ग्रस्त हुआ तो क्या वह युद्ध करने जायगा? क्या उसकी ऐसी इच्छा होगी, कि हम अमुक भोज में भोजन करने जावें? अथवा क्या उसका मन विषय-वासनाओं की ओर जायगा? पतिंगे को एक बार दीपकज्योति देख पड़ी, कि वह फिर क्या अन्धकार में जाने की इच्छा करेगा?

डाक्टरः—छिः, नहीं करेगा! वह ज्योति की ओर ही दौड़ेगा और समय-सम्बन्ध से उसीमें जल मरेगा।

महाराजः—नहीं, ऐसा नहीं! पतिंगे की तरह भक्त की मृत्यु नहीं होती। जिस दिव्यज्योति की प्राप्ति के लिये भक्त प्रयत्न करता है, वह ज्योति उसको जला कर मार नहीं डालती। तेज-रत्न का तेज समान रहता है, उसका तेज उज्ज्वल रहता है, स्निग्ध और शीतल होता है। वह ज्योति जलाती नहीं है, किन्तु शान्ति देती है।

ज्ञान-मार्ग की कठिनता।

विचार-मार्ग से—ज्ञानयोग के मार्ग से—ईश्वर का लाभ होता है; परन्तु वह मार्ग बहुत विकट है। "मैं शरीर नहीं, मन नहीं, बुद्धि नहीं; हमको रोग नहीं, शोक नहीं, अशान्ति नहीं; मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूं, मैं सुखदुःखातीत हूं और मैं इन्द्रियों के वश नहीं हूं," इत्यादि ज्ञान की बात कहना तो बहुत साधारण है; परन्तु करना—अनुभव करना—अत्यन्त कठिन है।

चाकू किंवा और किसी अन्य शस्त्र से हाथ चिर गया है, जिससे मांस निकल आया है, धाराप्रवाह रक्त निकल रहा है; ऐसे समय में भी हमारे हाथ में कुछ नहीं हुआ है, मांस नहीं निकला है, रक्त नहीं आता है, हमको कुछ नहीं मालूम

होता, ऐसे उद्गार मुख से निकलना कोई साधारण बात नहीं है। अज्ञान ही सब दुःखों का कारण है। यही (अज्ञान) मनुष्य को ईश्वर से अलग करता है।

पांडित्य और ज्ञान। बहुतों को ऐसा मालूम होता है कि पुस्तकों का अध्ययन किये बिना (ईश्वर का) ज्ञान नहीं हो सकता; परन्तु पढ़ने की अपेक्षा श्रवण करना श्रेष्ठ है, और श्रवण की अपेक्षा दर्शन (अनुभव, साक्षात्कार) बहुत ही श्रेष्ठ है। पुस्तक पढ़ने की अपेक्षा गुरु-मुख से श्रवण किया जाय तो उसका ठप्पा मन पर बहुत अच्छा उठता है। काशी का वर्णन पढ़ने की अपेक्षा जो काशी हो आया है, उसके मुख से काशी का वर्णन श्रवण करना विशेष श्रेयस्कर है, और श्रवण करने की अपेक्षा काशी को स्वतः जाकर वह स्थान देखना सब से श्रेष्ठ है। शतरंज खेलनेवालों की अपेक्षा जो खेल के दार्शनिक हैं, उन्हें खेलने का दाँव विशेष सूझता है। हम बहुत बुद्धिमान हैं, ऐसा सांसारिक आदमियों को मालूम होता है; परन्तु वे विषयासक्त रहते हैं—धन, मान और सुख आदि में ही उनका मन लोलुप रहता है। वे स्वतः खेल में गुँथे रहने के कारण सत्य दाँव उनके ध्यान में नहीं आता है। संसार-त्यागी साधु लोग विषयानासक्त रहते हैं। शतरंज का दाँव, निकट बैठने के कारण, प्रेक्षकों के समान, उनको स्पष्ट दीख पड़ता है। संसार में फँसे हुये लोगों की अपेक्षा वे अधिक बुद्धिमान होते हैं उनकी बुद्धि बिलकुल निर्दोष रहती है। इसलिये संसारी लोगों की अपेक्षा वस्तु-स्थिति का ज्ञान उनको विशेष रहता है वे स्वतः खेल में फँसे हुये नहीं हैं, इसीलिये उनको दाँव अच्छी तरह समझ पड़ता है।

डाक्टर (एक शिष्य से):—इन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) पुस्तकें पढ़ी थीं, परन्तु उनसे इनको बहुत ज्ञान नहीं हुआ। इन

महाराज (एम से):—तेरा घर कहां है?

एमः—महाराज, मैं कलकत्ते में रहता हूं।

महाराजः—यहां (वराहनगर में) तू कहां ठहरा है?

एमः—अपनी बहन के यहां, महाराज! ईशन कविराज के घर पर।

महाराजः—ईशन के घर? हाँ, ठीक है। आज-कल केशव (केशवचन्द्रसेन) का क्या हाल है, क्या तुझे मालूम है? मैंने सुना था कि वह बीमार है।

एमः—हाँ महाराज! मैंने भी यही सुना था। अब कदाचित् वे अच्छे होंगे।

महाराज:—केशव के आराम होने के लिए मैंने माता को (काली माता को) बतासों की सिन्नी मानी है। कभी कभी रात को मैं निद्रा से एकदम जग पड़ता हूं और माता से यह विनती करने लगता हूं:—मा, कृपा करके मेरे केशव को तो अवश्य आराम कर। मेरा केशव यदि न बचा तो मा! मैं कलकत्ते जाकर बातचीत भला किससे करूंगा? अच्छा, क्या तुझे मालूम है कि आज-कल कलकत्ते में कुक नाम का कोई साहब आया है? क्या उसके व्याख्यान हो रहे हैं? उस दिन केशव मुझे एक अग्निबोट पर ले गया था, वहां वह (कुक) था।

एमः—हाँ, महाराज! मैंने भी उसके बारे में बहुत कुछ सुना है। पर उसके व्याख्यान सुनने का मुझे कभी मौका नहीं आया—अथवा उसके सम्बन्ध में मैं विशेष कुछ जानता भी नहीं हूं।

महाराजः—प्रताप का भाई यहां कुछ दिन आकर रहा था। उसने कहा कि मैं यहां रहने के लिए आया हूँ। वह कोई उद्योग नहीं करता था और उसने अपने लड़के-वाले अपने

इन्होंने फॅंडि यानी प्रकृति से (सृष्टि से) तादात्म्य किया, तब इनको शास्त्रीय तत्त्वों का पता लगा। पुस्तकी विद्या से इनको वैसा ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, जैसा कि सृष्टि निरीक्षण से हुआ। गणित की रीति, किंवा निश्चित सिद्धान्त, के रटने से मस्तिष्क शून्य पड जाता है, जिससे और कुछ समझने की शक्ति उसमें नहीं रहती। इस पुरुष (श्रीरामकृष्ण) के शरीर में इतना ज्ञान होने का कारण यही है कि इसने सृष्टि के उपर मस्तिष्क रक्खा।

श्रीरामकृष्ण(डाक्टर से) :—एक समय मैं माता से मिलने के लिये पंचवटी में मारे व्याकुलता के जमीन पर इधर-उधर लोटता फिरता था। उस समय मेरे नेत्रों में अश्रुओं की धारा बह रही थी, और मैं माता से मिलने के लिये प्रार्थना की। मैं बडी घबराहट से उससे कहता था—माता! मुझे अक्षर बक्षर नहीं समझ पडते, अब मेरे ऊपर कृपा कर, और कर्मयोगी निष्काम कर्माचरण से जो प्राप्त करते है, योगी योगसाधन से जो अनुभव करते है और ज्ञानी ज्ञान योग (विचार) से जो जानते है, वही मुझे दे। इसके सिवाय और जो जो कुछ मैं कहता था, वह सब मेरी माता ने मुझे दिया। वह हमको क्या क्या दिया, यह हम नहीं कह सकते।

अहाहा! क्या ही आनन्द की अवस्था थी! उस समय निद्रा का भान नहीं था।

ऐसा कहकर महाराज गाने लगे।

गाना समाप्त होने पर महाराज फिर कहने लगे कि मैंने किताबें विताबें तो कुछ पढ़ी नहीं! परन्तु देखो, लोग हमको कितना मानते है! इसका क्या कारण? मैं माता का नाम लेता हूँ! शम्भू मल्लिक हमारे सम्बन्ध में ऐसा कहता था कि शान्तिराम-सिंह, इधर देखिये, पास ढाल न तलवार! तो भी जिसको तिसको चित करने (हराने) के लिये तयार! (सब हँसते है।)

गिरीशचन्द्र घोष ने " बुद्धदेव-चरित्र " नामक एक नाटक लिखा था। फिर उस तरफ भाषण का प्रवाह फिरा। गिरीश घोष ने डाक्टर को अपने नाटक का खेल दिखलाया था। और वह खेल डाक्टर को बहुत अच्छा मालूम हुआ।

डाक्टर (गिरीश से):—प्रतिदिन हमको नाटक देखने को बुलाते हो, यह तुमको कुछ शोभा नहीं देता। यह अच्छा नहीं! तुम बहुत खराब आदमी हो!

श्रीरामकृष्ण (एम से):—यह क्या कहता है? हमको कुछ समझ नहीं पड़ता!

एम (सस्मित):—डाक्टर कहते हैं, कि हमको उस खेल के देखने का एकदम नशा सवार हो गया है।

विन्दु ५८।

श्रीरामकृष्ण (ईशान से):—देखो, यह डाक्टर अवतार नहीं मानता है, इसपर तुम्हारा क्या कहना है।

ईशानः—क्या कहूँ, महाराज! इस विषय पर वाद-विवाद करना हमको पसन्द नहीं है।

क्या ईश्वरमनुष्यरूप से अवतरित होता है? महाराज (अस्थिर चित्त से):—क्यों? यदि अवसर पड़ जाय, तो क्या तुमसे सत्य भी नहीं कहते बनता?

ईशान (डाक्टर से):—अहंकार हमारी श्रद्धा का नाश करता है। रामचन्द्रजी देखने-सुनने में तो हमारे-तुम्हारे समान ही एक मनुष्य थे; परन्तु असल में वे परमात्मा थे। उनके उदर में ब्रह्मांड था। आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, समुद्र, पहाड़, जीव-जन्तु और वृक्ष आदि सब कुछ उनके उदर में थे।

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से):—यह समझना बहुत कठिन है। जो अपने ही समान अनेक उपाधियों से बद्ध दीख पड़ता है, वह पुरुष (वह अवतारी पुरुष) भला शुद्ध, बुद्ध और नित्य तथा अनन्त परमात्मा कैसे हो सकता है ? जिस महात्मा को ईश्वर-लाभ हुआ है, उसको जो ब्रह्म है, वही ब्रह्माण्ड के रूप में भासमान होता है। हमको वह मनुष्य अनेक उपाधियों से युक्त जान पड़ता है; परन्तु वह वैसा नहीं है। उसको उपाधि बिलकुल नहीं है। उदाहरणार्थ उसने मनुष्यरूप धारण किया है; इसलिये हमलोग यह नहीं कह सकते कि वह मानवी शरीर से उस ओर नहीं है। वह जैसे उसमें (मनुष्य-शरीर में) रहता है, वैसे ही दूसरी ओर भी (जहां चाहे वहां) उसी समय में रहता है। जिसको साक्षात्कार हुआ है, उसको यह सब दीख पड़ता है; इस कारण उसका उस पर विश्वास रहता है। सामान्य मनुष्य की दृष्टि अदूरदर्शी होने के कारण उसको यह कुछ नहीं मालूम होता है। जिस पात्र में एक सेर दूध रह सकता है, उसमें, अनेक प्रयत्न करने पर भी, क्या चार सेर दूध रह सकता है ?

सत्य का प्रमाण; भौतिक ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान।

ईशान (डाक्टर से):—आप अवतार को क्यों नहीं मानते ? ईश्वर मनुष्यरूप से अवतरित नहीं होता है, ऐसा आपको क्यों मालूम होता है ? यही हमारा आपसे प्रश्न है। ईश्वर साकार भी है और निराकार भी, इस सम्बन्ध में अशक्य कुछ भी नहीं है, ऐसा आप कुछ समय पहले कहते थे।

श्रीरामकृष्ण (सस्मित):—बाबा इसका कारण ऐसा है, कि ईश्वर अवतार लेता है, यह बात इसके (भौतिक) शास्त्र में कहीं नहीं लिखी है। मनुष्यजाति के उद्धार करने के लिये परमेश्वर मनुष्य का रूप धारण कर इस मृत्युलोक में आता है,

यह बात यहां (भौतिक शास्त्र में) स्पष्ट शब्दों में कहीं नहीं लिखी है। इसलिये, जब इसके शास्त्र में उक्त बात कहीं लिखी ही नहीं गई है, तब भला यह उस बात को कैसे मान सकता है ? (सब हँसते हैं।)

हम एक मजे की बात कहते हैं, सुनो। एक मनुष्य था, वह एक दिन अपने मित्र के यहां गया। वहां बात-चीत करते करते वह अपने मित्र से बोला, कि क्या तुमने एक नवीन बात नहीं सुनी है ? यदि नहीं सुनी है तो सुनो—" कल हम एक रास्ते से जा रहे थे, उस रास्ते में मुकर्जी का एक मकान था, वह हमारे देखते देखते भरभरा कर गिर पड़ा और जमीन-मिन्न हो गया। तब उसके मित्र ने कहा, ऐसा कैसे ! देखो, हम समाचार-पत्र में देखते हैं। उसमें देखने से यह मालूम हो जायगा कि आपका कथन कहां तक सत्य है। उसने समाचार-पत्र को पढ़ा, परन्तु उसमें घर गिरने की बात कहीं लिखी ही न थी। तब वह अपने मित्र से नम्रता से बोला, भाई ! इस पत्र में घर गिरने के विषय में तो बिलकुल कुछ नहीं लिखा है; अतएव आपकी बात पर हमें पूर्णतया विश्वास नहीं हो सकता। उसके मित्र ने उत्तर दिया कि अरे हमने तो यह दृश्य प्रत्यक्ष अपने नेत्रों से देखा है, और तुझे हमारी बात पर विश्वास नहीं होता, यह कैसी बात ? तुझे हमारी बात पर विश्वास करना चाहिये। परन्तु तब भी उसको विश्वास नहीं हुआ ! अन्त में उसने कहा, कि इधर देखो, तुम कुछ भी कहो; परन्तु जब तक हम समाचार-पत्र (अखबार) में नहीं पढ़ेंगे, तब तक तुम्हारी बात को हम बिलकुल न मानेंगे। तुम्हीं कहो, जब समचार-पत्र में आपके कथनानुसार कुछ नहीं लिखा है तब भला तुम्हारी बात को हम सत्य कैसे मान सकते हैं ? (सब हँसते हैं।)

भौतिकशास्त्र में भौतिक बातों का ही उल्लेख रहता है, यह बात लोगों के ध्यान में बहुत कम आती है। वे सोपाधिक

वस्तुओं की चिकित्सा करते हैं; निरुपाधिक जगत् पर उनके पैर ही नहीं पड़ते, फिर वहां की विशता वे क्या बतला सकते हैं? प्राचीन काल के ऋषियों के समान जिस मनुष्य ने ईश्वर-प्राप्ति की है—अपरोक्षानुभव प्राप्त किया है—उसीको वहां का—निरुपाधिक जगत् का—सत्य ज्ञान हो सकता है। ईश्वर ऐसा-ऐसा है, यह कहने का अधिकार केवल उन्हीं महात्माओं को है।

डाक्टर का मुख एकदम बन्द हो गया, वे इसके आगे कुछ नहीं बोल सके।

गिरीश (डाक्टर से):—श्रीकृष्ण परमात्मा का अवतार थे, यह बात स्वीकार करना ही चाहिये। वे मनुष्य थे, ऐसा हम कभी नहीं कहने देंगे। तुम चाहे ऐसा कहो कि वे सैतान थे अथवा ऐसा कहो कि ईश्वर थे!

सरलता और श्रद्धा।

श्रीरामकृष्णः—बालक के समान जिसका मन सरल रहता है, सचमुच उसीको ईश्वर पर श्रद्धा होती है। विषय-बुद्धि के लिये वह बहुत दूर रहती है। विषय-बुद्धि के निकट नाना संशय खड़े रहते हैं। धन, मान और इंद्रियसुख आदि में मन की आसक्ति रहने के कारण उस मन का झुकाव नास्तिकता की ओर झुकता है। इसके सिवाय अनेक प्रकार का अहंकार—धन का अहंकार, पांडित्य का अहंकार और ज्ञान का अहंकार आदि—एक समान (सर्प के समान) फनफनाते रहता है। (शिष्यों से) परन्तु यह (डाक्टर) सरल है।

गिरीश (डाक्टर से):—दुदग्धो (अर्धे दग्ध) आदमी को कभी भी ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती, यह क्या डाक्टर साहब! आपको मालूम नहीं है?

डाक्टरः—अवश्य, मालूम तो होता है! वैसा होना—दुदग्धो (अर्धे दग्ध) आदमी को ज्ञान होना—अशक्य है।

श्रीरामकृष्णः—केशवसन कितना सरल था ! एक बार मन्दिर में (दक्षिणेश्वर में) वह गया । सन्ध्या-समय के चार बजे वह मन्दिर की धर्मशाला देखता फिरता था । बीच में वह एकदम विचारने लगा, कि इन सब साधु लोगों को और गरीब दुखों को क्या भोजन नहीं दना है ! " देरी हो गई थी । सन्ध्या समय के चार बज गय थे, उन लोगों का उस दिन का भोजन कभी ही निपट गया था, " यह बात उसके ध्यान में नहीं आई थी । उसने तो साधारण ही, छोटे बालक के समान, उक्त प्रश्न किया था । श्रद्धा और ज्ञान सम प्रमाण में रहता है । जहाँ पर श्रद्धा की न्यूनता है, वहां पर ज्ञान की भी न्यूनता होती है । जहाँ पर श्रद्धा कम है, वहां पर बहुत ज्ञान की अपेक्षा करना व्यर्थ है । जो गाय चुन चुन कर अच्छा चारा (घास वगैरः) खाती है—जो सब प्रकार का चारा (खाद्य पदार्थ) नहीं खाती है—वह दूध कम देती है । जो गाय सब प्रकार के चारा से मुख मोड़ती है वह दुधार (विशेष दूध देनेवाली) नहीं होती । परन्तु जो गाय सब कुछ खाती है—जो कुछ उसके आगे आगया वह सब खाती है (फिर चाहे वह घास हो, भूसा हो, करब हो अथवा अन्य कोई खाद्यपदार्थ हो) वह दूध भी खूब देती है । उसको यदि कोसों में भी चरने के लिये छोड़ दो, तो भी वह उसमें अपना पेट भर लेती है और दूध देने में मूसलाधार वृष्टि की समता करती है ! (सब हँसते हैं ।)

बालक के समान जहां पर विश्वास—श्रद्धा—नहीं होता, वहां पर ईश्वर प्राप्ति नहीं हो सकती । अत, ईश्वर प्राप्ति के लिये श्रद्धा, यह प्रथम सीढ़ी है । जैसे, अंगुली का संकेत करके अपने छोटे से बालक से माता कहती है कि देखो, ' यह तुम्हारा भैय्या है । ' यह सुनते ही उस बालक को विश्वास—सोला आना विश्वास—हो जाता है, कि सच मुच यह हमारा भैया (बड़ा भ्राता) है ! वहां पर फिर शंका का नाम नहीं

रहता! पुनः यदि माता ने ऐसा कहा कि "उस कोठरी में वाऊ (हौआ) है, वहां न जाना," तो फिर बच्चे को सोला आना विश्वास हो जाता है कि अवश्य वहां वाऊ है!

बालक की सी श्रद्धा जिसको होती है, उसपर—उस मनुष्य पर—ईश्वर की कृपा होती है। संसारी मनुष्य, विचार-बुद्धि-द्वारा ऐहिक हानि-लाभ पर दृष्टि देकर वस्तु का मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य की संकुचित बुद्धि को बहुत दूर का नहीं दिखता। उसको देवलोक में पैर रखने तक का अधिकार नहीं है। यदि तुम श्रद्धा का—बालक के समान श्रद्धा का—आश्रय करोगे, तो वह (श्रद्धा) तुम्हें देवलोक में ले जायगी।

डाक्टर (शिष्यगणों से):—तथापि, गाय के सामने जो कुछ आ जावे वही वह भक्षण करे, यह अच्छा नहीं। हमारे यहां एक गाय थी, उसके सामने जो कुछ रख दिया जाय, वही वह खा लेती थी। कुछ दिनों बाद मैं बीमार हो गया: क्यों हो गया, यह कुछ मेरी समझ में न आया। होते होते मुझे ऐसा मालूम हुआ, कि मेरी बीमारी का कारण यही गाय है। क्योंकि कुछ दिन पहले वह सड़ा-गला सब कुछ खाती रही थी, जिसका फल हमें भोगना पड़ा। और अखीर में हवा-पानी बदलने के लिये हमें लखनऊ जाना पड़ा। वहां हम अच्छे तो हो गये; परन्तु बारह हजार रुपये खर्च हुये! (सब लोग खो! खो! खो! करके हँसने लगे।)

किस तरह से क्या होता है, कुछ कहते नहीं बनता। पाकपाड़ा में बाबू के घर में सात महीने का एक लड़का था, उनको खाँसी की बहुत भारी बीमारी हो गई थी। हम भी उसको देखने गये थे। बहुत सोचने-विचारने पर भी बीमारी का मूल कारण नहीं समझ में आया। अन्त में यह मालूम हुआ कि औषध के लिये जिस गधी का दूध इसको दिया गया था, वह गधी एक दफे पानी में भीगी हुई मिली थी!

श्रीरामकृष्ण (सहास्य शिष्यों से)—देखो न, यह कैसा विचित्र आदमी है! मेरी गाड़ी इमली के वृक्ष के नीचे खड़ी थी; इसलिये हमें सर्दी हो गई है। डाक्टर का कहना इसी अनुसार है! (डाक्टर हँसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से):—ईश्वर-प्राप्ति हो, ऐसी जिसकी इच्छा है, उसको निरन्तर सत्संग करना चाहिये। संसारी आदमी सदा से व्याधि-ग्रस्त हैं। इस व्याधि के दूर करने के लिये साधुओं के ही विचार ग्रहण करना चाहिये। साधु जो कहते हैं, केवल उनको सुनकर ही कार्य सिद्धि नहीं हो सकती; किन्तु जैसा वे कहें वैसा करना चाहिये। औषध पेट में जाना चाहिये और कठिन पथ्य का पालन करना चाहिये।

ईश्वर-प्राप्ति का उपाय, साधुसंग और भोग-विलास का त्याग।

डाक्टरः—पथ्य तो मुख्य ही है। सच्चा गुण आने के लिये पथ्य ही उपयोगी होता है।

श्रीरामकृष्णः—जो रोगी औषध नहीं खाता है, उसकी छाती-पर सवार होकर जो वैद्य उसे औषध खिलाते हैं, वही उत्तम वैद्य हैं। (सब हँसते हैं।)

डाक्टर (सहास्य):—कुछ औषधियाँ ऐसी हैं, कि उसके सेवन में जबरदस्ती करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। फिर रोगी की छाती पर सवार होकर जबरदस्ती औषध खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। रोगी आनन्दपूर्वक औषध खाता है। उदाहरणार्थ, होमियोपाथिक की औषधों को देखिये। (सब हँसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण (सस्मित):—यह बात सत्य है; परन्तु यदि उत्तम वैद्य छाती पर सवार होकर दवा देने में जबरदस्ती की, तो इसमें रोगी को डरने की कोई बात नहीं है।

,यही उदाहरण गुरू पर भी चरितार्थ होता है। जो गुरू शिष्य को केवल,उपदेशमात्र देकर उससे छुटकारा पाना चाहता है, और फिर उसकी बिलकुल कुछ खबर लेने की इच्छा नहीं रखता, वह अधम गुरू है। शिष्य का कल्याण हो, इसलिये जो उसे उपदेश देता है, शिष्य वह उपदेश धारण कर उसी अनुसार बर्ताव करे, इसलिये उसको जो पुनः पुन मीठे शब्दों में समझाता है, वह मध्यम दर्जे का गुरू है। और कुछ भी करने पर, जब शिष्य उस ओर ध्यान नहीं देता, ऐसा जानकर जो जबरदस्ती उसको अपने उपदेश के अनुसार चलाता है, वह उत्तम गुरू है।

कामिनी और कांचन का त्याग सन्यासियों ने कहा है। सन्यासी स्त्रियों की सूरत चित्र में भी नहीं देखते। खटाई का स्मरण आते ही जब मुख से पानी छूटने लगता है, तब फिर उसके दर्श अथवा स्पर्श होने से जो दशा होती है, उसके लिये कहने की कुछ आवश्यकता ही नहीं।

सन्यास का कठोर नियम।

परन्तु यह बात तुम सरीखे संसारी आदमियों पर चरितार्थ नहीं हो सकती। वह केवल सन्यासियों पर ही चरितार्थ हो सकती है। मन ईश्वर के चरणों में अर्पण करके और अनासक्त होकर यदि तू स्त्रियों की संगति करे तो कुछ हानि नहीं। मन अनासक्त होवे और ईश्वर के चरणों में लगे, इसलिये सदा एकान्तवास का सेवन करना चाहिये। उस जगह मनुष्यों की (स्त्री किंवा पुरुष की) छाया तक न आना चाहिये। जहां तेरे सिवाय और दूसरा कोई न हो, ऐसी जगह में " हे भगवन् मुझे ज्ञान दीजिये, " ऐसी बिलकुल तड़फड़ाहट से,—व्याकुलता से—तुमको परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिये। ऐसी दशा में, एकान्त स्थान में तू कम से कम तीन दिन तक-तीन दिन भी न सही तो निदान एक दिन तक तो अवश्य रहे।

एक-दो लड़के होने पर, पति-पत्नी भाई-बहिन की तरह रहें। और इन्द्रिय-सुख को ओर मन को न चलायमान होने दें—फिर बाल-बच्चे पैदा करने का समय न आने दें। देह को सार्थक करने के लिये—मनोनिग्रह का प्रवेश अपने शरीर में सम्पादन करने के लिये—उनको रात्रिदिन ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिये।

गिरीश (डाक्टर से सास्मित):—डाक्टर साहब ! आपको यहां आये ३।४ घंटे हो गये। अब आप अपने रोगी को देखने कब जावेंगे, कुछ मालूम नहीं होता। भला ऐसा करने से—ऐसी बेफिकिरी से बैठे रहने पर—आपका धन्धा कैसे चलेगा ? सब डूब न जायगा ! (सब हँसते हैं।)

डाक्टर:—धन्धे की और रोगियों की बात लेकर तुम बैठे हो, तुमको यह नहीं मालूम होता कि तुम्हारे परमहंस हमको सब तरह से डुबायेंगे। (सब हँसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से सस्मित):—इधर देखो, कर्मनाशा नामक एक नदी है। उसमें छलांग मार कर कूदने पर विचित्र प्रसंग मालूम होता है। उसमें स्नान किये, कि कर्मनाश ! उस आदमी के हाथ से फिर कोई कर्म नहीं हो सकते। (डाक्टर और अन्य लोग हँसते हैं।)

डाक्टर (हम, गिरीश और अन्य शिष्यों से):—मित्रो ! तुम हमको अपना ही समझो। धन्धे की दृष्टि से नहीं; किन्तु किसी अन्य दृष्टि से हम तुम्हारे कोई अति घनिष्ट सम्बन्धी हैं, ऐसा समझो।

श्रीरामकृष्ण (डाक्टर से):—एक बात हम तुझसे कहते हैं, सुन। भक्ति-माला में एक अहेतुक भक्ति का पुष्प होता है। यह भक्ति पुष्प जिसके हृदय में रहता है, वह धन्य है !

अहेतुक भक्ति।

प्रल्हाद के हृदय में यही भक्ति-पुष्प का उदय हुआ था। इस

मूर्तिपूजाः—ईश्वर सगुण है या निर्गुण?

इस प्रश्न से एम फिर घबड़ा गया और बड़े विचार में पड़ा। क्या यह बात कभी सम्भव है कि जो पुरुष ईश्वर को निराकार मानता है उसे यह भी सच मालूम होता हो कि ईश्वर साकार है? अथवा जिस पुरुष का दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर साकार है उसे यह कैसे समझ पड़ेगा कि वह निराकार भी है? एक ही वस्तु में क्या दो विरुद्ध गुण किसी हालत में भी रह सकते हैं? दूध के समान सफेद पदार्थ क्या एक ही समय में काले भी हो सकते हैं! कुछ देर विचार करने के बाद एम बोला—महाराज! सगुण ईश्वर का ध्यान करने की अपेक्षा निर्गुण ईश्वर का ही करना मुझे अच्छा मालूम होता है।

महाराजः—बहुत अच्छा। उसे ऐसा मानो चाहे वैसा मानो—उसमें कुछ बड़ा भेद नहीं है। यह देख, उसे निर्गुण मानना बहुत ठीक है, परन्तु अपने मन में यह आग्रह रख कर कभी न चलना चाहिए कि हमारा ही विचार ठीक है और सब मिथ्या है। इतनी बात की खबरदारी रक्खो। ईश्वर को साकार मान कर उसकी भक्ति करना भी उतना ही ठीक है। पर इसमें कोई शक नहीं कि तेरा चाहे जैसा विश्वास हो, तथापि ईश्वरी साक्षात्कार जब तक तुझे न हो—ईश्वर, प्रत्यक्ष जब तक तुझे न दिख पड़े—तब तक उसकी कमर छोड़ना ठीक नहीं। फिर (ईश्वर-दर्शन होने पर) आप ही आप, सब खुलासा हो जायगा।

एम फिर स्तब्ध हो गया। महाराज के मुख से वह बार बार सुनता था कि ईश्वर के सम्बन्ध में दो विरुद्ध बातें सत्य हैं। ऐसी विलक्षण बात उसकी पुस्तकों में कहीं नहीं मिली थी और उसके ज्ञान का तो सारा दार-मदार पुस्तकों पर ही था। उसके अभिमान पर एक आघात यह और भी बैठा।

श्रेणी के मनुष्य ऐसा कहते हैं, कि 'हे ईश्वर! मुझे धन, मान और देह-सुख आदि इनमें से कुछ नहीं चाहिये। तेरे पादपद्म में मेरी शुद्ध भक्ति रहे, बस, यही मुझे चाहिये और ऐसी ही तू कृपा कर।

डाक्टरः—हाँ, सत्य है। काली की मूर्ति के आगे मैं लोगों को शिर नीचे किये हुये बैठा देखता हूं। परन्तु उनके अन्तःकरण में कोई न कोई कामना अवश्य रहती है—कोई नौकरी के लिये प्रार्थना करता होगा, तो कोई रोग से छुटकारा पाने की प्रार्थना करता होगा; कोई सन्तानोत्पत्ति की प्रार्थना करता होगा, तो कोई धनी होने की प्रार्थना करता होगा। इस प्रकार कोई न कोई कामना उनमें अवश्य रहती होगी।

* * * *

डाक्टर (श्रीरामकृष्ण से):—आपको ज्वर चढा है, इस लिये आप चुपचाप पडे रहिये—किसीसे मत बोलिये! बोलना अच्छा नहीं। परन्तु हमारे आने पर हमसे बोलने में कुछ हरज नहीं। (सब हँसते हैं।)

श्रीरामकृष्ण (सस्मित)—हमको बहुत जल्दी अरोग्य करो न। देखो न, हमारी कैसी स्थिति हुई है! हमसे उसका (ईश्वर का) नामस्मरण—भजन—भी नहीं करते बनता!

डाक्टर (सस्मित):—नामकीर्तन की आवश्यकता ही क्या है? ध्यान किया, कि बस हुआ।

श्रीरामकृष्ण—यह क्या कहता है! हम एकांगी होवें, क्या तेरी ऐसी इच्छा है? नहीं, मैं *मछलियों को कई प्रकार से बना

* बंगाली ब्राह्मणों में मछली खाने की प्रथा है, मछलियों के खाने में हम लोगों की तरह वे पाप नहीं मानते; किन्तु मछली—केवल मछली—के खाने में वे धर्म मानते हैं। यह ध्यान में आने से उक्त भाषण में आश्चर्य नहीं मालूम होगा।

कर खाऊँगा—कढ़ी करके, रसीली बना कर, तल कर, भून कर और पुलाव करके, आदि आदि। ईश्वर की अनेक प्रकार सेवा करें, यही मेरी इच्छा रहती है। पूजा करें, जप करें, ध्यान करें, नामगुणगान करें और उसका नाम लेकर—भजन गा कर—नाचें। सब कुछ करें, ऐसा हमको मालूम होता है। परन्तु देखो मेरे मन के अनुसार हमसे कुछ नहीं करते बनता।

डाक्टरः—एक मार्गी किंवा एकांगी होना, हमको भी अच्छा नहीं मालूम होता।

श्रीरामकृष्णः—तेरा पुत्र अमृत यदि अवतार को नहीं मानता तो उसमें कुछ विशेष दोष नहीं है। ईश्वर निराकार है, ऐसी भावना करने पर भी उसकी प्राप्ति होगी। अच्छा, वह साकार है ऐसा यदि माना तो भी उसकी प्राप्ति होवे हो गी। श्रद्धा और शरणागतता—आत्मनिवेदन—ये दोनों गुण विशेष कर चाहिये ही। मनुष्य अज्ञानी है, वह पग-पग में चूकता है; अतः यह असम्भव है कि उसका पैर कभी न फिसले। क्या एक सेर के पात्र में कभी चार सेर दूध रह सकता है?

अवतार न माना तो क्या दोष?

तू ईश्वर को साकार मान या निराकार, चाहे जैसा मान; परन्तु व्याकुल होकर—बिलकुल अन्तःकरण से व्याकुल होकर—उसका ध्यान तुझे करना चाहिये, यही सच्ची ईश्वर-प्राप्ति की कुंजी है। वह अन्तर्यामी है; इसलिये तुम्हारी अन्तःकरण से की हुई आराधना को वह सुनेगा—अवश्य सुनेगा। व्याकुलता होने पर किसी भी मार्ग से तू जा—साकार मार्ग से जा, चाहे निराकार मार्ग से—उसकी प्राप्ति हुये बिना नहीं रहेगी। पूरन-पूरी तिकोनी हो, चौकोनी हो अथवा इससे भी विशेष टेढ़ी-टेढ़ी होने से कई एक कोनी क्यों न हो गई हो; परन्तु वह जब मुख में जायगी तब मीठी ही लगेगी। तेरा अमृत अच्छा लड़का है! (सब हँसते हैं।)

दासः—आपका ही तो यह चेला है!

श्रीरामकृष्ण (सस्मित):—इस जगत् में मेरा चेला कोई नहीं है। सब ईश्वर के चेले हैं—ईश्वर के दास हैं। मैं भी ईश्वर का चेला हूँ—ईश्वर का दास हूँ। *चन्दामामा सब का ही मामा है—तमाम गाँव का यह मामा है। (सब हँसते हैं।)

बिन्दु ५९।

स्थान—शामपूकर, कलकत्ता। दिन मंगलवार, तारीख २० अक्टूबर सन १८८५ ई० समय—सायकाल के ५ बजे। मंडली—श्रीरामकृष्ण, नरेन्द्र (विवेकानन्द), शरद (शारदानन्द), कालि (अभेदानन्द), राखाल (ब्रह्मानन्द), एम, इत्यादि।

दुर्गापूजा का राष्ट्रीय महोत्साव हुए थोड़े ही दिवस बीत चुके थे। श्रीरामकृष्ण के शिष्यों का मन इस वर्ष उस उत्सव की ओर बिलकुल न था। श्रीगुरुदेव की प्रकृति बिगड़ गई थी, इस कारण उनके मन में किसी प्रकार का उत्साह न रहा था। दक्षिणेश्वर के श्रीकालीमाता के देवालय में श्रीरामकृष्ण सदा-सर्वदा रहते थे। वह देवालय कलकत्ता शहर से बहुत अंतर पर था इस कारण कलकत्ता-निवासी वैद्यों को वहां जाने की बड़ी कठिनता पड़ती थी और इसी कारण श्रीरामकृष्ण शामपूकर में आ रहे थे। आज तीन मास से उनका निवासस्थान वहीं था और डा० सरकार का औषधोपचार भी जारी था। यह व्याधि असाध्य है—इस पर कोई भी योग्य उपाय नहीं है—ऐसा जब डॉक्टर ने अप्रत्यक्ष रीति से सूचित किया तब सारे शिष्य पूरे हताश हो गए। वह दिव्य पुरुष इस अपार संसार

* 'चन्द्रमा, यह सब का मामा है' ऐसी एक दन्तकथा बंगल प्रदेश में प्रचलित है, उस अनुसार ही उक्त वाक्य रहा गया है।

सागर में हमको निराधार छोड़ कर—दीन दुखियों के समान अथवा बिना स्वामी के, पशुओं की सी स्थिति करके—चला जायगा, इस पर उनका विश्वास न था । उस दिव्य पुरुष के सहवास में जो अनेक आनंद के दिन बिताए थे, वे गये! भविष्य में वैसे दिन उस दिव्य पुरुष के साथ न बिता सकेंगे, इस बात का जब उन्हें स्मरण आ जाता है तब उन्हें भारी दुःख होता है, तोभी वे कहीं छिप कर अपने दुःख का परिमार्जन अश्रुओं के द्वारा करते हैं। आशा का मरण नहीं होता, यह बात सत्य है; परन्तु आशा का कुछ भी आधार न होते हुए भी वे आशा धर कर श्रीगुरुदेव के आरोग्यता के प्रीत्यर्थ नित्य ईश्वर से प्रार्थना करते थे। तन-मन से वे उनकी शुश्रूषा करते थे। श्रीगुरुराज ने—श्रीरामकृष्ण ने—संसार का त्याग कर जो लोक-सेवा की, और नरेंद्रादि तरुण शिष्यों को संसार त्याग का जो पाठ पढ़ाया, उसी के ही कारण वे शिष्यगण अपूर्व कर्मवीर कहलाने लगे। क्योंकि जिन श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर-प्राप्ति के लिये संसार व तदनुषंगिक माने हुए सुखों पर लात मारकर अपना प्रत्यक्ष उदाहरण बतलाया था फिर भला उनके पदानुगामियों का क्या पूछना है?

जिस अवतारी पुरुष की कीर्ति से सारा प्रांत जगमगा गया था; वह यद्यपि अस्वस्थ था तोभी उसको देखने के लिये—उसका केवल दर्शन करने के लिये—लोगों का प्रचंड समुदाय जुड़ता था। श्रीरामकृष्ण का केवल सानिध्य ही लोगों के मन को अनुपम शांति और आनंददायक मालूम होता था। 'अहाहा कितना प्रेम! कितना मोह!!' आदि उद्गार प्रत्येक मनुष्य के मुंह से निकले बिना न रहते थे। यद्यपि श्रीरामकृष्ण को इतनी शारीरिक यातनाएं थीं तोभी सब लोगों की—गरीब श्रीमान्, आबाल वृद्धादि के कल्याण की—उनके मन में चिंता लगी रहती थी। इस कारण वे उनको देवताओं की—माता की—कहानियां

सुनाते थे ! अंत में डाक्टरों ने शिष्यों को ऐसी सूचना दे रखी थी कि "गुरुराज को न बोलने देना चाहिये तथा लोगों को उनके दर्शन भी न करना चाहिये।" डा० सरकार तो घंटों—कभी कभी तो छः छः सात सात घंटों तक—उनके पास बैठे रहते थे। वे उनसे कहते थे, "महाराज! आप कितना बोलते हैं!" इतना बोलना आपको अपायकारक होगा। मेरे सिवाय आप किसीसे न बोलें—मुझसे बोलने में कुछ भी हर्ज नहीं है। डॉक्टर की यह अनुमति चमत्कारिक थी; परन्तु उसका सत्य कारण यह था कि उनकी संगति ने और उनकी अपूर्व वाक्सुधा ने उनको (डॉक्टर को) पागल बना दिया था।

विवेकानंद और डाक्टर के अतिरिक्त उस समय गिरीश घोष (प्रसिद्ध बंगाली कवि तथा नाटककार), डा० दोकडी, छोटा नरेंद्र, राखाल, एम, और शरद आदि भी थे।

डॉक्टर ने नाड़ी देखकर औषधादि की व्यवस्था की। रोग विषयक कुछ संभाषण होने के बाद श्रीरामकृष्ण ने डॉक्टर के कहने पर औषधि ली। फिर डा० सरकार जाने के लिये उठ खड़े हुए और बोले, "श्यामबाबू आपके पास बैठे हैं, क्या अब मुझको जाने की आज्ञा होगी?"

श्रीरामकृष्णः—क्या कुछ भजन सुनने की तेरी इच्छा है?

डॉक्टरः—हाँ है; परंतु आपके भावों का उद्दीपन होने से आप उन्मत्त हो जायंगे इस कारण......भावों को बिलकुल दबाकर रखना चाहिये!

डॉक्टर बैठ गए। नरेंद्र (विवेकानंद) मधुर स्वर से पद सुनाने लगे। तंबूरा और मृदंग भी उनका साथ दे रहे थे।

१ डॉक्टर (एम से):—महाराज के विषय में यदि विचार किया जाय तो यह भजन अच्छा नहीं है। क्योंकि यदि भावोदय हो जायगा तो बड़ी कठिनता होगी।

श्रीरामकृष्ण (एम से):—यह क्या कहता है?

एम—डॉक्टर को इस बात का भय है कि इस भजन से आप के भावों का उदय होकर कहीं आपको समाधि न लग जाय

श्रीरामकृष्ण (हाथ जोड़कर डॉक्टर से):—नहीं नहीं, मेरे भावों का उदय नहीं होगा! मैं शांत हूं।

परंतु बोलते ही बोलते महाराज का मन धीरे धीरे पिघलने लगा! शरीर स्तब्ध हो गया! नेत्र स्थिर हो गए! वाचा बंद हो गई! काष्ठ व पाषाण की मूर्ति के समान वे हो गए बिलकुल बाह्य शून्य! मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और आदि सब अंतर्मुख हो गए! मनुष्यत्व का उनमें कुछ भी चिन्ह न रहा! नरेंद्र के मधुर कंठ से मधुर गायनप्रवाह निकल रहा था!

भजन सुनते सुनते विशेष कर सतो का पवित्र प्रेम सुनकर डॉक्टर के नेत्रों में प्रेमाश्रु आकर पुलकावलि छा गई और "धन्य! धन्य!!" ऐसे उद्गार उनके मुंह से निकल पड़े!

नरेंद्र ने पुनः अपना राग अलापना शुरू किया।

बिन्दु ६०।

ब्रह्म।

श्रीरामकृष्ण पुनः पूर्ववत् हो गए और सबों के मन को रिझाने वाला संभाषण शुरू किया। सभी श्रोता टकटकी लगाए महाराज की ओर देख रहे थे। उनका सारगर्भित भाषण सुनकर सभी श्रोतागण परमानंद में मग्न हो गए थे। उस समय वहां पर, किसीके मन में सांसारिक चिन्ता का नाम-निशान तक नहीं दिखाई देता था। श्रोताओं के प्रफुल्लित मुख कमल कुसुमित फूलों के समान शोभायमान लगते थे। वह स्थान आनंद और ईश्वरीय तेज से व्याप्त हो रहा था।

श्रीरामकृष्ण ने डॉक्टर की ओर देखकर कहा—

डॉक्टर, तू लज्जित मत हो। ईश्वर का भजन करने के लिये लज्जित होने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती! लोगों के कहने पर ध्यान मत दे। किसी भी कार्यसिद्धि के लिये लज्जा, घृणा और भय, ये तीन बातें बड़े बड़े संकट उपस्थित करती हैं। मैं डॉक्टर हूं. ईश्वर-भजन करते समय कैसे नाचूं? आदि बातों को तिलांजलि दे। हरि भजन के लिये लोकापवाद की ओर बिलकुल मत देख!

डॉक्टरः—महाराज! ऐसे विचारों को आप कदापि मन में न लाइये। मुझे हरि-भजन करने में किसी बात की लज्जा नहीं है। मै उसके आगे लोक-निन्दा को तुच्छ समझता हूं।

श्रीरामकृष्ण(सस्मित):—नहीं! कभी न कभी तेरे मन में ऐसे विचार अवश्य ही आ जाते होंगे! (सब हँसते हैं।)

ब्रह्म-दर्शन।

श्रीरामकृष्णः—ज्ञान और अज्ञान के आगे जाने से ईश्वर प्राप्ति होती है। विविधता का ज्ञान होना ही ज्ञान कहलाता है और सर्वव्यापी भगवान के विषय में अज्ञानता का होना ही अज्ञान कहलाता है। जगत् की एकता को न पहिचानना ही अज्ञान है। अपनी विद्वत्ता का अहंकार भी अज्ञान का मूल है। "भगवान सर्वव्यापी है" इसे ही ज्ञान कहते हैं। अखिल विविधता की एकता को अद्वैत की दृष्टि से देखना भी यही है। ये तत्व अपने हृद्पटल पर प्रतिबिम्बित हो जाने पर ही उसे विज्ञान कहते हैं। किसीके पैर में कांटा चुभा हो तो उसको निकालने के लिये एकाध सुई या उसीके सदृश एकाध दूसरे कांटे की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार उस दूसरे कांटे से पहिला कांटा निकाल लेने पर उन दोनों को फेंक देते हैं। उसी प्रकार अज्ञान रूपी कांटे को निकालने के लिये ज्ञान-कांटे की आवश्य-

कता होती है। तदुपरांत ज्ञान और अज्ञान रूपी दोनों कांटों को फेंक देना चाहिये। तभी ब्रह्म-दर्शन होगा? क्योंकि ब्रह्म ज्ञानाज्ञानातीत है।

एक समय लक्ष्मणजी ने रामचन्द्रजी से पूछा, "भ्रातृवर! वसिष्ठ जैसे ज्ञानी-महात्मा को अपने पुत्रशोक से अत्यंत दुखित देखकर मुझे अत्यंत-आश्चर्य हुआ! क्या वसिष्ठ जैसे ज्ञानी को भी दुखित होना चाहिये था?

ज्ञानाज्ञान, पापपुण्य, शौचाशौच, धर्माधर्म की ओट हो में ज्ञान का निवास-स्थान है।

श्याम वसुः—महाराज, ज्ञानाज्ञान रूपी दोनों कांटों के फेंक देने पर फिर अपने पास क्या रहता है?

श्रीरामकृष्णः—वेदांत में जिसे "नित्यशुद्धबुद्धरूप" कहा है, वही अपने पास रह जाता है। मैं तुझे उसका स्वरूप कैसे कहूं? यदि तुझ से कोई पूछे कि घी का स्वाद कैसा होता है, तो तू उससे क्या कहेगा?

ब्रह्म अवाङ्मनस गोचर है।

(सब हंसते हैं।)

एक अविवाहिता लड़की अपनी एक विवाहिता सखी से बोली, "सखी क्या तेरे पति को देखकर तुझे आनन्द होता है?" उसने उत्तर दिया, कि मैं तेरे इस प्रश्न का उत्तर किन शब्दों में दूं? जब तेरा विवाह हो जायगा, तब तुझे अपने आप ही इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा। मैं उन भावों को शब्दों में कदापि प्रगट नहीं कर सकती।

पुराण में लिखा है कि भगवती पार्वतीजी हिमालय के यहां कन्या के रूप में प्रगट हुई। उनने (माता ने) नगाधिराज को नाना रूप बतलाए। उनको देख कर नगाधिराज ने माता से कहा "वेदों में जिस ब्रह्म का वर्णन किया है, उसी को देखने की मेरी इच्छा है।" तब माता ने उत्तर दिया "यदि

आपको ब्रह्म-दर्शन की इच्छा है तो आप साधु की सगोत करिये। ब्रह्म दर्शन का वही एक सुगम मार्ग है। ब्रह्म कैसा है, यह मुह से नहीं कहा जा सकता और न बतलाया ही जा सकता है।

किसीने कहा है कि जगत् की सभी वस्तुए झूठी है, परन्तु ब्रह्म झूठा नहीं है। इसका अर्थ यही है कि वेद, पुराण, तंत्र, शास्त्रादि का पठनपाठन किया गया है, इस कारण वे सभी झूठे है। परन्तु ब्रह्म कैसा है, इसका प्रतिपादन आज तक किसीने नहीं किया। इस दृष्टि से वह झूठा नहीं है। सच्चिदानन्द में रत होने ही से अनुपम आनन्द मिलता है। उस आनन्द का वर्णन करना मनुष्य की बुद्धि के बाहर है। जो ब्रह्ममय हो जाता है, वही उसका आनन्द लूट सकता है।

बिन्दु ६१।

पण्डिताई और अहंकार।

रामकृष्ण ने पुन डॉक्टर से कहा, 'डॉक्टर! जब तक अहकार का नाश नहीं होता है तब तक मनुष्य को सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अहकार के नष्ट हो जाने पर ही मनुष्य की मुक्ति होती है। "मै डॉक्टर हू", "यह मेरी वस्तु है" आदि कहना ही अज्ञानता है। "तू" "तेरा" आदि शब्दों का प्रयोग करना ही सच्चा ज्ञान है। जो सच्चा भक्त होता है वह सदा सर्वदा यही कहता है, कि "हे भगवन्! तू ही कार्य कारण रूप है। मै केवल एक यंत्र हू और तू उसका चालक है। केवल तेरी ही प्रेरणा से वह यंत्र चलने लगता है। यह संपत्ति, गृह, कुटुंबादि सभी कुछ तेरे ही है। मै केवल तेरा दास हू। तेरी आज्ञा पालन करना ही मेरा परम कर्तव्य है।'

आश्चर्य की बात है कि जो बड़े बड़े ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, उनमें थोड़ा तो भी अहंकार का अंश आ ही जाता है। एक दिन मैंने ठाकुर (ठाकुर) से ईश्वर के विषय में कुछ कहा तब उसने मुझसे कहा, "महाराज! यह सब मैं जानता हूं। मैंने ईश्वर विषयक सभी बातें पुस्तकों में पढ़ी हैं।" तब मैंने कहा, "जिसने एक बार दिल्ली देखी है, वह दिल्ली देखने का घमंड नहीं मारता। जो बाबू (सभ्य, कुलीन, बड़ा।) है वह सबों से यों नहीं कहता फिरता कि मैं बाबू हूं।" (सब हंसते हैं।)

श्याम बसुः—महाराज! ठाकुर आपको बड़े पूज्यभाव से देखता है।

श्रीरामकृष्णः—दक्षिणेश्वर में एक झाडूवाली (भंगन) थी। उसके पास कुल दो गहने थे, इस कारण उसको अपने गहनों का बड़ा अभिमान था। किसी समय वह राजमार्ग पर से आ रही थी, इतने में दो मनुष्य उसकी ओर से निकले। तब वह चिल्ला कर "अलग हटो, अलग हटो" कहने लगी। उसको अपने यःकश्चित गहनों का कितना अभिमान हुआ। यःकश्चित झाडूवाली की यह बात है तो फिर दूसरों के विषय में क्या पूछना है? (सब हंसते हैं।)

पाप और मनुष्य के कर्तव्य।

श्याम बसुः—महाराज! ऐसा लिखा है कि पाप के उपलक्ष्य में ईश्वर सज़ा देता है। परन्तु हम तो उसी की प्रेरणा से प्रत्येक काम करते हैं। खाना, पीना, फिरना इत्यादि कार्य उसकी प्रेरणा के बिना नहीं हो सकते, फिर यह कैसे?

श्रीरामकृष्णः—धन्य है तेरी बनियेवाली बुद्धि को!

विवेकानंदः—बनियेवाली बुद्धि अर्थात् तुली हुई, नियमित बुद्धि! क्यों महाराज! ऐसा ही न?

तथापि वह गिर कर चकनाचूर नहीं हुआ। इसलिए महाराज से और भी प्रश्न करके वह उनसे वाद-विवाद करने लगा।

एम:—यह देखिये, महाराज ! कदाचित् यह सही माना जा सकता है कि ईश्वर साकार है; पर इतना तो अवश्य है कि जिन मृण्मय मूर्तियों की पूजा की जाती है वे कुछ परमेश्वर नहीं हैं !

महाराज:—अरे बाबा, उसे मृण्मय मूर्ति क्यों कहता है ? ईश्वरी मूर्ति चैतन्य की बनी हुई होती है।

एम को यह कुछ नहीं समझ पड़ा। वह आगे बोला—महाराज, मूर्ति-पूजकों को यह स्पष्ट उपदेश करना क्या हर एक का काम नहीं है कि तुम जिन मूर्तियों की पूजा करते हो वे मूर्तियां स्वयं परमेश्वर नहीं हैं, इसलिए पूजा करते समय तुम अपना चित्त मूर्ति पर न रख कर परमेश्वर में रक्खो ?

व्याख्यान और श्रीरामकृष्ण।

श्रीरामकृष्ण.—(क्रोध से) तुम पर—कलकत्ते के लोगों पर—आज-कल एक ही भूत सवार है ! बोलने में, चलने में, आचार में, विचार में—जिसमें देखो उसीमें वही ! व्याख्यान देना और सब लोगों के शिर में प्रकाश डालना ! मैं पूछता हूं, तुम स्वय अपने अन्तःकरण में प्रकाश कैसे लाओगे ? और इधर देखो, तुम सब दूसरों को उपदेश करनेवाले हो कौन ? जिस प्रभु ने सूर्य और चन्द्र, मनुष्य और पशु, इत्यादि निर्माण किये, जिस प्रभु ने उनके निर्वाह के लिए अनन्त वस्तुएँ उत्पन्न कीं, जिस प्रभु ने उनके लालन पालन के लिए माता-पितरों को जगत् में उत्पन्न किया वह जगत्प्रभु, आवश्यकता आ पड़ने पर, मनुष्य को रास्ता दिखावेगा (उपदेश करेगा); जिस प्रभु ने इतनी बातें की हैं वह उन्हें अज्ञानान्धकार से निकालने के लिए क्या कुछ न करेगा ? आवश्यकता पड़ने पर अवश्य करेगा ! वह मानवी काया के मन्दिर

श्रीरामकृष्णः—मैं कहता हूं कि तू आम खा, तब फिर तुझे "आम के कितने वृक्ष हैं, उनमें कितनी टहनियां हैं, प्रत्येक टहनी में कितने पत्ते हैं, " आदि बातों के पूछने की क्या आवश्यकता है ? यहां पर तू केवल आम खाने के लिये आया है, आम विषयक व्यर्थ की आलोचना करने के लिये नहीं ! (श्याम बसु से) ईश्वर-प्राप्ति के लिये ही तुझे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ है। इसलिये ईश्वर-भजन के साधनों की साधना करना ही तेरा परम कर्तव्य होना चाहिये। अन्य बातों से तुझे बिलकुल अलग रहना चाहिये। यदि तू एक बोतल शराब ही में सुरापान का सच्चा सुख लूट सकता है, फिर तुझे कलवार की दुकान की शराब के हिसाब से क्या लाभ ? तथा आ जाने तक शराब पीना ही तेरा काम है।

डॉक्टरः—इसके अतिरिक्त परमेश्वर रूपी कलवार के यहां पर खूब शराब है। कम नहीं हो सकती।

श्रीरामकृष्ण (श्याम बसु से):—यदि तू केवल ईश्वर पर ही विश्वास रखेगा तो तेरा भला होगा। यदि सज्जन पुरुष को कोई काम करने के लिये दिया जाय तो क्या वह किसीकी हानि करेगा ? अर्थात् यह असंभवनीय है। पापी मनुष्यों को वह सजा देता है, या नहीं यह एक मात्र उसीको मालूम है।

डॉक्टरः—उसके मन की बात किसीको मालूम नहीं हो सकती। वह अपार है। उसके विचार मनुष्य को मालूम नहीं हो सकते। वह मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

श्रीरामकृष्ण (श्याम बसु से):—तुम्हारी—कलकत्ता-निवासियों की—यह बहुत ही बुरी आदत है कि तुम ईश्वर में दोष निकालते रहते हो। मनुष्यों के विषय में उसकी सम बुद्धि नहीं है, ऐसा तुम्हारा कहना है। वह थोड़े मनुष्यों को सुख और थोड़े मनुष्यों को दुख क्यों देता है, इत्यादि कुकल्पनाएँ मन में लाते

रहते हो। मानों तुम्हें अपना और ईश्वर का मन एकसा ही मालूम होता है।

हेम अपने कुछ मित्रों सहित दक्षिणेश्वर में आया करता था। वह सदा सर्वदा मुझसे कहता था, कि "महाराज! जगत् में लुभानेवाली केवल एक ही वस्तु है—आदर। ईश्वर-प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का मुख्य कर्तव्य होना चाहिये। इस बात पर कोई ध्यान नहीं देता।"

क्या कीर्ति और लोक-मान्यता ही जीवन के मुख्य कर्तव्य हैं?

श्याम वसु:—महाराज! क्या हमारे स्थूल शरीर के साथ ही साथ एक सूक्ष्म शरीर भी रहता है, यह बात सच है? क्या कोई सूक्ष्म शरीर को बतला सकेगा? क्या स्थूल शरीर उसे छोड़ सकता है?

सूक्ष्म शरीर।

श्रीरामकृष्णः—जो सच्चा भक्त है उसे इस बात की क्या गरज पड़ी है। मूर्ख मनुष्य उसे माने या न माने, उसे इस बात की परवाह नहीं होती। बड़ों की कृपा सम्पादन करने का वह कभी भी प्रयत्न नहीं करता।

श्याम वसु:—महाराज! स्थूल और सूक्ष्म शरीर में क्या भेद होता है, इसके जानने की मेरी उत्कट इच्छा है। कृपया आप इस भेद को मुझे समझा दें।

श्रीरामकृष्णः—पंच महाभूतों से स्थूल देह बना हुआ है और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार से सूक्ष्म शरीर बना है। जिस शरीर में ईश्वरीय लाभ का—सच्चे आनंद का—अनुभव होता है, उसे 'कारण-देह' कहते हैं। तंत्रों में उसे "भगवती-तनु" कहा है। "महाकारण-देह" उससे भी परे है। वह निरुपाधिक-तुरीय है। उसका वर्णन करना अत्यंत कठिन है।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण देह।

विन्दु ६२ ।

साधना और उसका प्रयोजन ।

श्रीरामकृष्णः—केवल श्रवण भक्ति से ही कुछ काम नहीं चलता । अतः 'साधन' ही मुख्य है ।

केवल सिद्धि सिद्धि (भंग की पत्तियां) कहने ही से कदापि नशा नहीं आ सकता । यदि उन पत्तियों का शरीर पर लेप भी किया जाय तोभी नशा नहीं आयेगा । अतएव नशे के लिये उन पत्तियों को ही खाना अत्यावश्यक है ।

सूत की गड्डियाँ कई तरह की रहती हैं । उसका व्यापार किये विना उसके विषय का अच्छा ज्ञान नहीं होता । जो सूत का व्यापार करते हैं वे उसके अच्छे-बुरे की शीघ्र ही परीक्षा कर सकते हैं । इसी लिये मेरा कहना है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण देह का ज्ञान होने के लिये साधनों की अत्यावश्यकता है ।

भक्ति ही मुख्य तत्व है ।
प्रार्थना कैसी की जाय ?

तू जब कभी ईश्वर-प्रार्थना करेगा उस समय ईश्वर के चरण कमलों में लयलीन हो जाने का ही तेरा मुख्योद्देश होना चाहिये । तू सदा सर्वदा ईश्वर से यही कहा कर कि "हे परमपिताजी ! मेरा हृदय ही आपका निवास-स्थान वन जाय !" अहिल्या के शापमुक्त हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजी ने उसे कोई वर मांगने के लिये अनुरोध किया । तव उसने कहा, " महाराज ! मेरे हृदय में, सदा सर्वदा, आपकी भक्ति का ही श्रोत वहता रहे, यही मुझे दीजिये ! "

मैं भी माता के पास भक्ति ही मांगता हूं। मैं सदा सर्वदा यही कहता हूं कि माताजी ! मेरे ज्ञानाज्ञान को नष्ट कर। मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है । मुझे केवल तेरी भक्ति की ही आवश्यकता है । मुझे शौचाशौच, पापपुण्य, सुख-दुःख आदि झंझटों से अलग रख । मुझे तो केवल अचल शुद्ध भक्ति की ही आवश्यकता है । वही मुझे दे । मैं धर्माधर्म से भी वंचित रहना चाहता हूं। मैं उससे भी सम्बन्ध नहीं रहना चाहता । अतः मुझे इन व्यर्थ के झगड़ों से मुक्त कर । मैं तो केवल तेरे पादारविन्दों में ही लवलीन हो जाना चाहता हूं। मुझे अन्य किसी बात की इच्छा नहीं है ।

धर्माधर्म, पाप-पुण्य, ज्ञानाज्ञान, शौचाशौच का जोड़ा है। जिस प्रकार प्रकाश का ज्ञान हो जाने पर अपने आप ही अंधकार का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार उक्त विषयों की दशा है । धर्म के फल के साथ अधर्म के फल भी चखने ही पड़ते हैं ।

ईश्वर के चरण कमलों में लवलीन हो जाने वाला ही इस संसार में धन्य है । वह चाहे शूकरयोनि में ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसका अवश्य ही उद्धार होता है । परन्तु यदि कोई हविषान्न खाकर भी संसार में लवलीन हो जाय तो—

डॉक्टरः—तो—क्या ? उसका अवश्य ही नाश होगा। उसे किस बात की फल-प्राप्ति हो सकेगी ? इस बात पर मुझे एक कहानी याद आ गई—बुद्धने एक दिन शूकर का मांस खा लिया। जिससे उन्हें शूल का दुःख हुआ । उन्होंने दुःख के उपचारार्थ थोड़ी अफीम भी खा ली । अफीम से खूब ही नशा चढ़ आया । जिससे उनके मन में वाह्य ज्ञान का किंचित् मात्र भी अंश नहीं रहा । केवल निर्वाण ही रह गया !

बुद्धदेव के निर्वाण की उक्त व्याख्या को सुनकर सब श्रोता-गण हँसते हँसते लोट-पोट हो गये । पुनः श्रीरामकृष्ण का धारा-प्रवाह संभाषण शुरू हुआ ।

श्रीरामकृष्ण (श्याम वसु की ओर देखकर):—गृहस्थ-धर्म का पालन करने में किसी बात का दोष नहीं है। परन्तु ईश्वर के चरण कमलों में ध्यान रख कर तथा कामना-शून्य होकर ही सांसारिक कर्मों को करना चाहिये। जिस प्रकार किसी मनुष्य की पीठ पर कोई फोड़ा हुआ हो और उसे अन्य मनुष्यों से बातें करने में भी अपने फोड़े की विस्मृति नहीं होती है—उसका मन उस फोड़े की ओर ही लगा रहता है—उसी प्रकार अन्य सांसारिक कार्यों में फँसे रहने पर भी सदा सर्वदा अपना मन ईश्वर की ओर ही लगा रहना चाहिये।

गृहस्थ और निष्काम कर्म।

यद्यपि व्यभिचारिणी स्त्री अपने गृह-कार्य में मग्न रहती दिखाई देती है, तथापि उसका मन उसके जार (यार) की ओर ही लगा रहता है। उसी प्रकार मनुष्य को अपने सांसारिक कार्यों को करना चाहिये। प्रभु-चरणों में रत होकर ही अन्य झगड़ों में हाथ डालना चाहिये। व्यभिचारिणी स्त्री के गृह-कार्यों में लगी रहने पर भी उसका मन उसके चाहनेवाले की ओर ही लगा रहता है। (डॉक्टर से) क्या तू इसे समझ गया?

डॉक्टरः—महाराज! आज तक मेरे मन की भावना उस स्त्री जैसी नहीं हुई है, अतः मैं उसे कैसे समझ सकता हूं?

श्याम वसुः—डॉक्टर साहिब! मेरी धृष्टता को क्षमा कीजिये। आपको इस विषय में कुछ न कुछ तो अवश्य ही मालूम होगा। (सब हंसते हैं।)

श्रीरामकृष्णः—हाँ, सच है। उसका तो बहुत दिनों से इस बात का व्यापार ही है! (सब हँसते हैं।)

श्यामवसुः—महाराज! थिओसफी के विषय में आपके कैसे विचार हैं?

श्रीरामकृष्णः—उसका तात्पर्य यही है कि जो अपने चेला एकत्रित करते हैं वे हलकी श्रेणी के हैं। जिन्हें सिद्धि की—नाना तरह शक्तियों की—इच्छा होती है वे भी वैसे ही होते हैं। यथा, गंगाजी के प्रवाह पर से चल अथवा औरों के मन की बातों को कहना, यह एक प्रकार सिद्धि ही है। प्रायः वैसे लोगों में सच्ची भक्ति का आविर्भ होना दुर्लभ है।

थिऑसफी।

श्यामवसुः—महाराज! हिन्दू-धर्म की पुनर्स्थापना करना उनका (थिआसफिस्टों का) मुख्योद्देश है।

श्रीरामकृष्णः—शायद उनका वैसा ही उद्देश होगा। मुझे उस बारे में कुछ भी मालूम नहीं है।

श्यामवसुः—महाराज! मृत्यु के अनन्तर अपना आत्मा क जाता है? थिआसफिस्टों का कहना है कि यह चन्द्र लो नक्षत्रलोक या अन्य किसी लोक में जा बसता है।

श्रीरामकृष्णः—उनका चाहे जैसा मत हो; परंतु इस विषय में अपने स्वयं के ही विचार तुमसे कहता हूं। किसी स एक ने हनुमान से पूछा, "आज कौन सी तिथि है?" उन्होंने उत्तर दिया, "भाई! मुझे तो तिथि, वार या नक्ष में से कुछ भी मालूम नहीं है। मुझे केवल श्रीराम का ही न मालूम है।"

श्यामवसुः—महाराज! थिऑसाफिस्टों का कहना है कि य पर (पृथ्वी पर) कई महात्मा हैं। क्या यह बात सच है?

श्रीरामकृष्ण—हाँ, यदि सच कहा जाय तो मेरा उस विश्वास है। परन्तु आज ही इस बात के कहने की को आवश्यकता नहीं है। जब मेरी प्रकृति अच्छी हो जाय तब तू आना। यदि तू मेरे शब्दों पर विश्वास रखेगा तो तु अनुपम शांति प्राप्त होगी। मैं तुझे शांति का उपाय कहूंगा

मैं किसी बात के उपलक्ष्य में पैसा, कपड़ा आदि कोई वस्तु नहीं लेता हूं, यह तुझे मालूम ही है। नाटक-मंडलियों के नटों के उत्तेजनार्थ उन्हें इनाम दिया जाता है; परन्तु लोगों को वैसे इनाम यहां पर नहीं देने पड़ते। इसीलिये यहां पर लोगों की भीड़ होती है। (सब हंसते हैं।)

(डॉक्टर से) मैं तुझसे यह कहता हूं तू बुरा मत मानना। अब तू द्रव्य, प्रतिष्ठा व्याख्यानादि सांसारिक बातों को छोड़ दे। अब ईश्वर-भजन करना ही तेरा मुख्योद्देश होना चाहिये। समय समय पर इस ओर भी आया कर। ईश्वर-भजन या ईश्वर विषयक बातें सुनने से ही मनुष्य का मन उसकी (ईश्वर) ओर परावृत्त हो जाता है।

बिन्दु ६३।

ईश्वरीय-अवतार।

थोड़ी देर के पश्चात् डॉक्टर अपने घर जाने के लिये उठ खड़े हुए। इतने में गिरीशचंद्र घोष वहां पर आए। उन्हें देखते ही डाक्टर को अत्यानन्द हुआ और वे वहां पर पुनः बैठ गए। गिरीशचन्द्र ने महाराज को नमस्कार किया और उनके चरणरज अपने सिर पर धारण किए। डॉक्टर का लक्ष्य गिरीशचन्द्र की ओर ही था।

डॉक्टरः—मेरी उपस्थिति में गिरीशबाबू नहीं आते वरन्- जब मैं घर जाने के लिये तयार होता हूं तभी वे आते हैं।

(सब हंसते हैं।)

तदनंतर उन दोनों में विज्ञानसभा तथा उसकी कार्य-प्रणाली के विषय में- चर्चा हुई। गिरीश बाबू को विज्ञान विषयक व्याख्यान अधिक प्रिय लगते थे।

श्रीरामकृष्ण(डॉक्टर से):—क्या तू एकाधदिन मुझे भी उस सभा में ले चलेगा?

डॉक्टर—वहां आपके चलने पर आप ईश्वर की लीलाएं देखकर—उसका बुद्धिकौशल्य तथा कर्तृत्वशक्ति देखकर—मुग्ध हो जायेंगे। वहां की कार्य-प्रणाली देखकर,आपका चित्त भी डवांडोल होने लगेगा।

श्रीरामकृष्ण:—हाँ, तू कहता है यह बात सच है।

डॉक्टर (गिरीश बाबू से):—आप सब कुछ करो, परन्तु इनको (श्रीरामकृष्ण को)ईश्वरतुल्य समझकर इनकी पूजा मत करो। इससे इस सत्पुरुष का घात होने की संभावना है।

गुरु पूजा।

गिरीश:—क्या किया जाय? मैं इसके विषय में कोई उपाय नहीं सोच सकता। जिस सत्पुरुष ने मुझे संसारसमुद्र तथा सन्देहसमुद्र से बचाया है, उसके इस ऋण से मैं कैसे उऋण हो सकूंगा? आप ही कहिये, यदि मैं ऐसे महापुरुष की पूजा न करूं तो और किसकी करूं?

डॉक्टर:—मैं तो सभी मनुष्यों को समान समझता हूं। किसी समय एक बनिये का लड़का मेरे पास ओषधि लेने के लिये आया। उसे दस्त हो रहे थे। सभी मनुष्य उससे घृणा करने लगे; किन्तु मैं उसके पास आध घंटे तक बैठा ही रहा। यदि मेरे पास कोई अंत्यज(भंगी आदि) भी आकर बैठेगा तो भी मैं उससे घृणा नहीं करूंगा। मैं तो उसे अपने जैसा ही समझता हूं। अब यदि इस महापुरुष के विषय में कहा जाय तो क्या मैं इनको प्रणाम् कर इनके चरणरज अपने मस्तक पर धारण नहीं करता हूं? देखिये! (यह कह कर वे श्रीरामकृष्ण को प्रणाम् कर उनके चरणरज अपने शिर पर चढ़ाते हैं।

गिरीश:—अहा! आज सारा देव-समुदाय कह रहा है कि 'यह दिवस धन्य है।'

डॉक्टरः—क्या किसीको प्रणाम् करने में आप कोई विशेषता समझते हैं ! मैं सभी को प्रणाम् करने के लिये तैयार हूं। (यों कह कर डॉक्टर वहां पर उपस्थित प्रत्येक पुरुष के चरणों पर अपना मस्तक रखने लगे !)

विवेकानंद (डॉक्टर से):—डॉक्टर साहिब, मैं इन्हें ईश्वर की तरह मानता हूं। मैं स्पष्ट कहता हूं कि उद्भिज और प्राणी-वर्ग के बीच में एक स्थान है जहां पर प्राणी और उद्भिज में भेद नहीं रहता। उसी प्रकार देव और मनुष्य वर्ग के बीच में भी एक स्थान है यहां पर भी उन दोनों में भेद-भाव नहीं रहता।

डॉक्टरः—देखिये, ईश्वर विषयक चर्चा में उपमाओं का प्रयोग करने से कुछ काम नहीं चलेगा। उससे किसी बात का बोध नहीं होता।

विवेकानंदः—' मैं ईश्वर हूं ' ऐसा मैं नहीं कहता वरन ' ईश्वर-तुल्य हूं ' यही मेरे कहने का मुख्योद्देश है।

डॉक्टरः—अपने भाव मन में ही रखने चाहिये। पूज्यभाव को व्यक्त करने में कोई आनन्द नहीं मिलता। यदि स्वयं के विषय में कहा जाय तो मुझे यह कहने में लज्जा आती है कि मेरी अंतरस्थ बातों का पता आज दिन तक कोई भी नहीं लगा सका ! जो मेरे परममित्र हैं, उन्हें भी मेरे रहस्य मालूम नहीं हैं। वे कठोर तथा निर्दय पुरुषों में मेरी गणना करते हैं ! इतना ही नहीं वरन मित्रो ! आप भी एकाध दिन मुझे जूते मारकर बाहर निकाल दोगे !

श्रीरामकृष्ण (डॉक्टर से):—डाक्टर ! इन लोगों का सचमुच ही, तुम पर अद्भुत प्रेम है। जिस प्रकार विवाहमंडप में वधू-पक्ष की स्त्रियाँ वर की ओर ही टकटकी लगाए देखती रहती हैं, उसी प्रकार ये सभी तेरे आने की राह, बड़ी उत्सुकता से, देखते रहते हैं। (सब हंसते हैं)।

गिरीशः—डॉक्टर साहब ! हमारी आपमें बड़ी पूज्यबुद्धि है।

डॉक्टर (दुखित होकर):—मेरा पुत्र तथा मेरी पत्नी भी मुझे कठोर हृदयवाला समझती है। इसका मुख्य कारण यह है कि मैं किसीसे दिल खोलकर बातें नहीं करता हूं।

गिरीश:—यदि यह बात सत्य है तो आप कम से कम अपने मित्रों के लिये तो भी अपना मनरूपी द्वार खुला रखियेगा। यह आपको मालूम ही है कि वे आपके मन की बातें नहीं जान सके हैं।

डॉक्टर:—यदि सच कहा जाय तो आपकी भावनाओं की अपेक्षा मेरी भावनाएं प्रबल हैं। (विवेकानंद से) जिस समय मैं अकेला रहता हूं उस समय मैं रोने लगता हूं (श्रीरामकृष्ण से) जिस समय आप समाधिमग्न होते हैं उस समय आप किसीको भी अपने चरण न छूने दीजियेगा। मैं कहता हूं, इसका आपको क्रोध तो नहीं आता ?

गुरु और जीवों का पाप ग्रहण।

श्रीरामकृष्ण:—क्या उस समय मुझमें चेतनाशक्ति रहती है, ऐसा तू समझता है ?

डॉक्टर:—यह अच्छा नहीं है यह तो आप मान्य करते हैं न ?

श्रीरामकृष्ण:—भाव-मग्न रहते हुए मेरे मन की जो दशा होती है वह मैं तुमसे कैसे कहूं? उसकी पूर्णावस्था हो जाने पर मुझे स्वयं ही ऐसा मालूम होता है कि मेरे रोग का यही एक मात्र कारण है। सच बात तो यह है कि मैं ईश्वरीय भाव से पागल बन गया हूं। उसी उन्माद के कारण वैसा होता है। परन्तु मैं इसके विषय में क्या कर सकता हूं ?

डॉक्टर (शिष्यों से):—महाराज को यह मान्य है। उन्हें इस बात का बुरा भी लगता है ?

में रहता है। अपने सतपानालों के विचार उसे मालूम हों हैं। मूर्ति पूजा में यदि कुछ भूल होगी (बेकायदगी होगी) त क्या वह नहीं जानता कि यह सब पूजा हमारे ही लिए (हमारी ही है)? उस पूजा को अपनी ही जान कर व उसको आनन्दपूर्वक स्वीकार करेगा। जिन बातों में हमार बुद्धि नहीं दौड़ती— जो हमारे लिए अगम्य है—उनकी पचाय में तू क्यों पड़ता है? परमेश्वर को जानने और उसे मस्त पर धारण करने का प्रयत्न कर। परमेश्वर पर भक्ति रख। य तेरा बिलकुल नजदीक का (पहला) कर्तव्य है।"

एम का अभिमान बिलकुल नष्ट हो गया—पूरी तौर प गलित हो गया। उसके मन में इस प्रकार के विचार आ लगे —यह महात्मा जो कुछ कहता है वह वास्तव में बहु ठीक है। दूसरों को उपदेश करते फिरते रहने से मुझे क्य मतलब है? स्वयं मुझे क्या ईश्वर का ज्ञान हुआ है? अथ क्या ईश्वर पर मेरी भक्ति ही है? यह तो ऐसा है, जैसे पक दर्शी शिवरात्रि को भोजन का आमन्त्रण देती हो, अथवा अप कुए में पानी का एक बूंद भी न होते हुए सारे जगत् से ब बड़े प्रेमपूर्वक विनती करता हो, कि आओ भाई! हमारे कु पर आओ और अपनी तृषा शान्त कर लो, प्यासों मत मरो ईश्वर सम्बन्धी मुझमें कुछ भी ज्ञान नहीं है। ऐसी दशा दूसरों को उपदेश करने का विचार मन में लाना मूर्खता औ अनारीपन की (सचमुच इसके लिए मुझे लज्जा से गर्दन नी ही करना चाहिए) पराकाष्ठा ही है। यहां कुछ गणित, इ हास अथवा भाषा विषय नहीं सिखाना है। यह ईश्वर शा है। ठीक है, इस महात्मा के शब्द मेरे मन पर अच्छी त जम गये।

महाराज के साथ वाद करने का यह एम का पहला प्रयत्न था और सौभाग्य से यही अन्तिम भी था।

श्रीरामकृष्ण (विवेकानन्द से):—तू बड़ा बुद्धिमान है; अतएव तू ही उसे इस बात को समझाकर कह दे।

गिरीश (डॉक्टर से):—आपका यह कहना भारी भूल है। उनके चरण-कमलों का भक्तों के शरीर को स्पर्श होता है इस कारण उन्हें दुःख नहीं होता। उनका देह शुद्ध है—अपाय-विद्ध है। वे भक्तों का कल्याण करने के लिये ही उन्हें अपने चरणों का स्पर्श कराते हैं। भक्तों के पाप-भार से वे पीड़ित होते हैं। तुम स्वयं ही विचार कर देखो कि जब तुम अधिक अभ्यास करते थे तब तुम्हें शूल का रोग आ दबाता था। उससे तुम्हें दृढ़ विश्वास हो गया था कि रात में जागने से और अभ्यास करने से ही वह रोग तुम्हें सताता था। इससे क्या यह सिद्ध होता है कि रात में अभ्यास करना बुरा है? कदाचित महाराज रोग से पीड़ित होकर दुखित होते होंगे; अतएव औरों का भला करने के लिये अपने पैरों को स्पर्श करने देना क्या अन्यायात्मक है?

गिरीश बाबू के उक्त वाक्य सुनते ही डाक्टर साहिब चुप रह गए। कुछ देर तक वे कुछ भी नहीं बोल सके। थोड़ी देर के अनन्तर उन्होंने गिरीश बाबू से कहा, 'मैं हार गया'। अब मैं आपकी ही पदधूलि को ग्रहण करूंगा। (विवेकानंद से) यह बात सत्य है कि गिरीश बाबू अद्वितीय विद्वान् पुरुष हैं। अतएव उनकी परिपाटियों का अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये।

विवेकानंद (डॉक्टर से):—हाँ, इस प्रश्न को हम इस तरह से भी हल कर सकते हैं। जिस प्रकार एकाध शास्त्रज्ञ किसी बात की शोध में अपना सारा जीवन बिताता है और वह अपने कार्य के आगे अपनी प्रकृति, श्रम या अन्य किसी बात की चिन्ता नहीं करता। उसी प्रकार महाराज ने भी ईश्वरीय ज्ञान जैसे सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त करते समय अपने स्वास्थ्यादि की ओर नहीं देखा, इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है।

डॉक्टरः—बुद्ध, ईसा, चैतन्य और महम्मद आदि जितने आचार्य होगये हैं उनके रोम रोम में गर्व कूट कूट कर भरा हुआ था। उनका कहना था कि " जो कुछ हम कहते हैं, वही सत्य है!" क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है?

अवतार।

ऐसा कह कर डॉक्टर साहब घर जाने के लिये उठ खड़े हुए।

गिरीश—डॉक्टर साहब, आप भी उसी दोष के पात्र हैं। क्या यह झूठ है? आपने उन सभी आचार्यों को तो घमंडी कह डाला; किंतु क्या आपको आपका दोष दिखाई नहीं देता?

गिरीश बाबू के उक्त उलहने को सुनते ही डॉक्टर निरुत्तर हो गए।

विवेकानन्दः—जिस प्रकार हम ईश्वर की पूजा करते हैं उसी प्रकार हमें इनकी भी पूजा करनी पड़ती है।

श्रीरामकृष्णः—हंसते हंसते लोटपोट होगए।

बिन्दु ६४।

स्थान—काशीपुर। मंडली—नरेंद्र (विवेकानन्द), राखाल, एम, गिरीश और अन्य भक्त।

भक्तों के लिये देह धारण करना।

श्रीरामकृष्ण अपने शिष्यों सहित काशीपुर की वाटिका में रहते थे। वे बहुत अस्वस्थ थे; अतएव वे कोठरी में ही पड़े रहते थे। संध्या का समय था। नरेन्द्र और राखाल उनकी पाद-सेवा कर रहे थे। मणि भी पास ही बैठा था। महाराज ने संकेत से उसे पाद-सेवा करने के लिये कहा; जिससे एक शिष्य को छुटकारा मिल गया।

यह रविवार का दिन था। उस दिन सन १८८६ ई० के मार्च मास की १४ वीं तारीख थी और तिथि फाल्गुन शुक्ला नौमी थी। विगत रविवार को महाराज का जन्मदिनोत्सव उसी वाटिका में मनाया गया था। विगत वर्ष श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव दक्षिणेश्वर में बड़े ठाट-बाट से मनाया गया था; परन्तु अब की बार महाराज अत्यस्वस्थ थे; अतः सभी शिष्यगण विषाद-सागर में डूबे हुये थे। इस कारण वे महाराज का जन्मदिनोत्सव अच्छी तरह नहीं मना सके।

सभी शिष्य तन, मन, धन से गुरुदेव की सेवा कर रहे थे। मातृतुल्य शारदामणि देवीजी—गुरुराज की धर्मपत्नी—भी दिन रात महाराज की शुश्रूषा करती थीं। सभी तरुण शिष्य भी यहीं पर रहने लगे थे। उन्होंने अपने सांसारिक कार्यों को तिलांजलि देकर उसी अत्युत्तम कार्य के लिये—जिन्होंने इस गूढ़ संसार

में जीवन-सफलता का सच्चा मार्ग बतलाया, उनकी शुश्रुषा के लिये—अपने आत्म-समर्पण किये थे।

जो प्रौढ़ थे—सांसारिक कार्यों में फंसे हुए थे—वे प्रतिदिन महाराज के स्वास्थ्य को देखने के लिये आया करते थे। उनमें से बहुत से शिष्य दो-चार दिन तक गुरुमहाराज के पास ही रह जाते थे।

आज महाराज अत्यस्वस्थ थे। अर्धरात्रि के समय निशापति की धवल ज्योत्स्ना के कारण गृह और उद्यान-भूमि की निराली ही छटा दिखाई देती थी। परन्तु शिष्यों का विषादपूरित मन उस अनुपम छटा का कैसे आनन्द लूट सकता था? जिस सत्पुरुष ने उन्हें रहस्यमय संसार का सच्चा चित्र बतला दिया था, वही आज उन्हें छोड़कर चला जायगा, इसी दुःख में वे सब व्याकुल थे।

जिधर-तिधर शांति का राज्य फैला हुआ था। सृष्टि सुन्दरी निःशब्द थी। दक्षिण की ओर से आनेवाले वसंतानिल के साथ वृन्तपत्र चुपचाप ही बातें करने में गढ़ गए थे। उस प्रशांत समय में महाराज पड़े हुए थे। न तो उन्हें निद्रा ही आती थी और न जागृति ही थी—अत्यस्वस्थता के कारण बेहोशी-सी। कुछ शिष्य-मंडली भी उनके पास ही बैठी हुई थी। कभी कभी महाराज की आंखें भी बन्द हो जाती थीं; परन्तु क्या सचमुच उन्हें निद्रा आती थी? क्या वह 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते' वाली योगावस्था तो नहीं थी?

एम पास ही बैठा था। वह एक शब्द भी नहीं बोल सकता था। पाषाण हृदय को भी विदीर्ण करनेवाली गुरुराज के कष्ट को देखकर उसकी विचित्र ही स्थिति हो गई थी। महाराज ने संकेत से उसे अपने पास बुलाया और धीरे धीरे बड़े कष्ट से कहा, " तुम सभी रोने लगोगे, इसी डर से मैं इतने कष्ट सह रहा हूं, " ' तुम्हें कष्ट हो रहा है; अतएव तुम इस

नश्वर शरीर को छोड़ दो, ' ऐसी तुम्हारी आज्ञा होते ही मैं इस नश्वर शरीर को त्याग दूंगा ।

एम बिलकुल घबड़ा गया । वह कुछ भी नहीं बोल सका ! उनके वे सकरुण शब्द सुनकर सब शिष्यों के हृदय विदीर्ण हो गए ! गुरूराज के वे शब्द सुनकर सभी अवाक् से रह गए ! ईसा जैसा यह आत्मयज्ञ तो नहीं है ? मनुष्य-जाति के उद्धारार्थ—विशेष कर भक्तों का उद्धार करने के लिये—बिना स्वामी के भेड़ों की तरह दीनावस्था होनेवाले भक्तों के लिये—जिस ईसा ने आत्मयज्ञ किया, उसी प्रकार का क्या यह दूसरा आत्मयज्ञ तो नहीं है ? कुछ शिष्य इसी विचार में मग्न हो गए थे ।

जिधर तिधर निशादेवी का पूर्ण साम्राज्य फैला हुआ था । महाराज की दशा अत्यंत शोचनीय होती चली । सभी शिष्य-गण महाराज की अस्वस्थता को देखकर किं कर्तव्य विमूढ़ हो रहे थे ।

कलकत्ता-निवासी मित्रों को महाराज की अस्वस्थता का हाल मालूम होते ही डा० उपेंद्र, कविराज (वैद्यराज) और नवगोपालादि सभी हितैषी वहां पर उपस्थित हुए । तब उन्होंने महाराज की ओर देखकर कहा, " देह जड़-रूप है । यह पंचभूतों से बना हुआ है, अतः उसे यातनाएँ होती हैं इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है । " महाराज गिरीश की ओर देखकर कहा, इस अवस्था में मुझे अनेक ईश्वरीय रूप दिखाई देते हैं । उनमें विविधता है और आश्चर्य की बात यह है कि उनमें मेरा भी रूप दिखाई देता है ।

विन्दु ६५।

ता० १५ मार्च, सोमवार को, प्रातःकाल के आठ बजे के समय, महाराज की दशा कुछ सुधर सी गई थी। नरेंद्र, राखाल, एम, लाटू, शशि, और गोपाल इत्यादि शिष्य मंडली महाराज से बातें करने में तल्लीन थी। महाराज भी उन्हें, संकेत से यथेष्ट उत्तर दे देते थे।

आज सभी शिष्यों के मुखमंडल तेज-हीन दिखाई पड़ते थे। अब तक उन्हें महाराज की पहिले दिन की अस्वस्थता का विस्मरण नहीं हुआ था। उन्हें विगत दिवस की महाराज की शोचनीयावस्था का स्मरण होकर मन ही मन में अपार दुःख होता था।

श्रीरामकृष्ण (एम की ओर देखकर):—क्या यह तुझे मालूम है कि मुझे इस समय क्या दिखाई दे रहा है? मुझे सब दूर ईश्वर ही दिखाई देता है। मनुष्य तथा अन्यान्य जीव तो केवल नामधारी हैं; परन्तु उनमें उसीका अधिष्ठान है। मनुष्य की सभी इन्द्रियां उसके आधीन हैं।

जीव और जगत् के रूप से ईश्वर दिखाई दे रहा है।

मुझे भी एक बार ऐसा ही दिखाई दिया। एक ही वस्तु जीव और जगत् के रूप में दिखाई दी। जिस प्रकार मोम का गृह बनाया जाय, तो उसका प्रत्येक भाग भी मोम ही का होगा। उसी प्रकार बाग, मार्ग, मनुष्य और पशु इत्यादि सभी वस्तुएं एक ही वस्तु की बनी हुई हैं, यह सब केवल एक वस्तु के ही भिन्न भिन्न स्वरूप हैं।

आश्चर्य की बात है कि मुझे स्थंडिल (वेदी), बलि और बलि-दाता इन तीनों का स्वरूप एकसा ही दिखाई देता है।

(जीवों के कल्याण के लिये ही मैं अपना बलि देता हूं और बलि के रूप से ही परमेश्वर व्यक्त होता है। क्या महाराज के कहने का यही उद्देश्य तो नहीं है ?)

महाराज ने निःशक्त स्वर से कहा, ' अहाहा ! उस स्वरूप की कहां तक प्रशंसा की जाय ! '

महाराज बाह्यशून्य हो गए ! वास्तव में वह भावावस्था उनके स्वास्थ्य को हानिकारक थी; किन्तु विचारे वे शिष्य क्या कर सकते थे ?

महाराज सचेत हो गए और बोले, 'अब मेरा सारा दुःख जाता रहा ! अब मैं पुनः पूर्ववत् हो गया हूं । '

महाराज की यह अवस्था देखकर सभी शिष्य मुग्ध हो गए ! लाटू अत्यन्त दुःखित होकर महाराज की ओर टकटकी लगाए देखता रहा ।

महाराज ने एक बार सभी शिष्यों की ओर देखा । उस समय उनके हृदय में अनुपम शिष्य-प्रेम उमड़ आया था । उस प्रेम का कहां तक वर्णन किया जाय ? उसका आकलन करना मनुष्य की बुद्धि के परे है । वह केवल दिव्य था, इतना ही उसके विषय में कह सकते हैं ।

जिस प्रकार माता पिता छोटे बच्चों के साथ बड़े प्यार से बोलते हैं । उसी प्रकार महाराज ने राखाल और नरेंद्र के मुखपर हाथ फिराया । मानों वे पांच वर्ष के छोटे बच्चे ही थे !

थोड़ी देर के अनन्तर महाराज ने एम से कहा ' यदि यह शरीर और भी कुछ काल तक टिका रहता तो लोगों में बहुत ही जागृति होती—चैतन्य लाभ होता—परंतु क्या किया जाय ? वैसा योग ही नहीं है !

सभी शिष्य महाराज का संभाषण बड़े शांत चित्त से सुन रहे थे। तब महाराज ने अपने शिष्यों की कुछ सुनने की अभिरुचि जानकर कहा, 'ईश्वर की भी वैसी इच्छा नहीं है।' अस्तु। इस कलियुग में कोई भी ईश्वर का स्मरण नहीं करता। सभी मनुष्य विषय-मग्न हो गए हैं। इन्द्र लक्ष्मी के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सूझता। मनुष्यों को भक्ति का महत्व मालूम नहीं है। ऐसे लोगों को सब कुछ सरलता से प्राप्त हो सकता है।

अवतारी पुरुष, ईश्वर के मन में मनुष्य विषयक जो वत्सलता होती है, उसका रूप ही होता है। इस जगत् के प्रत्येक मनुष्य को यदि ईश्वर का महत्व मालूम हो जाय तो जगत् की सभी क्रियायें बंद पड़ जायें। शायद महाराज के कहने का यही उद्देश्य तो नहीं है!

राखाल (सस्नेह):—महाराज! आप ही ईश्वर से कहियेगा जिससे आप यहां पर कुछ दिवस तक और रह सकें।

श्रीरामकृष्ण:—यह सर्वथा उसीकी इच्छा पर अवलम्बित है। अपने कहने से कुछ भी नहीं होता।

नरेंद्र:—महाराज! आपकी तथा परमेश्वर की इच्छा एक ही स्वरूप की है।

श्रीरामकृष्ण (सभी भक्तों की ओर देखकर):—सचमुच ही मेरे कहने से कुछ भी नहीं होगा। वह सर्वथा उसीकी इच्छा पर अवलम्बित है।

अब मुझमें और माता में एक रूपता हो गई है ऐसा मुझे साफ दिखाई दे रहा है। एक समय राधा ने कृष्ण से कहा, महाराज! अब आप कदापि अपना मनुष्य रूप मुझे न दिखाइयेगा। आपके मेरे हृदय में वास कर लेने पर मुझे इस रूप के देखने की कोई आवश्यकता नहीं है; परन्तु शीघ्र ही वह कृष्णदर्शन के लिये अत्यन्त उत्सुक हो गई। वह उन्हें न देखकर अत्यन्त व्याकुल हो गई। परन्तु भगवदिच्छा बलीयसी! बहुत दिनों

तक कृष्ण नहीं आए। राखाल (मन में) कदाचित् चैतन्य के विषय में—गौरांगावतार के विषय में—महाराज बोल रहे हैं ?

एम (मन में) माता से तादात्म्य हो गया ! ब्रह्मैक्य हुआ ! अब अलग रहना अत्यन्त कठिन है। पुत्र माता में लीन हो गया—मिल गया। क्या यही तो महाराज के कहने का उद्देश्य नहीं है ?

सभी भक्त चुपचाप बैठे थे। महाराज सस्नेह दृष्टि से उनकी ओर देख रहे थे। उन्होंने अपने दोनों हाथ अपने सिर पर रखे थे—वे कुछ बोलने का विचार कर रहे थे।

बिन्दु ६६ ।

श्रीरामकृष्ण (नरेन्द्रादि शिष्यों से):—यहां (मुझमें) दो व्यक्ति हैं। एक वह—मेरी माता—दूसरा भक्त। अब वह दूसरा व्यक्ति अस्वस्थ है। क्या तुम यह सब समझे ?

सभी शिष्य मंडली चुपचाप उनका संभाषण सुन रही थी।

श्रीरामकृष्णः—हाय ! मैं यह किसे सुनाऊं ! मेरा कहना कौन समझेगा ?

थोड़ी देर ठहर कर पुनः बोले—

वह (परमेश्वर) मनुष्य होकर—अवतार धारण कर—भक्त-मंडली सहित यहां आता है। पुनः भक्त उसके साथ ही (माता की ओर) चल देता है।

राखालः—महाराज ! इसीलिये हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमें छोड़ कर मत जाइये।

महाराज ने मृदु हास्य किया। वे प्रेम में मग्न होकर बोले।

* बाउलों का मेला अकस्मात एकाध घर पर जाता है; परंतु कुछ देर के पश्चात् वह वहां से चल देता है। उसके आने—

* बाऊल सर्वसंग त्याग कर ईश्वर-प्राप्ति में ही तल्लीन रहते हैं।

नरेंद्रादि शिष्य चुपचाप बैठे थे। वे टकटकी लगाए महाराज की ओर देख रहे थे।

(क्या नरेन्द्र को उपदेश करने के मिस से हो तो महाराज अपनी अवस्था का वर्णन नहीं करते हैं?)

नरेन्द्रः—त्याग का—वैराग्य का—महत्त्व कहने पर सभी मंडली मुझ पर अत्यन्त क्रोधित होती है।

नरेन्द्र और संसार त्याग।

महाराज (मृदु स्वर से)—त्याग की अत्यन्त आवश्यकता है। ईश्वर-प्राप्ति के लिये सांसारिक बन्धनों से बिलकुल अलग रहना चाहिये।

थोड़ी देर तक महाराज के मुंह से एक शब्द तक नहीं निकला। उन्होंने अपने अंगों प्रत्यांगों पर हाथ फेर कर कहा, 'मान ले कि यहां पर दो वस्तुएँ हैं और एक के परे दूसरी है। परन्तु वे ऐसी दशा में हैं कि पहिली वस्तु को अलग हटाए बिना दूसरी कदापि नहीं ले सकते हैं। यदि तुझे उस दूसरी वस्तु को लेना है तो तुझे पहिली वस्तु को अवश्य ही अलग हटा देना चाहिये।'

नरेन्द्रः—हाँ, महाराज! वास्तव में मुझे उसको अलग हटा ही देना चाहिये।

महाराज (नरेन्द्र से):—तुझे सभी वस्तुएं ईश्वरमय दिखाई देने लगी हैं। अब तेरा इस बात पर दृढ़ विश्वास हो गया है कि प्रत्येक वस्तु ईश्वरमय है। अर्थात् ऐसी दशा में तुझे सिवाय ईश्वर के और कुछ भी नहीं दिखाई देगा। फिर संसार और ईश्वर में कुछ भी भेद नहीं रहेगा।

भूमिका

To proclaim and make clear the fundamental
ity underlying all religions was the mission
my Master. Other teachers have taught special
igions which bear their names but this great
acher of the ninteenth century made no claim
himself, he left every religion undisturbed
cause he had realized that, in reality, they are
part and parcel of one Eternal Rligion.

Vivekanand.

गत् के इतिहास में १६ वीं शताब्दि बड़ी ही महत्व-
है। इस शताब्दि में जितनी महत्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, उतनी
यद ही अन्य किसी शताब्दि में हुई हों ! इस शताब्दि
भौतिकशास्त्रों की तो अत्यन्त उन्नति हुई और इसका
ाव जगत् के सभी राष्ट्रों पर पड़ा। मुख्यतः इसी कारण
र्वात्य और पाश्चिमात्य राष्ट्रों में दृढ़तर सम्बन्ध हो गया।
सम्बन्ध से पश्चिमीय सुधारों की जड़ भारत में जम गई,
ससे भारतवर्ष की परिस्थिति में बड़ा भारी अन्तर हो
। इस प्रकार १६ वीं शताब्दि में पश्चिमीय भौतिकशास्त्र
सारे जगत् को आश्चर्यान्वित कर दिया। ऐसे सुअवसर
हमारे सौभाग्य से हमारे अत्यन्त प्राचीन वेदान्तधर्म का
ुर होने के चिन्ह दिखाई देने लगे। तदनुसार जिस प्रकार
वीं शताब्दि भौतिकशास्त्र के प्रकाश से अलौकिक कहु-
ई उसी प्रकार २० वीं शताब्दि ने पश्चिमीय भौतिक-

महाराज—मृण्मय मूर्ति के विषय में तू कहता था। पर इधर देख, ऐसी मूर्तियों की भी पूजा करना बहुत बार काम दे जाता है। पूजा के ये नाना प्रकार स्वयं ईश्वर ने ही उत्पन्न किये हैं। ज्ञान सोपान की भिन्न भिन्न सीढ़ियों पर जा बैठे हुए, भिन्न भिन्न मनुष्यों की योग्यता के उपयोग के लिए उस परमात्मा ने इन सारे उपायों की योजना की है। माता अपने बच्चों के लिए ऐसा भोजन तयार करती है कि जिसके लिए जिसकी जरूरत हो। जो जो जिसको पचा सके—वही उसको मिले। मान, लो कि एक माता के पाँच लड़के हैं। घर में मछलियाँ (बंगाली तरकारी !) आईं, अब माता उसके अनेक प्रकार करती है। इससे जिस प्रकार की मछलियाँ जिसको प्रकृति के अनुकूल होती हैं वे उसे दी जा सकती हैं। एक बालक को वह मछलियों का मसालेदार रसा देती है, पर जिसकी पचनशक्ति अच्छी नहीं होती, उसे केवल उनका काढ़ा ही वह बनाती है, तीसरे के लिए बहुत सी इमली डाल कर वह उन मछलियों की कढ़ी बनाती है, चौथे के लिए वह मछलियाँ तलती है—इस प्रकार जिसके पेट के लिए जो उचित है वही उसे देने के लिए वह विचारपूर्वक प्रबन्ध करती है। आया समझ में ?

एम—हाँ, महाराज! अब समझ गया। पहले पहल (पूर्व-दशा में) यह दृढ भाव रख कर, कि मृण्मय मूर्ति ही परमेश्वर है, उसकी पूजा (भक्ति) करनी चाहिए। फिर भक्त के मन में जब ज्ञान प्रकाश पड़े—फिर भक्त को परमेश्वर का सच्चा स्वरूप जब मालूम हो—तब वह भक्ति (पूजा) करते समय मूर्ति चाहे आगे न रक्खे तो भी काम चल सकता है।

महाराज—सच है। और एक बार जहां उसको परमेश्वर देख पड़ा, एक बार जहां उसे परमेश्वर के सच्चे स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान हुआ, वहीं समझ लो कि इस विश्व की प्रत्येक वस्तु

महाराजः—सभी कुछ तन्मय—ईश्वरमय—है,ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने पर तुझे अन्य कुछ भी नहीं दिखाई देगा। फिर संसार का स्मरण तक न होगा।

परन्तु त्याग अवश्य ही करना चाहिये। यहां पर जो जो आते हैं, उनमें से कोई भी संसार-बन्धनों से बन्धित नहीं हुआ है। (सस्मित) परन्तु उनमें से किसी किसी की स्त्री की इच्छा होती है। (राखाल, एम इत्यादि मृदु स्मित करते हैं) परन्तु वह नाममात्र को इच्छा है। उनका संसार है, किन्तु वे उसके बन्धनों से बन्धित नहीं हुए हैं; वे अलिप्त हैं—अनासक्त हैं। अब उन सब की इच्छा पूर्ण हो गई है, अतएव अब यदि वे अपना ध्यान ईश्वर की ओर झुकावें तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नरेन्द्र और वीरभाव।

महाराज सस्नेह दृष्टि से नरेंद्र की ओर देखने लगे। देखते देखते ही वे परमानन्द में पुलकायमान हो गए। उन्होंने भक्तों की ओर देखकर कहा, 'क्या खूब?'

नरेन्द्र—(सहास्य) महाराज, 'क्या खूब' से क्या अर्थ समझें?

महाराजः—त्याग की तैयारी!

महाराज के कहने का यह उद्देश्य था कि नरेन्द्र के मन में त्याग का तत्व खूब ही समा गया है।

नरेन्द्रादि भक्त महाराज की ओर टकटकी लगाए देख रहे थे। थोडी देर के अनन्तर राखाल ने कहा।

राखाल:—(सहास्य) अब नरेन्द्र महाराज के विचारों का आकलन कर सकता है।

महाराज ने हँस कर उत्तर दिया।

सत्य है। मैं जानता हूं कि अब बहुत से लोग मेरे विचार समझने लग गए हैं। (एम से) क्या यह सत्य है?

एमः—हां, महाराज, यह बात सत्य है।

महाराज थोड़ी देर तक राखाल और एम की ओर ध्यानपूर्वक देखा, तदनन्तर राखालादि भक्तों की ओर अँगुली से संकेत कर उनका ध्यान नरेन्द्र और एम की ओर आकर्षित कराया। पहली बार नरेन्द्र की ओर अँगुली बताई और दूसरी बार एम की ओर। उस संकेतार्थ को समझ कर राखाल ने कहा—

राखाल—(सहास्य) महाराज, आपका यही कहना है न, कि नरेन्द्र में वीरभाव है और एम में सखीभाव है। (सब हँसते हैं।) सखीभाव अर्थात् वृन्दावन की गोपियों की तरह परमात्मा में 'प्रियभाव' रखकर उसकी भक्ति करना।

महाराज हँसने लगे।

नरेन्द्र—(सस्मित) एम मितभाषी है, शर्मीला है; अतएव कदाचित तू ऐसा कहता है!

महाराजः—(नरेन्द्र से) अच्छा, यह बता कि मुझमें कौनसा भाव है?

नरेन्द्रः—महाराज, आपमें सभी भाव प्रस्तुत है। आपमें वीरभाव है क्योंकि आप एकाध वीर की तरह विवेक रूपी खड्ग से संसार रूपी घने जंगलों का नाश कर परमार्थ का मार्ग बतला सकते हैं और सखीभाव की तरह आपमें भक्ति रूपी दिव्य भाव भी है।

श्रीरामकृष्ण कौन हैं?

इन शब्दों को सुनते ही महाराज भावपूर्ण हो गए। वे अपने हृदय पर अपना हाथ रखकर कहने लगे।

महाराज—(नरेन्द्रादि भक्तों से) मुझे ऐसा साफ दिखाई दे रहा है—मैं यह स्वयं ही देख रहा हूं—कि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति यहीं से है।

नरेन्द्रः—हाँ, महाराज! यह बात सत्य है। इस सृष्टि में जितने कार्य हैं उन सभी की उत्पत्ति आप ही से हुई है!

महाराज (राखाल से सानन्द)—देख, इसकी आकलन शक्ति कितनी तीव्र है!

तदुपरान्त नरेन्द्र ने गाना शुरू किया। उसकी वृत्ति त्याग की ओर थी; इस कारण उसका गाना वैराग्य पर था।

पद।

नलिनीदलगतजलमतितरलम्, तद्वज्जीवनमतिशयचपलम्।
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका, भवति भवार्णवतरणे नौका।

इस पद के सुनने पर महाराज ने नरेन्द्र से संकेत कर कहा "आहाहा! ये भाव—विचार—बिलकुल सामान्य हैं! रँगरूट को सोहने जैसे हैं!" तब नरेन्द्र ने दूसरा सखीभावात्मक पद गाया।

उस पद को सुनते ही उसके माधुर्य पर महाराज और सभी भक्त मुग्ध हो गये। महाराज और राखाल के नेत्रों से तो प्रेमाश्रु भी बह निकले!

व्रजगोपीभाव से उन्मत्त होकर—गोकुल की गोपपत्नियों की तरह भगवत्प्रेम में व्याकुल होकर—तन्मय होकर—नरेन्द्र भक्ति-सागर में डुबकियाँ खाने लगा।

मूर्ति—यावत दृश्य पदार्थ—उसे अव्यक्त चैतन्य का व्यक्त रूप ही देख पड़ेंगे। उसे मूर्ति मृण्मय देख ही न पड़ेगी—वह चिन्मय ही देख पड़ेगी। चैतन्य को ईश्वर समझो।

प्रश्नः—महाराज! क्या करने से मनुष्य का चित्त ईश्वर में दृढ़ हो सकता है?

महाराज:—इसके लिए मनुष्य को मुख से परमेश्वर के नाम-गुण-कर्मों का, अखंड रीति से, गान करना चाहिए। निरन्तर साधुसमागम का लाभ लेते रहना चाहिए। जिन्होंने परमेश्वर के लिए ऐहिक वस्तुओं पर पानी छोड़ दिया है, ऐसे भगवद्भक्तों के बीच में उसे सदैव उठना बैठना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि गृहस्थी की अनेक चिन्तायें जब मनुष्य के आसपास नाच रही हैं तब परमेश्वर की ओर उसका ध्यान लगना अत्यन्त कठिन है। अतएव परमेश्वर का ध्यान करने के लिए मनुष्य को बीच-बीच में एकान्त सेवन करना चाहिए। चाहे जो हो, एकान्तवास के बिना परमात्म-साधन का नूतन अभ्यास कभी नहीं चल सकता। वृक्षों के पौधे जब तक छोटे रहते हैं तब तक उनकी रक्षा के लिए उनके आसपास टट्टी बांधनी पड़ती है, यदि ऐसा न किया जाय तो बकरियां और गौयें खाकर उनका विध्वंस कर डालें। ध्यान के तीन स्थान हैं:—मन, एकान्तस्थल और वन। सत् (परमेश्वर) और असत् (जगदाभास) के विचार का भी अभ्यास मनुष्य को रखना चाहिए। इसी मार्ग से मनुष्य में वह सामर्थ्य आती है जो इन्द्रियभोग, सम्पत्ति, कीर्ति, सत्ता, इत्यादि की आसक्ति को फटकार देती है।

एकान्त का महत्व।

प्रश्नः—महाराज! गृहस्थ की हैसियत से मनुष्य को संसार में कैसे रहना चाहिए?

महाराज.—निरंतर परमेश्वर के पद-कमल में चित्त रख कर अपने सारे कर्तव्य करते रहो। यदि माता-पिता और पत्नी तथा लड़कों के सम्बन्ध में कहो, तो वे सब अपने ही हैं, यह समझ कर उनकी सेवा में निरन्तर तत्पर रहो; परन्तु अपने मन ही मन में यह पक्का समझ लो—गांठ में बांध लो—कि वे कुछ सचमुच अपने नहीं हैं। हाँ, यदि उनकी भी उस प्रभु पर वैसी ही भक्ति हो तो बात दूसरी है। वास्तव में केवल ईश्वर ही मात्र मेरा है और जिनकी उस ईश्वर में दृढ़ भक्ति है वे भी।

श्रीमान् के घर की दासी (नौकरानी) उसके सब काम करती है, उसका ध्यान सदा उसके घर की ओर रहता है। उसके धनी का घर कुछ उसका खास घर नहीं है। परन्तु अपने पेट के लड़कों की तरह वह अपने मालिक के लड़कों का प्यार करती है; "मेरा दुलारा," "मेरा बेटा" आदि कह कर वह उन्हें खिलाती है; पर इसके साथ ही उसमें यह ज्ञान पूर्णरूप से जागृत रहता है कि ये कुछ हमारे लड़के नहीं हैं। उसी प्रकार कछुई अपना भक्ष्य ढूंढने के लिए पानी में संचार करती रहती है; अच्छा तू जानता है, उसका मन कहां रहता है? निस्सन्देह किनारे पर, जहां वह अपने अंडे रखती है उसी जगह। इसी न्याय से तू गृहस्थी के अपने सब काम कर; पर यह खबरदारी अच्छी तरह रख कि मन प्रभु के चरणारविन्दों में रत होकर रहे।

यह अच्छी तरह ध्यान में रख कि, साधन के द्वारा भक्ति का संचय किये बिना यदि तू गृहस्थी में पैर रक्खेगा तो अवश्य तू गड्ढे में पड़ेगा। संकट, दुःख और देह की स्वाभाविक अनेक व्याधियों आदि से तेरे मन की समतोलता डगमगाने लगेगी—मन की शान्ति भंग हो जायगी। गृहस्थी से जैसा तेरा तादात्म्य होगा—गृहस्थी के झगड़ों में जितना ही अधिक तू पड़ेगा उतनी ही अधिक आसक्ति गृहस्थी पर तेरी जमेगी।

तुझे यदि कटहर काटना है तो पहले हाथों में तैल लगा नहीं तो उनकी चिपचिपाहट तेरे हा में लगेगी। पहले भक्ति का तैल अ हाथों में लगा ले और फिर गृहस्थी कामों में हाथ डाल। पर इसके लि

एकान्तवास में ईश्वर का चिन्तन।

एकान्तवास की बहुत बड़ी आवश्यकता है। मान ले कि तु नैनू बनाना है। अब इसके लिए तुझे दही वैसी जगह रख चाहिए कि जहां वह किसीके हाथ न लगे। जायन में यदि कि का हाथ लग गया तो वह दही ठीक नहीं जमेगा—ख़र हो जायगा। फिर आगे का काम, एकान्त स्थल में बैठ म मथन करने का है।

एकान्त स्थान में बैठ कर यदि तू अपना चित्त परमेश्वर ओर लगावेगा तो तुझमें भक्ति और त्याग का पानी गि जायगा। वही चित्त यदि तू गृहस्थी को अर्पण कर देगा वह पाजी और बदमाश बन कर सिर्फ गृहस्थी के ही व्यस में लग जायगा। गृहस्थी से तात्पर्य कनक और कान्त सम्बन्धी झगड़ों से है।

गृहस्थी से पानी की और मन से दूध की उपमा दी सकती है। अच्छा दूध एक बार जब पानी में मिला दि जाता है तब फिर वह शुद्ध दशा में दुबारा नहीं लाया सकता। पर उसका (दूध का) यदि रूपान्तर कर दिया ज तो (पानी में मिलने पर भी) उसकी शुद्धता कायम रक्खी सकती है—अर्थात् पहले उसकी नैनू बना कर फिर य उसे पानी में डालें तो पानी में रह कर भी वह (दूध) पा में लिप्त नहीं होता। तो फिर एकान्त में साधन द्वारा तू अ मन के दूध का भक्ति की नैनू में रूपान्तर कर (अर्थात् एका वास का आश्रय करके दृढ़ अभ्यास से मन भक्तिमय ड़ाल)। नैनू का, पानी से किसी हालत में भी एक जीव न

होता। वह पानी के पृष्ठ भाग पर सिर्फ तैरती है। उसी प्रकार तेरा मन भी गृहस्थी में पड़ कर भी उससे अलिप्त रहेगा। यद्यपि वह गृहस्थी में रहेगा तथापि गृहस्थ नहीं होगा। ज्ञान अथवा भक्ति के अमृत का स्वाद पा जाने के कारण वह गृहस्थी की मदिरा पीने के लिए कभी तयार न होगा। वह गृहस्थी से अलग रहेगा—उसमें आसक्त होकर न रहेगा।

इसके साथ ही विवेक का भी साधन कर; कनक और कान्ता (गृहस्थी) मिथ्या हैं; एक परमेश्वर ही सच्चा है। धन का क्या उपयोग है ? हाँ, उसकी सहायता से अन्न, वस्त्र और निवास-स्थान प्राप्त किए जा सकते हैं। बस, उनके उपयोग की मर्यादा इतनी ही है, आगे नहीं है। निस्सन्देह, धन के बल पर कुछ ईश्वर तुझे नहीं दिखाई दे सकता। अथवा धन से कुछ जीवन की सार्थकता नहीं है। यही विवेक की दिशा है—इसे क्या तू समझ गया ?

एम.—हाँ, महाराज समझ गया। हाल ही में मैंने, एक मौका पाकर, " प्रबोधचन्द्रोदय " नामक संस्कृत नाटक पढा, उसमें विवेक के विषय में कुछ थोडा ज्ञान मुझे हुआ है।

महाराज.—हाँ, विवेक। विचार कर, धन में अथवा स्त्री की लावण्यता में ऐसा क्या धरा है ? तू अपनी विवेकशक्ति का यदि उपयोग करेगा तो तुझे आप ही आप मालूम हो जायगा कि अत्यन्त लावण्यवती स्त्री की देह भी नियमानुसार केवल मांस और रक्त, त्वचा और हाड, मेद और वसा आदि से ही—अन्य प्राणियों की ही देह की तरह आंतड़ी, मूत्र, विष्ठा इत्यादि से ही—बनी है ! आश्चर्य तो इस बात का है कि मनुष्य परमेश्वर को भूल जाता है और अपना मन केवल इस प्रकार की वस्तुओं को ही अर्पण कर देता है !

एम.—महाराज ! क्या परमेश्वर देखा जा सकता है !

महाराजः—अवश्य! परमेश्वर देख पड़ने के कुछ साधन हैं:—(१) बीच बीच में एकान्तवास सेवन; (२) उसके नाम-गुण-कर्मों कीर्तन; (३) विवेक; (४) अत्य प्रेमपूर्वक—प्रभु के लिए अत्यन्त आतुर होकर—की विनती (प्रार्थना)।

परमेश्वर कैसे देख पड़ेगा।

एमः—महाराज! मन की कौन सी अवस्था आ जाने पर मेश्वर का दर्शन होता है?

महाराजः—अन्तःकरण से आर्त होकर, बिलकुल आतुर होकर, सिड़ पागल होकर, प्रभु के लिए पुकार कर—इतने पर वह तुरन्त ही तुझे द देने के लिए दौड़ आवेगा। लोग स्त्री-बच्चों के लिए आँखों से घ पानी निकालते हैं। वे धन के लिए अपने ही आँसुओं बाढ में सुख से बहते जाते हैं; पर ईश्वर के लिए क्या अपनी आँखों से एक बून्द भी पानी निकालता है? लोगों दिखाने के लिए नहीं; किन्तु अन्तःकरण पर उसकी भेंट भूत सवार होना चाहिए। उस दशा में तू प्रभु की पुकार क

सूर्योदय होने के पहले प्रभातकाल की लालिमा देख प लगती है (लालिमा दिखते ही समझ लेना चाहिए कि सूर्य-उदय होगा।) तद्वत् अन्तःकरण की सच्ची आतु भावी ईश्वर-दर्शन का पूर्व-चिन्ह ही है।

गृहस्थ मनुष्य का गृहस्थी-विषयक प्रेम, माता का सन्त प्रेम और पतिव्रता का पति प्रेम—इन तीन संयुक्त प्रेमों बराबर यदि तेरा ईश्वर-प्रेम बलवान् हो जायगा तो तुझे ई देख पड़ेगा।'

तात्पर्य यह है, कि परमेश्वर का दर्शन होने के लिए मन को उस पर अनन्य अथवा अव्यभिचारी भक्ति रखनी चाहि मनुष्य को जगन्माता की ऐसी पुकार करना चाहिए कि उसके कानों पर जाकर टकर खाय।

बिल्ली का बच्चा सिर्फ इतना ही जानता है कि 'म्यावँ'-'म्यावँ' करके अपनी माता को किस प्रकार पुकारना चाहिए। फिर आगे क्या करना है, सो सब बिल्ली को मालूम रहता है। वह अपने बच्चों को, जहां उसे अच्छा लगता है वहां ले जाकर रखती है; घड़ी भर में रसोईघर में, घड़ी ही भर में मालिक के गुलगुले बिछौने पर! हाँ, पर बिल्ली के बच्चे को सिर्फ इतना ज्ञान अवश्य होता है कि अपनी माँ को कैसे पुकारूं। इसी न्याय से, मनुष्य जब अनन्य भाव से अपनी परम दयालु माता (परमात्मा) की पुकार करता है तब वह तुरंत ही दौड़ता हुआ आकर उसका योगक्षेम देखता है। सिर्फ पुकार करना—इतना ही उसका काम है! हाँ, इतना उसे अवश्य ही करना चाहिए।

बिन्दु ५।

एम बराहनगर में, अपनी बहन के घर में, रहता था। वह गाँव, दक्षिणेश्वर के देवालय से करीब एक मैल है। एम ने जब से श्रीरामकृष्ण के दर्शन किए तब से उसके मन में उन्हींके विचार बराबर आते रहते थे। उसे सदा यही भास होता, कि उनकी हास्यमय मूर्ति सदैव मेरे सामने खड़ी है और उनके अमृततुल्य वचन मैं ध्यानपूर्वक सुन रहा हूं। वह मन ही मन में यह कहता कि यह दरिद्री ब्राह्मण जीवन और आत्मा के गहन तत्व इस प्रकार, स्पष्ट करके, कैसे बतलाता है? और इसके बतलाने का ढंग भी बहुत ही सुबोध है! जैसे कोई बालकों को समझाता हो! एम की उत्कंठा इतनी बढ़ी कि उसे आगे चल कर आतुरता का स्वरूप प्राप्त हो गया। उसे भगवान् रामकृष्ण का भाषण सुने बिना रात-दिन चैन ही न पड़ती थी। जितनी जल्दी हो सकता उतनी जल्दी वह उनके दर्शनों

को जाता। अगले रविवार को तीन-चार बजे के करीब बराह
नगर के नेपालबाबू को साथ लेकर वह फिर देवालय में गया।
महाराज उसी कोठरी में पलँगडी पर बैठे थे। आस-पा
भक्तमंडली भी खूब जमा थी। रविवार का दिन था, इ
कारण सभी लोग स्वाधीन थे। एम की अभी किसीसे पह
चान न हुई थी। महाराज को हाथ जोड कर नमस्कार करने
बाद एम एक तरफ जा बैठा। महाराज हास्यवदन होकर भ
लोगों से वार्तालाप कर रहे थे।

विवेकानन्दः—बुरे लोगों से कैसा बर्ताव करें ?

एम तुरन्त समझ गया कि महाराज नरेन्द्र (विवेकानन्द
नामक एक तरुण से कुछ कह रहे हैं
नरेन्द्र की अवस्था उस समय सिर्फ उन्नी
वर्ष की थी। वह कालेज का विद्या
था और साधारण ब्राह्मोसमाज
अनुयायी (मेम्बर) था। उसकी वाणी में तेज ओतप्रोत भ
था। उसके नेत्र विशाल और खूब काले थे। उसमें बुद्धि
तेज चमक रहा था और अन्तरात्मा के बडप्पन की साक्षी उ
के चेहरे पर से सहज ही मिल रही थी। भक्त की चेष्टा जैस
होनी चाहिए वैसी उसकी थी।

एम ने समझा कि संसारी जनों के बर्ताव के विषय
वार्तालाप हो रहा है। जो लोग ईश्वर-मार्ग की ओर बढ़ते
उनका ये लोग (संसारी लोग) बहुत उपहास करते हैं। अतए
प्रश्न यह था कि इनके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए।

महाराज (हँस कर नरेन्द्र से):—तेरा क्या कहना है? नरे
प्रपंची लोग ईश्वर-भक्तों की मनमानी निन्दा करेंगे। हाथी ज
कभी रास्ते से निकलता है तब, सचमुच, सैकड़ों कुत्ते भौंक
हुए उसके पीछे लगते हैं; दूसरे प्राणी भी मनमाना शोरगु
मचाते हैं; पर हाथी क्या उनकी ओर कुछ भी ध्यान देता है
वह शान्तिपूर्वक अपना रास्ता ते करता हुआ चला ही जा

है। बेटा ! मान ले, कि लोग तेरे पीछे खूब तेरी निन्दा कर रहे हैं; अब तू उन लोगों का क्या करेगा ?

नरेन्द्रः— मैं समझूंगा, कि मेरे पीछे कुत्तियाँ ही भौंक रही हैं।

महाराज (हँस कर):—हाँ, बेटा ! एकदम इतना आगे मत बढना (हँसी)। यह ध्यान में रख, कि ईश्वर सब वस्तुओं में—फिर चाहे वे निर्जीव हों चाहे सजीव—बसता है। अतएव प्रत्येक वस्तु हमारे लिए पूजनीय ही है—फिर वह चाहे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पाषाण, कुछ भी क्यों न हो।

संसार में चलते समय सिर्फ इतनी ही खबरदारी रखना हमारे हाथ में है, कि हम सज्जनों का सहवास करें और दुर्जनों से चार कदम दूर रहें। बाघ भी ईश्वररूप ही है, इसमें झूठ नहीं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम एकदम उसके कंधे में कंधा लगा कर और उसे छाती से चिपका लेवें (हँसी)। साधु तुकाराम ने भी कहा है कि साँप, बिच्छू भी नारायणस्वरूप ही हैं; पर उनकी दूर से वन्दना करो।

इस पर शायद कोई यह कहेगा, कि बाघ जब ईश्वर का ही एक स्वरूप है तब उसे देख कर हमें भागना क्यों चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि तुझसे जो यह कहते हैं कि बाघ से दूर भाग जाओ वे भी तो अन्य स्वरूप में ईश्वर ही हैं। अतएव उनका कहना हम क्यों न मानें ?

एक वन में एक महात्मा रहता था। उसके बहुत शिष्य थे। उसने एक दिन उन्हें यह उपदेश दिया:—"देखो बच्चा ! ईश्वर चराचर में व्याप्त हो रहा है। संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसमें वह न हो—यह तत्व ध्यान में रख कर सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के सामने नम्रतापूर्वक और भक्तिपुरस्सर हमें शिर झुकाना चाहिए।" बाद को एक दिन उसका एक शिष्य अग्निहोत्र के लिए ईंधन लाने को बाहर गया। मार्ग में उसे यह चिल्लाहट सुन पड़ी कि, "रास्ते से अलग रहो,

रास्ते से अलग रहो ! वह देखो मतवाला हाथी स्वच्छन्द हो कर भागता चला आता है । " यह चिल्लाहट सुन कर उस शिष्य को छोड़ कर अन्य सब लोग अपनी अपनी जान लेकर भगे । उस शिष्य ने अवश्य अपने मन में यह विचार किया कि हाथी ही क्यों न हो, पर है तो वह ईश्वर स्वरूप ही। अतएव मुझे भागने की क्या आवश्यकता है ? बस, वह अपनी जगह पर ही डँटा रहा; और परमेश्वर के समान हाथी की वन्दना करके वह उसकी स्तुति करने लगा। महावत चिल्ला ही रहा था कि " हटो, हटो " ; पर वह शिष्य पग भर भी नहीं हटा । अन्त में हाथी ने उसे सूँड़ से पकड़ कर एक तरफ फेंक दिया । शिष्य बेहोश पृथ्वी पर पड़ा रहा । उसका शरीर घायल हो गया; और चोट अधिक लगने के कारण उसके शरीर से रक्त भी बहने लगा ।

यह हाल जब गुरु के कानों तक पहुँचा तब वह अपने अन्य शिष्यों के साथ उस जगह पहुँचा और अपने शिष्य को आश्रम में लाकर औषधोपचार किया । शिष्य जब होश में आया तब उससे पूछा गया कि " जब लोग चिल्ला रहे थे कि मतवाला हाथी भागा आ रहा है तब तू रास्ते से हटा क्यों नहीं ? " उस बालक ने उत्तर दिया:—" गुरुजी ने हम लोगों से एक बार कहा नहीं था, कि मनुष्य और अन्य प्राणियों के रूप में परमेश्वर ही विराजमान् है ? जब मैंने देखा कि गज परमेश्वर आ रहा है तब वहां से भग जाने की आवश्यकता मैंने नहीं समझी । " इस पर गुरु ने कहा, " बच्चा ! यह सच है कि हाथी के रूप में आनेवाला वह परमेश्वर ही था; पर महावत-परमेश्वर ने क्या तुझे एक ओर हट जाने की आज्ञा नहीं दी ? प्रत्येक वस्तु ईश्वर-रूप है, इसमें कोई सन्देह नहीं पर हाथी में यदि उसका वास है तो महावत में, उससे अधिक नहीं तो क्या उतना भी नहीं, ईश्वर का अस्तित्व है

शास्त्र तथा वेदान्तधर्म के सम्मिलन से सारे जगत् में युगांतर प्रस्थापित कर दिया। इस प्रकार Materialism को दबा कर सत्य धर्म का स्वरूप और रहस्य लोगों को समझा देने के लिये तथा सारे जगत् में प्रेम, एकता, सहकारिता भाव उत्पन्न करने के लिये जो महात्मा इस भूतल पर अवतीर्ण हुए, उनमें श्रीरामकृष्ण परमहंस की प्रमुखता से गणना की जाती है।

श्रीरामकृष्ण २० वीं सदी के शंकराचार्य स्वामी विवेकानन्द के गुरू थे। उनका चरित्र कितना बोधप्रद तथा मनोरंजक है, यह अन्यत्र प्रकाशित संक्षेप चरित्र के मनन करने से ज्ञात हो सकता है। उसी महात्मा के अमृतमय उपदेश का संग्रह इस ग्रंथ में किया गया है। इस ग्रंथ का ध्यानपूर्वक मनन करने से श्रीरामकृष्ण की योग्यता का महत्त्व मालूम हो सकता है। अतएव यदि इस ग्रंथ को ही श्रीरामकृष्ण का सत्य चरित्र कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी। श्रीरामकृष्ण धर्म के कई गूढ़ तत्व बड़ी सरल भाषा में अपने शिष्यों को समझा दिया करते थे। वे अनुपम तत्व इस ग्रंथ में संग्रहित हैं ये तत्व श्रीरामकृष्ण के एक गृहस्थाश्रमी शिष्य ने ही संग्रहित कर प्रकाशित किये हैं। वे शिष्य अद्यावधि जीवित हैं। वे पहिले नास्तिक थे, परन्तु भगवान रामकृष्ण की वाक्सुधा का पान करने से उनके मन का भ्रम दूर होगया और उन्होंने अन्यान्य लोगों के उपकारार्थ इस अमूल्य ग्रंथ को प्रकाशित किया। यदि वे इस ग्रंथ को प्रकाशित नहीं करते तो सारा जगत् इस अनुपम रत्न-भाण्डार से वंचित रहता।

श्रीरामकृष्ण ने जगत् मान्य वेदान्तधर्म के सर्वांगों का विशद विवेचन और सभी धार्मिक कूट प्रश्नों को हल किया है उन्हींका यह संग्रह है। अतएव जो मनुष्य इस ग्रंथ का ध्यानपूर्वक मनन करेंगे उनके मन की सभी शंकाएँ मिट जायँगी। अस्तु।

अतएव अब तू मुझसे बतला कि तूने सूचना पर ध्यान क्यों नहीं दिया ?"

शास्त्र में यह कहा है कि, पानी ईश्वर ही है। पर कोई पानी देव-पूजा के काम में आता है; कोई पानी बर्तन धोने, अथवा हाथ-मुख धोने के काम का होता है—पीने में अथवा पूजा के काम में उसका उपयोग नहीं किया जाता। इसी न्याय से, जगत् में अच्छे मनुष्य भी हैं, बुरे भी हैं; ईश्वर पर भक्ति रखनेवाले हैं और नहीं रखनेवाले भी हैं। यह सत्य है कि उन सब के अन्तर में ईश्वर का वास है। पर जो बुरे हैं और जिनकी ईश्वर पर भक्ति नहीं है उनसे किसीको सम्बन्ध न रखना चाहिए—उनसे अपना घनिष्ठ सम्बन्ध कभी न रखना चाहिए। बहुत हुआ तो बस किसीसे नमस्कार काफी है। चमत्कार भर के लिए पहचान रक्खी जा सकती है। पर बहुतों के साथ उतनी भी ठीक नहीं। ऐसे लोगों से दूर रहना ही अच्छा है।

नरेंद्रः—दुष्ट लोग जब हमारे साथ अपकार करने लगें अथवा यदि उन्होंने प्रत्यक्ष हमारे ऊपर अपकार किया तो क्या हमें चुप ही रहना चाहिए।

विवेकानन्दः—अपकार का बदला अपकार से न देना चाहिए ?

महाराजः—जग में रहनेवाले मनुष्य को—विशेष कर गृहस्थाश्रमी मनुष्य को—ऊपर से यह अवश्य प्रकट करना चाहिए कि आत्मसंरक्षणार्थ अपकार का प्रतिकार करने का साहस हम में है और यदि मौका आ जायगा तो अपकार का बदला हम व्याज-सहित दे सकते हैं। पर उसी समय हमें यह खबरदारी रखना चाहिए कि अपकार के बदले अपने हाथ से अपकार न होने पावे।

एक खेत में कुछ चरवाहे प्रतिदिन अपने गोरू चराने के लिए जमा हुआ करते थे। उसी खेत में एक भयंकर सर्प रहता था। एक दिन वहीं से कोई महात्मा आकर निकला। सब चरवाहे उसके पास दौड़ कर गये और बोलेः—" महाराज! इस रास्ते से यदि आप न जायँ तो अच्छा, क्योंकि आगे एक बड़ा भयंकर सर्प है। " महात्मा ने उत्तर दियाः—" बच्चा! अच्छा किया जो तुमने मुझसे यह बतला दिया। तुम्हारा मैं उपकार मानता हूं। पर उस सर्प का मुझे कोई डर नहीं है। मुझे मंत्र मालूम है; इसलिए मुझे किसीका डर नहीं। इतना कह कर वह आगे चलता हुआ। चरवाहे उसके साथ नहीं गये—सर्प का डर ही उन्हें ऐसा था। उस महात्मा को देखते ही सर्प फना निकाल कर उसकी ओर दौड़ा। परन्तु महात्मा ने ज्योंही कोई मंत्र पढ़ा, त्योंही सर्प बिलकुल सीधा और दीन होकर महात्मा के पैरों पर लोटने लगा। तब महात्मा उससे बोला, " बाबा! तू सब को सदा हैरान क्यों किया करता है? मैं तुझे एक नाम-मंत्र बतलाता हूं। इसका यदि तू बराबर जप करता रहेगा तो ईश्वर पर तेरी भक्ति हो जायगी, और अन्त में तुझे उसका दर्शन होगा; और तुझमें जो यह पर पीड़न की इच्छा रहती है सो भी समूल नष्ट हो जायगी। " इतना कह कर उसने सर्प के कान में कुछ मंत्र धीरे से बतला दिया। इसके बाद गुरु के पैरों पर मस्तक रख कर सर्प बोला " गुरूजी! मैं और क्या करूं, जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो। " गुरू ने उत्तर दिया, " इस रामनाम का जप कर; और किसी प्राणी को दुःख न देना। मैं कुछ दिन बाद फिर आकर तेरी दशा देखूंगा। " इतना कह कर वह महात्मा चला गया।

सर्प गुरू के कहने के अनुसार चलने लगा। कुछ दिन बाद चरवाहों को मालूम हो गया कि यह सर्प अब किसीको

काटता नहीं। वे पत्थर फेंक फेंक कर सर्प को मारने लगे। पर सर्प बिलकुल दीन और सीधा हो जाने के कारण उनसे कुछ नहीं बोलता था। एक दिन एक चरवाहे के लड़के ने उसकी पूछ पकड़ कर और उसे चारो ओर घुमा कर जोर से जमीन पर पटक दिया। सर्प रक्त उगलते हुए बेहोश हो गया। होश आने पर वह उस स्थान से हिल भी नहीं सका। लड़के उसे मरा हुआ समझ कर वहां से चले गये।

बहुत रात जाने पर वह सर्प फिर कुछ भान में आया और बड़े कष्ट से, धीरे धीरे, किसी न किसी तरह, वह अपने बिल तक पहुँचा। उसका सारा शरीर टूट गया था। थोड़े ही दिनों में उसका सिर्फ अस्थिचर्म मात्र शेष रह गया। बहुत दिनों तक वह इसी दशा में रहा। बाद को कहीं न कहीं भोजन प्राप्त करने के लिए किसी न किसी तरह निकलने की शक्ति उसमें आई। चरवाहे लड़कों के डर से वह सिर्फ रात ही को बाहर निकलने लगा। जब से उसने गुरु-दीक्षा पाई थी तब से पर पीडा करना उसने बिलकुल ही छोड़ दिया था। वृक्षों के पत्ते आदि खाकर वह किसी न किसी तरह अपना निर्वाह करता था।

थोड़े ही दिनों बाद वह महात्मा फिर लौटा। उसने उस सर्प का बहुत पता लगाया, पर वह नहीं मिला। अन्त में इन चरवाहे बालकों ने बतलाया कि वह मर गया। पर महात्मा को यह बात सच नहीं मालूम होती थी क्योंकि वह जानता था कि उसके मुख में जो परमेश्वर का नाम बस रहा है उसका सामर्थ्य इतना दिव्य है कि जब तक जन्ममरण का रहस्य उसे न मालूम हो जायगा, जब तक परमेश्वर का दर्शन उसे न हो जायगा, तब तक वह कभी मर नहीं सकता। महात्मा फिर उसे ढूंढने लगा। उसके नाम से वह उसे पुकारने लगा। तब वह सर्प बिल से बाहर निकला और गुरु के

चरणों पर गिर पड़ा। फिर उन दोनों का इस प्रकार वार्तालाप हुआः—

महात्मा—क्यों बच्चा! तेरा क्या हाल है?

सर्पः—महाराज! ईश्वर की कृपा से सब ठीक है!

महात्माः—पर तेरे हाड़ बाहर क्यों निकल आये हैं? तुझे क्या हो गया है?

सर्पः—गुरूजी! आपकी आज्ञा से मैं किसी जीवित प्राणी को अब कष्ट देने का प्रयत्न नहीं करता। सिर्फ पत्ते-अत्ते खाकर अपना गुजारा करता हूं। अतएव पहले की अपेक्षा दुर्बल होना मेरे लिए स्वाभाविक है।

महात्माः—यह मुझे सत्य नहीं जान पड़ता कि सिर्फ भोजन में ही फर्क होजाने से तेरी यह दशा हुई है। इसका और कोई न कोई कारण अवश्य होगा। तू ही थोड़ा विचार कर।

सर्पः—हाँ! अब सब मेरे ध्यान में आ गया। उन चरवाहे लड़कों ने एक दिन मेरी अच्छी खबर ली। उन्होंने मेरी पूंछ पकड़कर मुझे पटक दिया—कई बार पटका।' वे विचारे क्या जानें, कि अब मुझमें किस कारण इस प्रकार का परिवर्तन हो गया है! उन्हें भला यह कैसे मालूम हो कि अब मैंने किसीको काटना अथवा कष्ट देना छोड़ दिया है!

महात्माः—तू बड़ा पागल है! बड़े शोक की बात है! जब तुझे यह भी नहीं मालूम है कि अपने शत्रुओं से बचकर अपनी रक्षा कैसे करनी चाहिए तब तुझे मूर्ख ही कहना चाहिए। मैंने तुमसे इतना ही कहा था कि किसी भी जीवित प्राणी को मत काटना, जो तेरी जान लेने के लिए तयार हुए, उन्हें डराने के लिए तूने भयंकर फुस्कार क्यों नहीं दिखलाई?

श्रीरामकृष्ण आगे बोलने लगे, इसी तरह फना उभाड़ कर फुस्कार करो, पर हाँ, काटो किसीको नहीं। दुर्जनों पर—अपने शत्रुओं पर—फुस्कार करने में कोई हर्ज नहीं। जैसे

ाथ तैसा बर्ताव करने के लिए हम तयार हैं; यह हम सम-
ते हैं कि अपकार का बदला कैसे दिया जाय, अथवा 'अरे'
हनेवाले से 'क्यों रे' कहकर उत्तर कैसे दिया जाय—यह
खलाकर तुम्हें ऐसा उपाय करना चाहिए कि जिससे वे लोग
मसे दो कदम अलग ही रहें। मनुष्य को यह खबरदारी
खनी चाहिए कि शत्रु के रक्त में विष न मिलाया जाय।
ापकार का प्रतिकार प्रत्यकार से मत करो। केवल अपनी
क्षा के लिए अपकार के प्रतिकार करने का ढोंग दिखलाने
' कोई हर्ज नहीं।

विन्दु ६।

एक शिष्यः—महाराज परमेश्वर के निर्माण किए हुए इस जगत्
बुरे मनुष्य क्यों होते हैं? सच तो यह है, कि इस जगत् में
ुरा कुछ भी होना ही क्यों चाहिए?

ागत् में कुछ बुरा क्यों ोना चाहिए? क्या सब मनुष्य समान हैं?

महाराजः—परमेश्वरी सृष्टि की 'विचित्रता' ही साधारण लक्षण है। इसलिए उसमें जैसे बुरा है वैसे ही भला भी है। देखो, सृष्ट-वस्तुओं के भी, प्राणी, वनस्पति, उद्भिज्ज आदि अनेक भेद हैं। फिर पशुओं में देखो, जिस प्रकार कुछ सीधे और निरुपद्रवी हैं उसी प्रकार कुछ वाघ के समान क्रूर और अन्य, प्राणियों की हिंसा करके अपनी उपजीविका करनेवाले हैं। कुछ वृक्षों में उत्तम—बिलकुल अमृत के समान मधुर-फल लगते हैं; और कुछ में प्राणघातक विषैले फल लगते हैं। उसी प्रकार मनुष्य भले भी होते हैं, बुरे भी होते हैं; पुण्यवान् होते हैं, पापी होते हैं; जैसे न्यायी और भक्तिमान् होते हैं वैसे ही कुछ ऐसे भी होते हैं जो संसार में पूर्णतया रममाण

हुए होते हैं । मनुष्य के चार वर्ग किये जा सकते हैं:— १ बद्ध (जो संसारशृंखलाओं से बिलकुल जकड़े रहते हैं) २ मुमुक्षु, ३ मुक्त, ४ नित्यमुक्त ।

नित्यमुक्तः—ब्रह्मर्षि नारद आदि । जगत् के कल्याण के लिए ही—लोगों को सत्यमार्ग का उपदेश करने के लिए ही—ऐसी विभूतियों का अवतार होता है ।

बद्धः—द्रव्य, मान, पदवियाँ, इंद्रियसुख, सत्ता इत्यादि संसार की क्षुद्र और क्षणभंगुर बातों में ही उनका चित्त लगा रहता है । वे ईश्वर को भूल जाते हैं और उसका विचार भी कभी उनके मन में नहीं आता ।

मुमुक्षुः—' कामिनी और कांचन ' की जोड़ी ही जिसका आधार है—ऐसे, इस संसार से छूटने के लिए जो अती प्रयत्न करते हैं । पर जिसके लिए वे इतना प्रयत्न करते हैं वह मुक्ति-प्राप्त होना उनमें से थोड़े ही लोगों के भाग्य में बदा होता है— यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः (भगवद्गीता) ।

मुक्तः—' द्रव्य और दारा ' में से जो किसी पर भी आसक्ति नहीं रखता । महात्मा लोग इसके उदाहरण हैं । जिनके मन में ऐहिक वस्तुओं के विषय में आसक्ति की गन्ध भी नहीं रहती । परमेश्वर के निर्मल चरणों का ही वे निरन्तर ध्यान करते रहते हैं ।

मान लो, किसी तालाब में जाल पड़ा हुआ है । कुछ मछलियाँ मछुवाहे के दादा को चुनौती देती हैं और वे सावधान रहकर कभी उस जाल में नहीं फँसतीं । पर ऐसी मछलियाँ हाथ की उँगलियों पर ही गिनने भर को होती हैं । कह सकते हैं कि नित्यमुक्तों और मछलियों में समता है ।

परन्तु बहुत सी मछलियाँ जाल में पड़ ही जाती हैं । उनमें से कुछ ऐसी होती हैं जो मुक्तता के लिए, अपने से जितना

हो सकता है, प्रयत्न करती हैं। वे मुमुक्षु हैं। पर इनमें से शायद ही एक-आध मछली जाल से निकलकर पानी में जाने की सफलता पा सकती है। ऐसी मछलियाँ बहुधा देखी गई हैं—" अरे! अरे!! वह देखो एक बड़ी मछली निकली जाती है! " इस प्रकार मछुवाहे और अन्य लोग चिल्लाते ही रहते हैं; पर वे एकदम उछलकर निकल जाती हैं।

ऐसी भी मछलियाँ बहुत होती हैं जो जाल से नहीं निकल सकतीं और आश्चर्य की बात तो यह है कि जाल से निकलने की उनकी इच्छा ही नहीं होती। जाल में पड़े ही पड़े तालाब के नीचे के कीचड़ में अपना शिर डालकर वे चुपके पड़ी रहती हैं; और फिर यह भी समझती हैं कि हम बिलकुल सुरक्षित और सुखपूर्वक हैं, अब हमें डरने की कोई आवश्यकता नहीं। क्या करें बिचारी! इस बात का उन्हें स्वप्न में भी भान नहीं रहता कि थोड़ी ही देर बाद मछुवाहा मछलियाँ भरा हुआ जाल जमीन पर खींचनेवाला है। ऐसी मछलियों से बद्धों की उपमा दे सकते हैं। वे यह समझते रहते हैं कि अपनी घर-गृहस्थी के कीचड़ में—प्रपंच में—हम बिलकुल निर्भय हैं; पर खेद की बात है कि संसार के जाल में वे पूर्णतया जकड़े पड़े रहते हैं; और इस कारण आयुरूपी पानी से जल्द ही छूटने का उन्हें मौका आ जाता है और वे तुरन्त ही जमीन पर खींच लिए जाते हैं, तथा उनका प्राणनाश होता है।

संसार में " द्रव्य और दारा " दो बातें बद्धता का कारण होती हैं। संसारी लोगों के—बद्धों के—हाथ पैर जकड़े हुए होते हैं, वे नख से शिखा पर्यंत संसार-कर्दम में फँसे रहते हैं। वे समझते रहते हैं कि तालाब के नीचे के कीचड़ में—द्रव्य और दारा में—हमें शान्ति, स्वास्थ्य और निर्भयता का लाभ होगा। पर उन्हें इस बात की कल्पना भी नहीं होती कि

आत्मा के पतन के यही (धन और दारा) कारण होते हैं। ऐसा कोई वद्ध पुरुष जब मृत्यु के द्वार पर आता है तब उसकी भार्या उससे कहती है:—"आप तो चले; पर मेरे लिए क्या कहते हो? आपने अपने बाद के लिए मेरी क्या तजवीज कर रक्खी है?" पत्नी ईश्वर का नाम भी नहीं लेती। उस आसन्नमरण हुए वद्ध का मन भी गृहस्थी की ओर ऐसा कुछ झुका रहता है कि उसकी कोठरी के दीपक का प्रकाश यदि कुछ अधिक हुआ। तो उसकी आँखें निकल आती हैं और—अपनी ओर से बड़ा जोर करके—वह यों चिल्ला उठता है:—"अरे, कोई है? यहां दीपक में इतनी बाती क्यों लगा दी है? व्यर्थ के लिए तेल जला जाता है!"

वद्ध के मन में ईश्वर का विचार भी नहीं आता। उसे जब समय खाली मिलता है, अथवा जब उसे कोई काम नहीं होता तब या तो वह कोरी बातें मारा करता है अथवा "निठल्ला बनियाँ बाँट तौलता है" की कहावत के अनुसार कोई न कोई निरुपयोगी काम किया करता है। और जब कोई पूछ बैठता है तब उत्तर देता है:—"भाई, हमसे तो खाली नहीं बैठा जाता। इसलिए अपना कुछ न कुछ कर रहा हूं।" और जब उसका समय काटे नहीं कटता तब वह ताश या शतरंज खेला करता है। (महाराज के इस व्याख्यान के समय कोठरी में इतनी स्तब्धता थी कि सुई गिरने तक की आवाज सुनाई दे सकती थी।)

एक शिष्य:—महाराज! ऐसा संसारी मनुष्य कैसे तर सकता है? उसके लिए कोई साधन है?

श्रद्धा का बल।

श्रीरामकृष्ण:—जरूर! उसे सत्समागम ढूँढ़ते रहना चाहिए; कुटुम्ब की उपाधि छोड़कर परमेश्वर का चिंतन करने के लिए बीच बीच में उसे एकान्तवास का सेवन करना चाहिए; विवेक का अभ्यास

[उ]सको करना चाहिए; जगज्जननी को, अन्तःकरणपूर्वक, उसे [ऐ]सी प्रार्थना करनी चाहिए:—" हे माता ! मेरे हृदय में भक्ति [औ]र श्रद्धा उत्पन्न कर।" जहां एक बार तुम्हारे शरीर में श्रद्धा [उ]भेद जायगी, वहीं समझ लो कि तुम्हारा सब काम हो गया। [अ]हाहा ! श्रद्धा से अधिक और कुछ नहीं !

(केदार से) श्रद्धा के सामर्थ्य की आख्यायिकायें तूने सुनी होंगी ? रामचन्द्र ईश्वरीय अवतार थे। पर (लंका और आर्या-[व]र्त के बीच में) समुद्र पर उन्हें पुल बांधना पड़ा। और [ह]नुमान सिर्फ उनका भक्त था; पर राम-नाम की महिमा पर [ब]ड़ी श्रद्धा थी। उसने सिर्फ राम के नाम का जप किया; [औ]र क्या हुआ, देखो ! एकदम उसने उसी समुद्र का उल्लं-[घ]न कर लिया ! सिर्फ श्रद्धा का सामर्थ्य लोगों के प्रत्यय में आने के लिए ही स्वयं प्रभु को सेतु बांधना पड़ा; और उसीके नाम की महिमा पर श्रद्धा रखनेवाले उसके भक्त को समुद्र-पार करने के लिए सेतु एतु की कुछ भी जरूरत नहीं पड़ी। (महाराज और सब शिष्य हँसने लगे।)

एक बार एक मनुष्य को समुद्र पार जाना था। तब एक रामभक्त ने एक पत्ते पर राम नाम लिखा और उसे उस मनुष्य को देकर कहा:—" भैया ! डरने की कोई बात नहीं; इस पत्ते पर श्रद्धा रख और समुद्र पर चलते हुए पार निकल जा, पर यह बात ध्यान में रखना कि तू अपनी श्रद्धा जरा भी चल-विचल न होने देना। यदि उसमें कुछ भी गड़बड़ हुआ, तो तू अवश्य डूब मरेगा।" उस मनुष्य ने वह पत्ता अपने वस्त्र में बांध लिया और समुद्र पर चलते हुए वह अपना मार्गक्रमण करने लगा। जाते जाते उसे यह उत्कंठा हुई कि देखना चाहिए इस पत्ते में क्या लिखा है। उसने वह पत्ता खोला और उसमें बड़े बड़े अक्षरों में लिखा हुआ 'राम' उसने पढ़ा। इसके बाद वह आप ही आप कहने लगा:—" अरे ! बस, यही, राम का

नाम ! " इस प्रकार श्रद्धा का लोप होते ही वह पानी के भीतर डूब मरा !

परमेश्वर में मनुष्य की अचल श्रद्धा भर होने दो; कि बस, मैं विश्वासपूर्वक कहता हूं कि, फिर उसके लिए मुक्ति दूर नहीं है; फिर चाहे उसके हाथ से ब्रह्महत्या, स्त्रीहत्या आदि महापातक भी क्यों न हुए हों ! " परमात्मन् ! अब फिर मैं ऐसा कभी न करूंगा । " इतना बस उसे कहना चाहिए और उसका पवित्र नाम लेना चाहिए ।

इतना कह कर महाराज गाने लगे —

नाम-महिमा ।

लेते हुए नाम शुचि तेरा, आवे मुझे मरण माता !
देखू फिर तो मुक्ति क्यों नहीं मैं तुरन्त जग से पाता !
यदि वाणी तव नाम जपे तो नहीं पाप का भय भारी ।
सिर्फ नाम के जपने से है व्यथा दूर होती सारी ।

इसके बाद अपने सामने बैठे हुए नरेन्द्र के सम्बन्ध में महाराज बोले:—

नरेन्द्र और नित्यमुक्तों के लक्षण ।

यह लड़का देखो कितना सीधा, निरभिमानी और सादे चाल का है । उपद्रवी लड़का जब अपने बाप के सामने आता है तब तो वह बड़ा सीधा बन जाता है और जब बाहर इधर-उधर दौड़ता और खेलता रहता है तब बिलकुल ही दूसरा बन जाता है । ऐसा लड़का नित्य मुक्तों के वर्ग का होता है ।

वे (नित्यमुक्त) संसार-बन्धनों में नहीं फँसते । जहां वे कुछ बड़े हुए कि उनके मन में जागृति उत्पन्न हो जाती है और वे एकदम ईश्वर की ओर झुक जाते हैं । मनुष्य को सन्मार्ग दिखलाने के लिए ही संसार में वे अवतार लेते हैं

श्रीरामकृष्ण का अवतार होने के पूर्व की धार्मिक स्थिति पर भी कुछ विचार करना अत्यावश्यक है। श्रीरामकृष्ण के पूर्व धार्मिकसंसार में प्रगाढ़ अंधकार फैला हुआ था। धर्म की ओट में कई अत्याचारी लोग निशि दिन पापाचरण ही में रत रहते थे। धर्मवृद्धि के प्रतिकूल अनेकानेक दुर्गुणों का प्रचार हो रहा था। परमत और परधर्म के विषय में, लोगों के मन में, असहिष्णुता थी। कई अंग्रेज़ीशिक्षा-प्राप्त युवक पश्चिमीय सुधार की बाहरी दिखावट पर भूलकर नास्तिक बन रहे थे। सारांश, हमारे राष्ट्र और समाज के अत्यन्त हितकारक हमारे धर्म की ग्लानि हो रही थी। उस स्थिति को सुधारकर कर्मपथ से डिगे हुए समाज को कर्मपथ पर आरोहण करना ही श्रीरामकृष्ण के अवतार का मुख्योद्देश्य था।

श्रीरामकृष्ण ने अपने उद्देश्य-प्राप्ति के प्रीत्यर्थ कार्यक्षेत्र में बीज बोया और उनके सच्छिष्य श्रीविवेकानंद ने, अपने गुरु के आदेशानुसार उस बीज को वृक्ष रूप में परिवर्तित कर बूढ़े सत्य सनातन धर्म को सर्व जगत-व्यापी बनाया। यथार्थ में स्वामी विवेकानन्द ने जो धर्मजागृति की, वह अनुपम अथवा अवर्णनीय है। आज हम में जिस अपूर्व चेतनाशक्ति का आविर्भाव हुआ है, वह एकमात्र स्वामी विवेकानन्द के ही कार्य का फल है।

हमारे राष्ट्र पर चाहे कितने ही संकट क्यों न आयें, वह सदा जीवित ही रहेगा। इसका एक मात्र यही कारण है कि भारतवासियों की प्रत्येक बातों का आधार धर्म ही है। वर्तमान समय में हमारे धर्म की अत्यन्त दुर्दशा है, इसीलिये आज हमारी इतनी दुर्दशा है। यदि हम अपनी वर्तमान स्थिति के सुधारने का कोई उपाय ढूँढ़ना चाहें तो हमें एक मात्र यही सरल उपाय मिलेगा कि हम धर्मपालक बनें।

ऐहिक बातों पर उनका प्रेम ही नहीं होता—द्रव्य और दारा की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

'होम' नामक एक पक्षी का वेद में उल्लेख है। वह संसार की गड़बड़ से—उपसर्ग से—बहुत ऊंचे आकाश में, बादलों के उस पार, रहता है। उस जगह उसकी मादी अंडा देती है; अंडा तुरन्त ही पृथ्वी की ओर गिरने लगता है। पृथ्वी तक आने ही में उसे इतने दिन लग जाते हैं कि वह बीच में फूट जाता है और उसका बच्चा निकलता है। यह अन्तर इतनी दूर है कि वह रास्ते ही में अंडे से बाहर निकल कर फिर नीचे आने लगता है; अन्त में नीचे आते आते उसके पंख निकल आते हैं और उसकी आँखें भी खुल जाती हैं!

इस प्रकार जब उसकी आँखें खुल जाती हैं तब कहीं उसे यह ज्ञान होता है कि मेरा भयंकर वेग से पतन हो रहा है और पृथ्वी का स्पर्श होते ही मेरा कपालमोक्ष हो जायगा। इस प्रकार जब उसके मन में आता है कि पृथ्वी पर गिरकर मैं चूर हो जाऊंगा तब वह भयभीत होता है और अपनी मा को, जो बदलों से भी ऊपर रहती है, ढूंढ़ने के लिए वह फिर ऊपर जाने लगता है।

प्यारे बच्चो! वह उस पक्षी की मादी जगज्जननी ही है। वह इन्द्रियगम्य सृष्टि के उस पार, अनन्त के पास ही, रहती है। (अनन्त) के पास ही उसका निवास है (अनन्त में और उसमें भिन्नता नहीं)। उसके लड़कों में जो महात्मा—पुण्यात्मा—होते हैं वही उसके समीप रहते हैं (उन्हें अवश्य ही उसका वियोग बिलकुल सहन नहीं होता); जब तक उनकी आखें नहीं खुलतीं और वे अपने पंखों से नहीं उड़ सकते, तभी तक उन्हें यह जीवन एक कूटक प्रश्न सा जान पड़ता है। जहां एक बार उनकी आँखें खुल गई कि बस, फिर

उन्हें अपने सामने मुहँ पसारे खड़ी हुई मृत्यु—द्रव्य, मान, इन्द्रियोपभोग इत्यादि विषयों के स्पर्श मात्र से होनेवाली मृत्यु—बिलकुल स्पष्ट देख पड़ने लगती है। आँखें खुलते ही वे अपना आचरण बदल देते हैं और ईश्वराभिमुख हो जाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में यह ज्ञान आने लगता है कि उस जगन्माता के बिना इस संसार में और कुछ भी सत्य नहीं है, हमारी उत्पत्ति, स्थिति और लय केवल उसीके आधीन है, तथा ज्ञान और अपने जीवन का एक मात्र वही आधार है।

इस समय नरेन्द्र कोठरी के बाहर गया।

केदार, रामकृष्ण, एम और अन्य बहुत से लोग महाराज के पास कोठरी ही में बैठे थे। महाराज हँस हँस कर नरेन्द्र के विषय में बोल रहे थे।

महाराज (शिष्य से):—तुम्हीं देखो, प्रत्येक बात में नरेंद्र सब से आगे रहता है। गायन, वादन, लेखन, वाचन चाहे जिसमें देख लो। उस दिन केदार का और उसका वाद हो रहा था पर केदार के मुख से शब्द न निकलने पाता था कि वह उसे मानों उखाड़े ही डालता था। (महाराज और अन्य सब हँसते हैं।)

(एम से) तर्कशास्त्र पर क्या कोई अँग्रेजी में पुस्तक है?

एम.—हाँ, महाराज! उसे लॉजिक कहते हैं।

महाराजः—अच्छा, उसके विषय में मुझे कुछ बताओ।

अब तो एम के जी पर ही आ बनी। तथापि धैर्य धर कर बोला:—लॉजिक (अँग्रेजी तर्कशास्त्र) के एक भाग में यह कहा है, कि किसी सर्वमान्य सिद्धान्त पर से किसी विशिष्ट वर्ग के विषय में अथवा व्यक्ति के विषय में अपने सिद्धान्त को स्थिर करना चाहिए। उदाहरणार्थः—सब मनुष्य मरणाधीन हैं।

पंडित मनुष्य हैं,

इसलिए पंडित भी मरणाधीन हैं।

उसके दूसरे भाग में यह कहा है कि एक एक विशिष्ट व्यक्ति के लक्षणों पर तर्क करते हुए साधारण सिद्धान्त किस प्रकार निश्चित करना चाहिए। उदाहरणार्थः—

यह कौवा काला है,
वह कौवा काला है,
यह तीसरा कौवा भी काला है, आदि, आदि;
इसलिए सभी कौवे काले होते हैं।

सिर्फ एक एक व्यक्ति के लक्षण देखकर उन पर से उस वर्ग के विषय में, उपर्युक्त रीति से, सामान्य सिद्धान्त स्थिर करने में बहुत बार चूक हो जाने की सम्भावना रहती है; क्योंकि किसी किसी देश में सफेद कौवे भी कदाचित् होंगे।

* * * *

जान पड़ता था कि उपर्युक्त भाषण की ओर श्रीरामकृष्ण का कुछ बहुत ध्यान न था। मानों यह भाषण उनके कानों में भरता ही न था। इस कारण तद्विषयक सम्भाषण का आपही आप अन्त हो गया।

सभा-विसर्जन हुई। शिष्य-मंडली इधर-उधर बाग में फिरने लगी। एम अकेला ही पंचवटी के समीप घूमता था। (महात्मा रामकृष्ण ने दक्षिणेश्वर के मन्दिर के आसपासवाले बाग में बरगद, पीपल, निम्बू, आंवला और बेल के वृक्ष एक ही जगह, खास तौर पर, लगवाये थे। और उस स्थल का उन्होंने पंचवटी नाम रक्खा था। उसी जगह बैठकर उन्होंने अनेक साधन किये। फिर आगे चलकर बहुधा वे अकेले ही अथवा अपने शिष्यवर्ग के साथ वहां घूमने आया करते। वृन्दावन की यात्रा के समय वे वहां की पवित्र धूल अपने साथ ले आये थे और उस पंचवटी में डलवाया था।)

संध्याकाल के पांच बजे; उस समय महाराज की कोठरी के उत्तर ओर आने पर एम को एक विचित्र दृश्य देख पड़ा।

उसने क्या देखा कि महाराज स्वस्थ खड़े हैं, नरेन्द्र एक भक्ति-पूर्ण पद गा रहा है, अन्य तीन-चार शिष्य आस-पास खड़े हैं, महाराज बीच में हैं।

उस गान से एम का मान बिलकुल जाता रहा। इतनी मधुर और सुन्दर आवाज उसने आजन्म नहीं सुनी थी। महाराज की ओर देख कर तो एम इतना आश्चर्यित हुआ कि उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। महाराज निश्चल खड़े थे, उनके नेत्र एकटक थे, और यह भी कहना कठिन है कि उनका श्वासोच्छ्वास चलता था या बन्द था।

एक शिष्य ने एम से बतलाया कि ब्रह्मानन्द का अनुभव करानेवाली इस अवस्था को समाधि बोलते हैं। एम ने ऐसी स्थिति प्रत्यक्ष न कभी देखी थी और न सुनी ही थी। उसके मन में ये विचार आने लगेः—"क्या यह सम्भव है कि ईश्वरी विचारों से मनुष्य बाह्य सृष्टि को भूल जाय? जिसकी यह दशा होती है—जो समाधिस्थ होता है—उसकी श्रद्धा, उसकी ईश्वरभक्ति, भला कैसी होनी चाहिए!" नरेन्द्र यह पद गा रहा था :—

पद।

भज ले मन बार बार विश्वजीवना रे। भज० ॥ ध्रु० ॥
अरगत—मल अतुल कीर्ति, सच्चिद्घन रम्य मूर्ति,
योगिन की हृदय स्फूर्ति, भक्तरंजना रे। भज० ॥ १ ॥
प्रीति धरे कान्ति खुले, कोटि चन्द्रहू न तुले,
रूपश्री हरि चपले, रोमहर्षणा रे। भज० ॥ २ ॥

यह अन्त की पंक्ति गाते समय महाराज की वृत्ति बिलकुल तन्मय हो गई। उनका शरीर सचमुच रोमांचित हो उठा। उनके नेत्र आनन्दाश्रुओं से भर आये। उनके मुख पर

जो मन्दस्मित की लहरें विलसती थीं, उनसे स्पष्ट देख पड़ता था कि परमेश्वर का मनोहर रूप देख कर उनके अन्तःकरण में आनन्द के कैसे उच्छ्वास उठ रहे थे। हाँ, कोटि चन्द्रों की प्रभा को भी लजानेवाले मनोहर और दिव्यरूप का दर्शन-सुख वे अवश्य ही अनुभव कर रहे होंगे! ईश्वरीय साक्षात्कार जिसे कहते हैं, वह क्या यही है? यदि यही है तो जिस मनुष्य को यह साध्य हुआ है उसकी भक्ति, उसकी श्रद्धा, उसका अभ्यास और उसका तप भला कैसा भारी होना चाहिए!

गाना फिर प्रारम्भ हुआः—

> मन में पूजहु सुचरण, मधुर रूप धरहु नयन,
> होउ महानन्दपूर्ण, मेटि यातना रे! भज० ॥ ३ ॥

अहाहा! उनका वह मन्द और मनोहर मुख फिर झल-झलाने लगा! देखो, उनका शरीर कितना निश्चल है! उनके नेत्र अर्धोन्मीलित हैं; दृष्टि बिलकुल शून्य है! जान पड़ता है, उन्हें किसी न किसी अद्भुत और दिव्य वस्तु का--इन्द्रियातीत वस्तु का--दर्शन हो रहा है और आनन्दसागर में वे तैर रहे हैं!

पद समाप्ति पर आया। नरेंद्र अन्तिम पंक्ति कहने लगाः—

> ध्यावहु सच्चिदानन्द, छोड़हु सब विषय मन्द।
> गावहु स्तुति भक्तिछन्द, नित्य सज्जना रे! भज० ॥ ४ ॥

* * * *

एम विचारपूर्ण होते हुए घर को लौटने लगा। उस समाधि का और ब्रह्मानन्द का चित्र उसके मन में बराबर फिर रहा था। उसने जो भक्तिरसपूर्ण सुन्दर पद सुना था, उसके उद्गार, रास्ते में चलते हुए, आप ही आप उसके हृदय से बाहर निकल रहे थेः—

> ध्यावहु सच्चिदानन्द, छोड़हु सब विषय मन्द,
> गावहु स्तुति भक्तिछन्द, नित्य सज्जना रे! भज० ॥ ४ ॥

बिन्दु ७।

दूसरे दिन छुट्टी थी, इसलिए एम तीन बजे दर्शन करने आया। महाराज अपने कमरे में बैठे थे। ज़मीन पर बैठनेवालों के लिए चटाई पड़ी थी। नरेन्द्र, भवनाथ और दो शिष्य वहाँ बैठे थे। वे सब तरुण, उन्नीस बीस वर्ष की, आयु के थे। पहिले ही की तरह महाराज के मुख पर मंद हास्य देख पड़ रहा था। वे पलंग पर बैठकर उन युवकों से कुछ बातें कर रहे थे। इतने ही में एम ने कमरे के भीतर प्रवेश किया। उसको देखते ही महाराज खूब खिलखिला कर हँसने लगे और हँसते-हँसते उन्होंने ज़ोर से कहा, 'देखो, वह फिर आया!' उनके साथ के युवक भी हँस रहे थे।

एम ने महाराज के चरणों पर दंडवत् प्रणाम् किया। इसके पहले वह, अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हुए युवकों की पद्धति के अनुसार, सिर्फ खड़े खड़े दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार किया करता था। परन्तु अब उसको मालूम हो गया है कि महाराज के चरणों का वन्दन किस तरह करना चाहिए। प्रणाम करने के बाद वह एक ओर जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। महाराज, नरेन्द्रादि शिष्यों से, अपने हँसने का कारण बताने लगे। उन्होंने कहा.—

"एक समय की बात है, कि किसी आदमी ने एक मोर को ठीक चार बजे अफीम की गोली खाने को दी। इसका नतीजा यह हुआ कि, दूसरे दिन ठीक चार बजे वह मोर फिर, अफीम की गोली खाने को, उस आदमी के पास आ पहुँचा!" (सब लोग हँसने लगे)।

यह सुन कर एम अपने मन में ही कहने लगाः—"महाराज का कथन बहुत सत्य है। मैंने इनके समान लोकोत्तर पुरुष कोई देखा नहीं। जब मैं यहां से उठ कर घर जाता हूं तब मेरा सारा मन इस दिव्य पुरुष के चरणों ही की ओर लगा रहता है। 'महाराज का दर्शन फिर कब होगा!'—यही एक विचार रात-दिन मन में बना रहता है। जान पड़ता है कि मुझे यहां कोई जबरदस्ती से खींच कर ले आता है। अब यह स्थान छोड़ कर दूसरी जगह जाने की कल्पना तक मेरे मन में नहीं आती।"

इस प्रकार मन में विचार करते करते एम महाराज की ओर टकटकी लगाए देख रहा था। उधर महाराज तो उन युवकों के साथ हँसी-दिल्लगी करने में लगे थे। हँसते-हँसते सब लोग लोट-पोट हो रहे थे! ऐसा मालूम होता था कि महाराज उन युवकों को समवयस्क साथी ही समझ रहे हैं। हँसी-हँसी में अनेक प्रकार के विनोद की बातें भी हो रही थीं।

इस अद्भुत व्यक्ति को देखकर—महाराज का यह विलक्षण बर्ताव देखकर—एम को बहुत आश्चर्य हुआ। उसके मन में ये विचार आने लगे—क्या ये वही पुरुष हैं, जो कल समाधि-सुख में निमग्न थे और जिन्होंने अपूर्व भक्तिरस हम लोगों को चखाया था! क्या ये वही पुरुष हैं, जिन्होंने पहले दिन, मेरे विवाह करने पर टीका की थी? क्या ईश्वर को साकार-निराकार कहनेवाले यही महात्मा हैं? क्या ये वही पुरुष हैं, जो कहा करते हैं कि केवल एक ईश्वर सत्य है, शेष सब असत्य—क्षणिक—है? जिस प्रकार दासी—नौकरानी—हमारा काम करती है, काम तो करती है सही; पर उसका सब ध्यान लगा रहता है अपने घर की ओर, उसी प्रकार अनासक्त बुद्धि से निरन्तर स्वगृह की ओर, अपनी माता जगन्माता की ओर, सच्चिदानंद-पद की ओर ध्यान लगा कर

तुम सब काम करते रहो,'—यह उपदेश उस दिन जिसने दिया, क्या यह वही पुरुष है?

ये सब बातें हो रही थीं और महाराज कभी कभी एम की ओर देख लिया करते थे। एम चुपचाप बैठा था, जैसे कोई पत्थर का पुतला हो! न तो मुख से शब्द निकलता था, और न शरीर में कोई हलचल देख पड़ती थी। उसकी आँखें मानो महाराज के तेजस्वी और मोहक चेहरे की ओर लगी हुई थीं। महाराज ने रामलाल से कहा, "यह आदमी (एम) इन युवकों से उमर में कुछ बड़ा है; इसलिए यह इतना गम्भीर देख पड़ता है। देखो न, ये सब लड़के हँस रहे हैं, दिल्लगी कर रहे हैं और मजा उड़ा रहा है; परन्तु यह (एम) कैसा चुप बैठा है!"

एम सत्ताईस वर्ष का था।

त्याग।

इसके बाद रामायण के सुप्रसिद्ध भक्त हनुमानजी के विषय में महाराज बातें करने लगे। महाराज ने कहा, प्रभु रामचन्द्र की सेवा करने के लिए, अपने सर्वस्व—द्रव्य, मान, शरीर सुख आदि—का त्याग करनेवाला सेवक और भक्त हनुमानजी के समान और कोई नहीं है।

महाराज गाने लगेः—

पद।

मधुर फल क्यों चाहिए मुझको॥ ध्रु०॥
हृदयनिहित-सुरतरुफल-साचे, सफल करे मुझको॥ १॥
जो रामकल्पतरुतलवासी, कम है क्या उसको॥ २॥
संसृतिसम्भवफलाभिकांक्षा, है नहिं कुछ मुझको॥ ३॥

हनुमानजी की अनुपम सेवा का वर्णन करते करते, त्याग और संसार-सुख के विषय में उपर्युक्त पद्य महाराज ने कहा

गाते गाते उन्हें देहभान का विस्मरण हो गया ! वे समाधिस्थ हो गये ! शरीर निश्चल हो गया और दृष्टि स्थिर हो गई। इस छाया-चित्र में जैसे वे दिखाई दे रहे हैं वैसी ही उनकी दशा हो गई।

एक क्षण ही भर पहले वहां बैठनेवाले सब युवक हँसी-दिल्लगी कर रहे थे। परन्तु अब महाराज की यह दशा देखते ही सब लोगों की मुद्रा अत्यंत शांत और गम्भीर हो गई! उनकी दृष्टि महाराज के मुख की ओर निहारने में लग गई और वे विस्मय के कारण मूढ़वत् हो गये ! महाराज को समाधि-अवस्था में देखने का एम का यह दूसरा मौका है।

बहुत समय तक महाराज इसी समाधि-अवस्था में बने रहे। फिर उनके शरीर में कुछ ढीलापन देख पड़ने लगा। धीरे धीरे उनकी ज्ञानेंद्रियाँ अपने अपने काम की ओर झुकती हुई देख पड़ने लगीं। मंद हास्य की लहरें उनके मुख पर लहराने लगीं। उनका मुखकमल प्रफुल्लित होने लगा। उनके नेत्र आनंदाश्रु से पूर्ण थे और जिह्वा राम-नाम रट रही थी। यह अभूतपूर्व और विलक्षण वृत्ति--परिवर्तन देख कर एम अपने मन में सोचने लगा--"क्या यह वही दिव्य पुरुष है, जो थोड़े ही समय पहले उन युवकों के साथ छोटे बालक के समान हँसी-दिल्लगी कर रहा था ?"

जब महाराज की वृत्ति देहभान पर पूरी तरह पहले ही की नाईं उपस्थित हो गई तब उन्होंने एम और नरेन्द्र से कहा--"हमारी यह इच्छा है कि हम, तुम दोनों को अंग्रेजी में वार्तालाप करते और किसी विषय पर चर्चा करते हुए सुनें।" यह सुन कर एम और नरेन्द्र दोनों हँस पड़े ! वे आपस में कुछ बोलने लगे, परन्तु अंग्रेजी में नहीं। महाराज के सामने किसी प्रकार का वादविवाद करना एम के लिए तो बिलकुल असम्भव था। यह कहने में कोई हानि नहीं, कि वादविवाद की

आवश्यक सामग्री मस्तिष्क के जिस भाग में रक्खी रहती है वह उसका भाग सदा के लिए बंद ही हो गया था! महाराज ने दुबारा यही बात एम से फिर कही; परन्तु वह अंगरेजी में कुछ भी नहीं बोला!

शाम के पांच बजे। एम और नरेन्द्र को छोड़ कर सब लोग वहां से उठ कर चले गये। नरेन्द्र की इच्छा आज रात को यहीं महाराज के समीप, रहने की थी। वह हाथ, पैर, मुँह आदि धोने के लिए लोटा लेकर झाऊ और हंसपूकर की ओर गया। ये झाऊ (वृत्त) और पूकर (पुष्कर-छोटा तालाब) दक्षिणेश्वर के मंदिर में उत्तर की ओर है। एम यहीं बाग में इधर-उधर घूम रहा था। पूर्व जन्म के पुण्य-कर्म से जिन महात्मा (श्रीरामकृष्ण परमहंस) का उसे दर्शन-लाभ हुआ उसीके सम्बन्ध में अनेक कल्याणकारक विचार उसके मन में आ रहे थे। कुटी को चक्कर लगा कर जब वह हंसपूकर की ओर आया तब वहां श्रीरामकृष्ण को नरेन्द्र के साथ बात करते हुए देख कर उसको कुछ आश्चर्य हुआ। (कुटी= कोठी। यह इस मंदिर के अहाते में एक सुन्दर मकान है। दक्षिणेश्वर का यह मंदिर रानी रासमणि नामक एक धनवान् बंगाली स्त्री ने १८५५ में बनवाया था। जब कभी वह पुण्यशील स्त्री इस मंदिर में आती तब वह इसी कुटी में ठहरती थी। रानी रासमणि के जीवन-समय में श्रीरामकृष्ण इसी कुटी के एक कमरे में रहते थे। यहां से गंगानदी का दृश्य बहुत सुहावना और रमणीय देख पड़ता है।)

महाराज और नरेन्द्र दोनों पूकर के घाट पर खड़े खड़े बात कर रहे थे।

महाराज ने स्मितपूर्वक कहा—"हाँ, तुम यहां हाल ही में आने लगे हो। तुम इस समय नये हो। ऐसा मत करना कि कभी तो यहां आओ और कभी न आओ। प्रणय योग व

हमारे उत्कर्ष की यही एक मात्र कुंजी है—हमें सफलत
प्राप्त करने का यही एक मात्र उपाय है।

हमारी सामाजिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। हमें अप
सत्य स्थिति तक का ज्ञान नहीं है। हमारे आसपास अमूल
रत्नों के ढर लगे हुए हैं, किन्तु हम उनका उपयोग नहीं क
सकते। इसका एकमात्र कारण हमारी धर्मभ्रष्टता ही है। ह
अपने आपको भूल गए। हमें ऐहिक सुखों के आ
धार्मिक आचरण भी तुच्छ मालूम होने लगा है। मुख्यतः इस
कारण हमारी ऐसी अधोगति हुई। यदि अब भी हम संभ
जायँ और 'खाना, पीना और मौज मारना' इस एक मा
जीवनोद्देश्य को भूल कर धर्म में श्रद्धा रखने लगें तो शीघ्र
हमारा यह अपकर्ष उत्कर्ष रूप में परिणत हो सकता है।

हमारे दुर्भाग्य से इस देश में ऐसे भी निरे पश्चिमीय शिक्ष
प्राप्त विद्वान (!) दिखाई देते है, जो वेदान्त को ही सारे अ
कर्ष का मूल बतलाते हैं! हमें उनके इस सिद्धान्त को सुनक
हँसी आती है। यदि वे इस विषय पर पूर्ण विचार करें
उन्हें मालूम हो जायगा कि सत्य वेदान्त का बिलकुल ज्ञान
होना ही हमारे अपकर्ष का मूल कारण है। सत्य वेदान
धर्म अत्यन्त तेजस्वी और पौरुषेय है। वेदान्तधर्म कर्त
विमूढ़ लोगों को कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। वेदान्तधर्म ही
को नारायण बनानेवाला, कर्मवीरत्व का पाठ पढ़ानेवा
तथा परमानन्द को प्राप्त करानेवाला है। हमारे परमोपका
वेदान्त के सत्य सिद्धान्तों को भूल जाने से ही हमारी ऐ
दुर्दशा हुई है। अतएव हमारा तथा हमारे बांधवों का सुध
होने के लिये हमें वेदान्त के सत्य तत्वों को ग्रहण कर
अत्यावश्यक है।

श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा में उसी परोपकारी वेदान्त के त
कूट कूट कर भरे हैं। भगवान रामकृष्ण ने स्वामी विवेकान

ःभ्यास करते समय प्रणयी जन वारम्बार आपस में मिल॰ हते हैं। क्या यह बात ठीक नहीं?" (नरेन्द्र और एम सते हैं।)

महाराज फिर सस्मित होकर बोले—"अब क्या कहना । तुम यहां वार वार आया करोगे न?"

नरेन्द्र ने प्रसन्नतापूर्वक उत्तर दिया—"हां महाराज, मैं यहां ारवार आने का यत्न करूंगा।"

महाराज पीछे लौट कर अपने कमरे की ओर जाने लगे। न्द्र और एम उनके दोनों तरफ साथ साथ जा रहे थे। कुटी ः पास पहुंच कर उन्होंने एम से कहा—"क्या तुम जानते हो, कि जब किसान अपनी खेती के लिए बैल मोल लेता है व वह उनकी अच्छी तरह परीक्षा किया करता है? वाह! स काम में तो वह बहुत निपुण होता है। वह बैलों की रीक्षा करके जान लेता है कि अमुक बैल अच्छा है या बुरा। ोई कोई किसान तो ऐसे चतुर होते हैं कि बैलों को देखते ी पहचान लेते हैं कि अमुक बैल कितना उपयोगी होगा। सर्फ पूंछ ही को हाथ लगाने से कैसा विलक्षण परिणाम देख हता है! जो बैल अशक्त होते हैं—बिलकुल रद्दी होते हैं— कुछ भी हलचल नहीं करते, जमीन पर ही मुर्दे के समान ड़े रहते हैं। वहां से उठ कर खड़े तक नहीं होते! चाहे ुछ भी करो, उनके साथ चाहे जैसा बर्ताव करो, वे उसीमें ानंद मनाया करते हैं!! ऐसे बैल निकम्मे होते हैं। परन्तु जो ल तेजस्वी और सशक्त होते हैं वे अपने शरीर पर किसीका पर्श या आघात बिलकुल सह नहीं सकते। स्पर्श होते ही वे ़कदम अपने स्थान पर से उछल कर अलग खड़े हो जाते हैं, ौर लात फटकारने लगते हैं। ऐसे ही बैल किसानों के उप- ोगी होते हैं। नरेन्द्र इसी प्रकार का बैल है! वह यथार्थ में ानीदार आदमी है!"

महाराज ने हँसते-हँसते और कहा—"बहुतेरे आदमी ऐसे होते हैं कि जिनमें कोई जान ही नहीं—पूरे गोबरगनेश, मुर्दा दिल और नरम होते हैं! आन्तरिक-शक्ति के नाम से केवल शून्य! दीर्घ समय तक प्रयत्न करने का कुछ भी सामर्थ्य नहीं। बस, जिसमें कोई प्रबल इच्छा-शक्ति ही नहीं, वह कर ही क्या सकेगा?"

शाम हुई। महाराज अपने कमरे में चले गये और आसन पर बैठ कर ईश्वर का ध्यान करने लगे!

कुछ समय के बाद महाराज ने एम से कहा, "देखो, नरेन्द्र उधर बाग़ में कहीं रमता होगा। उसके पास जाकर उससे कुछ बातें करो। वह कैसा है, सो हमसे आकर कहो।"

संध्या-समय होने के कारण मंदिर में भगवान् की सायंपूजा और आरती होने लगी। चांदनी के पश्चिम भाग में नदी के घाट पर एक ओर नरेन्द्र की भेंट हुई। इस भेंट से दोनों बहुत आनंदित हुए। वे दिल खोल कर बातें करने लगे। नरेन्द्र ने अपने विषय में कहा, "मैं साधारणब्रह्मसमाज का अनुयायी हूँ, इस समय कालेज में पढ़ता हूँ। और ... ..." इतना कह कर वह चुप हो रहा। विलम्ब के भय से एम भी वहां से निकल पड़ा।

एम अब देखने लगा कि महाराज का दर्शन कहां होगा। उनके गीतों से उसका मन मोहित हो गया था। वह महाराज के मुख से और भी कुछ गीत सुनना चाहता था। महाराज अपने कमरे में न थे, इसलिए वह नट मंदिर की ओर गया। यह नट मंदिर कालीमाता के सामने ही है। जब कालीमाता की पूजा या महोत्सव होता है तब इस नट-मंदिर में मेला लगता है।

महाराज उस मंदिर के दालान में अकेले घूम रहे थे। वहां एक छोटे से दीपक का मंद प्रकाश देख पड़ता था। हाँ, मंदिर में जगन्माता की मूर्ति के पास दीपकों का अच्छा प्रकाश था

रन्तु जिस स्थान में महाराज घूम रहे थे वहां प्रकाश बहुत धुंधला था। प्रकाश और अंधकार का कोमल मिश्रण होने के कारण यह स्थान ईश-चिंतन के लिए बहुत अनुकूल था।

उस विलक्षण स्थान में पहुंचते ही एम ने महाराज को ओर से कालीमाता का भजन गाते देखा। बस, फिर क्या था, जिस बात की चटक लगी थी वही प्राप्त हुई! वह हर्ष से फूला न समाया! जादू के मोहनमंत्र से जैसा कोई मूढ़ हो जाता है वैसा ही वह इस समय हो गया। उसकी अवस्था का वर्णन किया नहीं जा सकता।

कुछ काल के अनन्तर वह महाराज के समीप गया और डरते डरते अत्यन्त नम्रता से पूछने लगा "महाराज, आज रात्र को और भी कुछ भजन होगा?"

क्षणभर विचार करके महाराज ने उत्तर दिया "नहीं। अब आज भजन नहीं करेंगे। थोड़े ही समय में मैं कलकत्ते में बलराम के घर जाऊंगा। तुम वहां आओ। तब हमारा भजन सुन लेना।"

एम—जैसी महाराज की इच्छा।

महाराजः—तुमको वह घर तो मालूम है न? क्या तुम बलराम बोस को नहीं जानते?

एमः—नहीं महाराज! मैं नहीं जानता।

महाराजः—अरे बोसपारा का वह बलराम बाबू—

एमः—हाँ, अच्छा, महाराज। वहां जाकर तलाश कर लूंगा।

(श्रीरामकृष्ण एम के साथ, वहीं दालान में इधर-उधर घूमने लगे।)

महाराजः—अच्छा, अब मैं एक प्रश्न पूछता हूं—मेरे विषय में तुम्हारी क्या राय है?

एम विचार में निमग्न होकर स्तब्ध होगया।

महाराज—मेरे विषय में तुम क्या कह सकते हो? मेरा

मतलब यह जानने का है कि, सत्य ज्ञान का कितना अंश, कितने 'आने' ज्ञान, मुझमें है ?

एम—" कितने 'आने' ज्ञान " इसका कुछ अर्थ ही मेरी समझ में नहीं आया। परन्तु, हाँ, इतना तो मैं निस्सन्देह कह सकता हूं कि, इस प्रकार के दिव्य ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा, वैराग्य, ईश्वरैकतानता, विश्वबंधुत्व आदि अनेक सात्विक गुण एक ही व्यक्ति में एकत्रित देखने का सुअवसर आज तक मेरे भाग्य में न था। ऐसा मौका कभी आया ही नहीं।

महाराज थोड़ा सा हँसे।

एम ने महाराज के पवित्र चरणों पर मस्तक नवा कर दण्डवत् प्रणाम् किया और घर जाने के लिए वहां से बाहर निकला। उत्तर के दरवाजे तक वह गया और वहां उसे कुछ स्मरण आया, इसलिए फिर महाराज के पास कुछ पूछने के लिए लौट आया।

महाराज उस धुंधले प्रकाश ही में इधर-उधर घूम रहे थे। उस समय वे अकेले—बिलकुल अकेले—ही थे, दूसरा कोई भी न था! मृगराज (केसरी) भी इसी तरह वन में अकेला ही घूमा करता है। उस भयानक स्थान में उसको स्वयं अपनी आंतरिक शक्ति के सिवाय और किसीका कुछ भी आधार नहीं रहता। इसी तरह महात्माओं को भी किसी बाह्य वस्तु के आधार की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें केवल आत्मसहवास ही में आनंद होता है। सचमुच उस नर-सिंह को इस जगदारण्य में अकेला रहने में, केवल आत्माराम ही के सहवास में रहने में, बहुत आनंद होता था।

एम विस्मित होकर महाराज की ओर देखता हुआ खड़ा ही रहा। उसके मुख से एक शब्द भी न निकला! वह मन में सोचने लगा, " ऐहिक सुखों का त्याग करके अनंत के साथ एकांत में रममाण होना—अनंत के साथ तादात्म्यवृत्ति से

रहना—यही मनुष्य-जन्म की 'इतिकर्तव्यता' है ! इस इतिकर्तव्यता की प्रत्यक्ष सिद्धि यहीं देख पड़ रही है !"

महाराजः—अरे, तू वापस क्यों आया ?

एमः—महाराज ! आपने जहां मुझे आने को कहा है वह किसी श्रीमान् का घर होगा और वहां दरवाजे पर चौकीदार, पहरेवाले वगैरः लोग बहुत से होंगे। मुझे वहां भीतर कौन जाने देगा ? इसलिए मेरी यह इच्छा है कि मैं वहां न जाऊं तो अच्छा हो। मैं महाराज के दर्शन करने सदा यहीं आया करूंगा।

महाराजः—क्यों भाई, इतना डर क्यों ? वहां जाकर मेरा नाम लेना और यह कहना कि महाराज से मिलना है। बस, इतना कहने ही से कोई तुमको मेरे पास ले आयेगा।

एमः—अच्छा, जैसी महाराज की इच्छा !

इतना कहकर, फिर एक बार प्रणाम् करके, वह चल दिया।

बिन्दु ८।

श्रीरामकृष्ण पंडित विद्यासागर की भेंट को जाते हैं।

एकत्रित लोगः—विद्यासागर, भवनाथ, एम, हज़ा और अन्य बहुत से लोग।

पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से मिलने को महाराज की बड़ी इच्छा थी। इसलिए एक दिन सायंकाल के समय महाराज अपनी गाड़ी में बैठ कर, शिष्यों के साथ, पंडितजी के घर जाने के लिए चले। कलकत्ते के बादरबागान नामक स्थान में पंडितजी का घर था; यह जगह दक्षिणेश्वर से छै मील दूर थी।

यह शनिवार का दिन था। उस दिन श्रावण कृष्ण सप्तमी थी; और अँगरेज़ी तारीख ५ अगस्त सन् १८८२ थी। संध्या-काल के करीब पाँच बजे महाराज अपने स्थान से चले।

अन्त में गाड़ी पंडितजी के घर के सामने आ खड़ी हुई। महाराज एम का हाथ पकड़ कर नीचे उतरे। दीवानखाने—यहीं पंडितजी का पुस्तकालय भी था—के जीने की ओर घूमने के पहले महाराज एम से बोलेः—"क्यों रे, तुझे कैसा मालूम होता है? मुझे क्या अपने कोट के बटन लगाने चाहिए?"

एम ने उत्तर दियाः—महाराज! इस ओर आप कुछ भी ध्यान न दें। ऐसी बातों से आपका कोई सम्बन्ध नहीं है।

उस समय ऐसा जान पड़ा कि किसी छोटे बच्चे के समान तुरन्त ही महाराज उस बात को समझ गये। क्योंकि वह बात फिर उन्होंने छोड़ ही दी। वह बात सुनते समय किसी पाँच वर्ष के बच्चे के समान उनकी दशा देख पड़ी।

इसके बाद ये लोग जीने से मिली हुई एक कोठरी में पहुँचे; कोठरी का दरवाजा दक्षिणाभिमुख था। कोठरी में पंडितजी दक्षिण की ओर मुँह किए हुए कुर्सी पर बैठे थे। सदा की तरह, अँगरेजी चाल के अनुसार, उनके सामने टेबल रक्खा था, जिस पर कागज-पत्र और पुस्तकें आदि पड़ी थीं।

एम ने महाराज के आने की खबर दी और पंडितजी से उनकी पहचान करा दी। पंडितजी ने भी उठ कर उनका स्वागत किया। एक हाथ टेबल पर रख कर और पश्चिम की ओर मुहँ करके महाराज खड़े हो गये। चुपके पंडितजी की ओर वे देखते थे; परन्तु उनके उस मधुर, किसी बालक के समान, भोले और तेजस्वी चेहरे पर मुसकराहट की मृदु लहरें खेल रही थीं।

यहां जो लोग बैठे थे उनमें एक विद्यार्थी भी था, जो पंडितजी के पास कुछ प्रार्थना करने आया था।

यहां खड़े खड़े पंडितजी की ओर देखते हुए ही, सदा की तरह, महाराज का देहभान जाता रहा। उनकी समाधि लग गई। थोड़ी देर बाद नीचे बैठ कर वे अपनी सदा की तरह बोले, "मुझे थोड़ा सा पानी पीने के लिए चाहिए।" इस पर पंडितजी ने एक से पूछा, "अभी बरद-वान से मिठाई आई है, उसमें से क्या महाराज थोड़ीसी ग्रहण करेंगे?" जब मालूम हुआ कि "हाँ ग्रहण करेंगे" तब पंडितजी भीतरवाली कोठरी में गये और पानी तथा मिठाई लेकर तुरन्त ही लौट आये और वह महाराज के सामने रख दी। शिष्यमंडली ने भी उस प्रसाद को स्वीकार किया।

महाराज की समाधि लगती है।

वहां के एक शिष्य को जब महाराज मिठाई देने लगे तब पंडितजी बोलेः—"ऊँः! वह घर का ही लड़का है। उसे आप दें चाहे न दें।" इस पर महाराज ने कहा, "हूँ! यह अच्छा लड़का है। इसकी दशा फल्गू नदी के समान है। बाहर से तो उसका पाट कोरा ही होता है; पर उसके नीचे अदृश्य प्रवाह बड़ी तीव्रता से बहता रहता है। इसका अन्तःकरण सत्य से भरा हुआ है—इसमें अन्तस्सार बहुत है।"

महाराज (विद्यासागर से):—आज सौभाग्य से मुझे सागर का दर्शन एक बार हो ही गया। आज तक मैंने बहुत से बम्बे, नहरें, नाले, नदी किंबहुना नद भी देखे। (हँसी)

विद्या।

(चतुर वाचक यह समझ ही लेंगे कि यहां पर महाराज ने विद्या-सागर नाम के अर्थ पर विचार किया।)

विद्यासागरः—तो फिर महाराज, अपने उस सागर से कुछ खारा पानी खुशी से आप घर ले जाइये। (हँसी।)

महाराज—नहीं पंडितजी, आप खारे समुद्र कभी नहीं हो सकते। आप अविद्यासागर नहीं हैं; आप क्षीरसागर हैं—विद्यासागर हैं। (हँसी।)

विद्यासागर:—आप चाहे जैसा कहिये। (हँसी।)

महाराज:—आपका स्वभाव सतोगुणप्रधान है, और सतोगुण सत्य ज्ञान की ओर ले जानेवाला है। हाँ, इतना अवश्य है कि आपमें जो सतोगुण का स्वरूप है वह आप को स्वस्थ बैठने नहीं देता, सदा उद्योग में रखता है; और उसीके योग से आप सत्कर्मों में लगे रहते हैं। दान और दया आदि गुणों का आचरण यदि निष्काम बुद्धि से होता है तो फिर उसकी उत्तमता के लिए कहना ही क्या है। इस आचरण में यदि कहीं भक्ति की पुष्टि मिल गई तो फिर ईश्वर-प्राप्ति के लिये और क्या चाहिए? जहां दया, क्षमा, शान्ति आदि सद्गुण हैं वहीं ईश्वर का वास है।

निष्काम कर्म है।

और मैं यह भी कहता हूं कि आपको सिद्ध पुरुष ही समझना चाहिए; क्योंकि आपकी दयाशीलता से आपका अन्तःकरण बिलकुल ही मृदु और कोमल बन गया है। देखिये न, आलू और दूसरी शाक-भाजी जब तक सिद्ध (तयार) नहीं हो जाती, तब तक मृदु नहीं होती। (हँसी) (सिद्ध शब्द के दो अर्थ हैं:—१ पूर्णता को पहुंचा हुआ मनुष्य और २ पक्व, अच्छा पका हुआ। इन दो अर्थों पर महाराज का विचार।)

सिद्ध।

विद्यासागर—परन्तु कलैचो (?) दाल सिद्ध होने पर औंटने से कठिन हो जाती है, बिलकुल ही मृदु नहीं रहती। क्या यह सच है? (हँसी।)

महाराज (हँसकर):—परन्तु पंडितजी, आपका वह हाल नहीं है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आप कोरे पंडित नहीं हैं।

केवल पुस्तकी ज्ञान के विषय में महाराज का मत।

देखिये, हम लोगों के पंचांग में लिखा रहता है कि अमुक अमुक दिन इतनी इतनी जलवृष्टि होगी। परन्तु पंचांग यदि निचोड़ा जाय तो क्या एक बून्द भी उससे हमें मिल सकता है? हम लोगों में से पंडित कहलानेवाले मनुष्य बड़ी बड़ी बातें मारते हैं। ब्रह्म, माया, मीमांसा, ज्ञानयोग, तत्वज्ञान, आध्यात्मिक शास्त्र, आदि विषयों पर वाक्पाण्डित्य करते हुये वे मानो प्रत्यक्ष बृहस्पति को भी लजाते हैं। परन्तु अपने अनुभव के साथ बोलनेवाले थोड़े ही हैं। बहुतों का ज्ञान शब्दों ही में लिपटा रहता है। उनमें ज्ञान-संस्कृत पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं।

जिसके योग से हम ईश्वर को पहचान सकते हैं वह पराविद्या है। बाकी सब—मीमांसा, तर्क, न्याय, व्याकरण, आदि आदि केवल बुद्धि के लिए भार मात्र हैं। इनके योग से बुद्धि गड़बड़ में पड़ कर भूल जाती है। ये सब यदि पराविद्या की प्राप्ति में सहायता करें तो उनका उपयोग ठीक है।

भगवद्गीता का सार।

एक दृष्टि से देखा जाय तो सारे भगवद्गीता का पारायण करने से कोई लाभ नहीं। " गीता " " गीता " सिर्फ दस बार कहो, बस हो गया। दस बार " गीता "-" गीता " कहने से " त्यागी "-" त्यागी " शब्द निकलने लगता है। अच्छा त्यागी किसे कहते हैं? जिसने परमेश्वर के लिए अपनी गृहस्थी को—सम्पत्ति, मान, सकाम कर्म, इन्द्रिय-सुख, इत्यादि को—तिलांजलि दे दी है।

सारांश यही, कि गीता कहती है कि "त्याग करो"। सच्चा सन्यासी सिर्फ शिर का ही मुंडन नहीं करता है; किन्तु उसी प्रकार मन का भी मुंडन करता है। वह जिस प्रकार सब सांसारिक कर्म छोड़ देता है उसी प्रकार कर्मफल का भी त्याग करता है।

सच्चा गृहस्थ बात की बात में संसार का त्याग करता है--अर्थात् ईश्वरभक्ति के लिए सब कर्मों का फल छोड़ने के लिए वह तयार रहता है।

अतएव गीता का सार यह निकला कि:—हे मनुष्य, सिर्फ ईश्वर में तू अपनी भक्ति रख। ईश्वर के लिए सर्वस्व का त्याग कर।

एक मनुष्य के पास एक हस्तलिखित पुस्तक थी। उससे किसीने पूछा, कि भाई! यह कौन सी पोथी है? उस मनुष्य ने वह पुस्तक उसके सामने खोल कर रख दी। उस समय जब उसने देखा तो उस पुस्तक में प्रत्येक पृष्ठ पर 'ॐ राम' यही, सिर्फ ईश्वर के, नाम लिखे हैं तब उसे महान् आश्चर्य हुआ।

एक बार चैतन्यदेव दक्षिण की ओर यात्रा कर रहे थे। वहां एक भगवद्भक्त से उनकी भेंट हुई। वहीं एक जगह एक पंडित भगवद्गीता पढ़ रहा था, जिसे सुनते हुए उस भक्त के नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी। अच्छा, इस भक्त के पास विद्या की गन्ध भी न थी। गीता का एक अक्षर भी वह न समझता था। उससे पूछा गया कि तेरे नेत्रों से अश्रु क्यों बह रहे हैं? उसने उत्तर दिया कि, "इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीता का एक शब्द भी मैं नहीं समझता हूं। परन्तु गीता का

ावचन्द्रसेनादि शिष्यों को जो उपदेश दिये थे, उन्हीं उप-
ों का यह संग्रह है। मूल ग्रंथ, बंगला में, तीन भागों में
भाजित है। इस ग्रन्थ व रत्न की स्वामी विवेकानन्द ने कितनी
सा की, इसकी कल्पना, अन्यत्र प्रकाशित स्वामीजी के
से, हो सकती है। उसी अनुपम ग्रंथ की विशेष महत्व-
बातें चुनकर श्रीरामकृष्ण के परमभक्त श्रीयुत 'एम' ने
spel of Shri Ramkrishn नाम से एक ग्रन्थ
ाशित किया। प्रस्तुत पुस्तक उसीका अनुवाद है। पहिले
ग्रन्थ क्रमशः "हिन्दी चित्रमय-जगत्" में छपता रहा, परन्तु
र में "हिन्दी चित्रमय-जगत्" के पाठकों के अनुरोध से ही
चित्रशाला के स्वामी ने ग्रन्थरूप में प्रकाशित किया है।

अन्त में केवल इस एक बात को ही लिख कर इस विस्तृत
ाका को समाप्त करना ठीक है कि जिस उद्देश से यह ग्रन्थ
ना गया है, भगवान करे, वह उद्देश्य शीघ्र ही सफल हो!

यह मनुष्य यद्यपि अन्तर-शत्रु था, तथापि पराविद्या तक पहुंचा हुआ था; क्योंकि उसमें ईश्वर-सम्बन्धी शुद्ध भक्ति थी और कृष्ण परमात्मा की मूर्ति उसके हृदय में बसी थी।

ज्ञानयोग वेदान्त अथवा अद्वैत मीमांसा का निरूपणः—

वेदान्त का शुद्ध बुद्ध और नित्य ब्रह्म।

महाराजः—अच्छा, मैं अभी विद्या ही के विषय में तो बोलता था? परन्तु ब्रह्म, विद्या और अविद्या दोनों से परे है। ब्रह्म-गिरि पर जाने के लिए जो सोपानपरम्परा लगी है उसकी विद्या बिलकुल ऊपर की—अन्त की—सिढ़ी है। ब्रह्म को शिखर समझिये। माया—अर्थात् यह सब भासमान जगत्—विद्या और अविद्या का मिश्रण है। अर्थात् वह (ब्रह्म) माया से परे—माया के उस तरफ़—है।

ब्रह्म बिलकुल अलिप्त है। पाप-पुण्य और सुख-दुःख का खुलासा।

ब्रह्म, पाप-पुण्य और सुख-दुःख से अलिप्त है, इनका वह केवल साक्षी है। वह दीपक के समान है। दीपक के प्रकाश में हम श्रीमद्भागवत के समान पवित्र ग्रन्थ पढ़ सकते हैं; उसी तरह उसी दीपक के प्रकाश में दुष्ट हेतु रख कर, झूठे दस्तावेज भी बना सकते हैं। अथवा कहिए कि ब्रह्म सर्प के समान है। सांप के दांत में विष भरा रहता है। उस विष से उसे उपाधि नहीं होती, उस विष की बाधा उसे नहीं व्यापती और नहीं उससे उसकी मृत्यु होती है। वह सचमुच विष ही है। पर स्वयं सर्प के लिए वह निर्विष ही है। जिसे वह दंश करेगा उस प्राणी के लिए वह विष ही है।

संसार की कोई भी विपत्ति, कोई भी पाप, कोई भी दुःख क्यों न लीजिए—वह विपत्ति, वह पाप और वह दुःख सिर्फ अपने ही लिए सच्चा है। परमेश्वर को—ब्रह्म को—उसका असर

नहीं होता। ब्रह्म उससे परे—उससे दूर—है। जिस प्रकार सांप के दांत का विष सांप के लिए विष नहीं है, उसी प्रकार संसार का दुःख परब्रह्म के लिए दुःख नहीं है। ब्रह्म, पाप-पुण्यातीत—सुख-दुःखातीत—है।

हाँ, ब्रह्म सब से अलिप्त है। उस ब्रह्म की परीक्षा, मानवी सुख-दुःखों की कसौटी पर, नहीं करना है—मानवी सुख-दुःखों के चश्मे से ब्रह्म की ओर देखना उपयोगी नहीं है। उसका सूर्य सुख-दुःखों पर बराबर ही प्रकाशित रहता है।

ब्रह्म अव्यपदेश्य किंवा अनिर्वचनीय है।

उच्छिष्ट अन्न जैसे भ्रष्ट है वैसे ही सब कुछ—अधिक क्यों, अपौरुष वेद, पुराण, तंत्र और सब धर्मग्रन्थ, मानवी मुख का स्पर्श हो जाने के कारण—मानवी वाणी से उनका उच्चार होने के कारण—मानों भ्रष्ट ही हो गये हैं। इस नियम के लिए अपवादात्मक केवल एक ही वस्तु है, और वह वस्तु ब्रह्म है। क्योंकि जब हम वेद अथवा अन्य धर्मग्रन्थ पढ़ते हैं तब वागिन्द्रिय का उपयोग हमें करना पड़ता है; और इस प्रकार उन्हें (धर्म ग्रन्थों को) हम अपने मुख का स्पर्श कराते हैं, इसमें कुछ भी शंका नहीं। अतएव यदि यह कहा जाय, कि उच्छिष्ट अन्न की तरह वे सब भ्रष्ट हो गये हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। परन्तु आज तक सृष्टि का कोई भी प्राणी ब्रह्म का यथार्थ वर्णन नहीं कर सका। अतएव वह अनिर्वचनीय, अचिन्तनीय और अकल्पनीय है।

विद्यासागरः—मुझे स्वीकार करना चाहिए कि सचमुच बिलकुल नवीन कोई न कोई बात आज मुझे मालूम हुई। अर्थात् ब्रह्म ही एक ऐसी वस्तु है जो आज तक मुख से भ्रष्ट नहीं हुई है।

महाराजः—हाँ, यह ठीक है। वह किसीसे भी—काल-देश निमित्त आदि से भी—मर्यादित नहीं हुआ। फिर भला शब्द-

द्वारा अर्थात् मुख से—कोई उसका यथार्थ वर्णन कैसे कर सकता है?

अच्छा, ब्रह्म अगाध समुद्र के समान है। वह निरुपाधिक, षड्विकारातीत और मर्यादातीत है। इस कारण उसका कोई भी लक्षण बतलाया नहीं जा सकता! स्वयं वेदों को उसका वर्णन करते हुए हार खानी पड़ी है; उसका वर्णन करते करते अन्त में वेद थक गये और उसे केवल "आनन्द" बतला कर उन्हें मौन व्रत धारण करना पड़ा!

तुम से यदि कोई कहे कि महासागर का यथार्थ वर्णन करो तो तुम बड़ी गड़बड़ी में पड़ जाओगे! कदाचित् तुम्हारे मुख से लड़खड़ाते हुए यही शब्द निकलेंगे कि "अरे रे! इस विस्तार का भी कहीं ठिकाना है! लहरें भी कितनी उठ रही हैं! यह कैसी गर्जना हो रही है!" बस।

शुकदेव आदि बड़े बड़े ऋषि लोग महान् प्रयत्न करके जो कुछ सिद्ध कर सके, वह इतना ही कि इस शाश्वत सागर का उन्हें दर्शन हो गया और उसके जल का स्पर्शानुभव और थोड़ा सा आस्वाद मात्र वे पा सके! उन्होंने यदि इस सागर में पैर डाला होता तो उसीमें सदा के लिए निमग्न होते और फिर इस जगत् में वे देख भी न पड़े होते!

मर्यादित ज्ञान उस परम गुह्य का पार नहीं पा सकता। चीटियों और शक्कर के पर्वत का दृष्टान्त।

एक बार कुछ चींटियाँ एक शक्कर के पर्वत पर आईं। वास्तव में उन्हें इस बात की कल्पना भी न थी कि वह पर्वत बहुत ही भारी है। शक्कर के कुछ कण खाते खाते उनका पेट भर गया। इसके बाद एक एक कण मुख में लेकर वे चल दीं। जाते जाते उन सबों ने सोचा कि अगली बार सारा पर्वत का पर्वत हम अपने बिल में ले जा सकेंगी।

अरे रे! मनुष्य की भी यही दशा है! उसे भी ऐसा ही भ्र होता है! सच पूछिये तो ब्रह्म का साक्षात्कार होना—अपरोक्षानु भव आना—बहुत थोड़े मनुष्यों के भाग में पड़ता है। परन्तु दुर्भाग्य से बहुत लोग यह निश्चयपूर्वक समझ लेते हैं कि ब्रह्म का असली पता हमें लग गया है, ब्रह्म का साक्षात्कार हमें हो गया है, ब्रह्मानन्द की अनुपम माधुरी हमने चख ली है।

चींटी समझती है कि हमने प्रायः शक्कर का सारा पर्वत अपने घर में लाकर भर लिया है; क्योंकि उसका पेट भर जाने से उसे सन्तोष रहता है? यही हाल हमारे उन तार्किकों का है, जो अपने ही तर्क के जाल में भूले रहते हैं! अपने छटाक ही भर ज्ञान से वे डकारते रहते हैं, अपने टुटपुँजिया ज्ञान से वे संतुष्ट रहते हैं। अतएव उन्हें ब्रह्म का आकलन होता है! अर्थात् उन्हें इस बात का ज्ञान होता है कि ब्रह्म कैसा है और कैसा नहीं है!!!

यह समझ कर कि, हमें अनन्त, शुद्ध, बुद्ध, नित्य और मुक्त ब्रह्म का स्वरूप पूर्णतया मालूम हो गया है, लोग वाक्पांडित्य दिखलाते रहते हैं!

बहुत हुआ तो शुकदेव आदि महान् महान् ऋषि चींटे से समझे जा सकते हैं। यदि हम यह कहें कि आठ-दश शक्कर के कण खाने का उनमें सामर्थ्य था तो कहा जा सकता है कि उनके विषय में यह हमने उचित ही कहा।

यह कहना, कि शक्कर का सारा पर्वत खाने के लिए कुछ चींटियाँ उसे अपने बिल में ले गईं, जितना पागलपन है उतना ही यह कहना भी पागलपन है कि हमें ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान हो गया।

विन्दु ९।

जीवात्मा और परमात्मा, अथवा जीव और शिव, का ऐक्य ही वेदान्ती अथवा ज्ञानी पुरुष का साध्य है। वेदान्ती जो खटपटादि खटपट करता है उसका अन्तिम हेतु यही रहता है। कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस महावाक्य का अनुभव कर लिया जाय।

वेदान्ती या ज्ञानी का साध्य।

एक बार एक नमक की पुतली के मन में आया, कि समुद्र की थाह लेना चाहिए। इसलिए वह समुद्र-तीर को चली। पानी की ठीक ठीक माप निकालने के लिए उसने अपने हाथ में एक डोरी भी ले ली थी। वह समुद्र के किनारे पहुँची और अपने आगे फैले हुए महान् विस्तृत समुद्र की ओर उसने एक बार अपनी दृष्टि डाली। इतनी बात होने तक वह जैसी की वैसी, नमक की पुतली ही, बनी हुई थी; अर्थात् उसका स्वत्व कायम था। उसको बिलकुल ही धक्का नहीं पहुँचा था। पर ज्योंही उसने एक कदम आगे बढ़ा कर पानी में पैर रक्खा, त्योंही वह समुद्र में मिल गई—नष्ट हो गई—बिलकुल ही अदृश्य हो गई! उस नमक की पुतली का प्रत्येक परमाणु समुद्र के पानी में घुल गया। जिस नमक की वह बनी हुई थी वह नमक समुद्र ही से आया था; और यह चमत्कार तो देखिये, कि समुद्र के उसी नमक में मिलने के लिए वह फिर वहीं लौट आई! जीवात्मा फिर परमात्मा में मिल गया!

नमक की पुतली का दृष्टांत।

मानवी देह के आश्रय से रहनेवाला आत्मा—जीवात्मा—ही नमक की पुतली है। और केवल तथा शुद्ध परमात्मा अनन्त महासागर है।

यह नमक की पुतली लौट कर यह नहीं बतला सकी, कि समुद्र की गहराई कितनी है। सौभाग्य से निर्विकल्प समाधि जिसे सध जाती है उसका यही हाल होता है; उस समाधि में द्वैत का बिलकुल लय हो जाता है और शुद्ध अद्वैत—केवल ब्रह्म—का अनुभव होता है। चूंकि वह ब्रह्म ही हो जाता है, इसलिए संसार को यह बतलाने के लिए कि ब्रह्म कैसा और कितना है, वह समुद्र से बाहर फिर आता ही नहीं। अच्छा यदि माता—परमात्मा—की कृपा हुई और वह नमक की पुतली कदाचित् फिर द्वैतरूप से लौट आई, तो भी वह बोलेगी जीवों की ही भाषा; अर्थात् उसके सब शब्द समर्याद होंगे। माया की कक्षा में फँसे हुए जीवों की भाँति ही उसकी कृतियाँ होंगी।

ब्रह्म का निरूपण करने में शब्द जो लूले पड़ जाते हैं, इसका कारण यही है। सोपाधिक और मर्यादित जीवों की भाषा में केवल और अपार ब्रह्म का यथार्थ विवेचन कदापि नहीं हो सकता। अनन्त का वर्णन करने में शान्त शब्द कहां तक काम देंगे?

ब्रह्म शब्दातीत है। पिता और उसके दो पुत्रों का वेदान्त विषयक दृष्टान्त।

एक आदमी के दो लड़के थे। जब वे कुछ बड़े हुए तब पिता ने सोचा कि उन्हें ब्रह्मचर्याश्रम में रख कर विद्याभ्यास कराया जाय। अतएव उसने अपने दोनों पुत्रों को एक गुरू के सिपुर्द कर दिया। वहां वे लड़के वेदों और शास्त्रों का अध्ययन करने लगे। कुछ काल बाद बाप ने सोचा कि अब देखना चाहिए कि लड़कों के अध्ययन का क्या हाल है। वह लड़कों को बुला लाया और उसने उनसे यह प्रश्न किया कि वेदान्त शास्त्र का, जो जिज्ञासुओं को ज्ञानप्राप्त करा देता है उसका, तुमने

अध्ययन किया है या नहीं? लड़कों ने उत्तर दिया "हाँ, किया है।"

बाप—अच्छा, बालको! तुमने वेदान्त का अध्ययन किया ही है, तो फिर हमें तुम इतना ही बतला दो कि ब्रह्म कैसी वस्तु है।

बड़ा लड़का (वेदों और शास्त्रों के अनेक प्रमाणवाक्य बतला कर):—दादा! वह अवाङ्मानसगोचर है—वह शब्दों से बतलाने योग्य अथवा मन से जानने योग्य नहीं है। परन्तु वह जैसा है, वैसा मैंने उसे समझ लिया है। (फिर उसने वेदान्त के अनेक आधारभूत वाक्य बतलाये।)

बापः—अच्छा, जाने दे। मालूम हुआ कि तुझे ब्रह्मज्ञान हुआ। ठीक है। अब तू अपने काम को जा। अब, बेटा, तू बतला, तेरा क्या कथन है। ब्रह्म क्या वस्तु है?

यह प्रश्न उसने अपने दूसरे लड़के से किया। इस लड़के ने कोई उत्तर नहीं दिया; किन्तु चुपके से शिर नीचा किये हुए सिर्फ खड़ा ही रहा। उसके मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। और न उसने बोलने का कुछ प्रयत्न ही किया। बहुत देर तक वह वैसा ही खड़ा रहा।

यह देख कर उसका बाप बोला, "हाँ, बेटा! तेरा ही उत्तर ठीक है। ब्रह्म के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जहाँ उसके विषय में कुछ बोलना शुरू किया कि बस समझ लो, हमने उसका अनन्तत्व नष्ट करके सान्तत्व ला दिया, उसका केवलत्व अथवा निरुपाधिकत्व निकाल कर उसे सोपाधिकत्व दे दिया, उसका अमर्यादितत्व छीन कर मर्यादितत्व उसके मत्थे लगाया। वेदान्त के सैकड़ों श्लोकों अथवा वचनों का आधार देने से जो कार्य नहीं हो सकता वह तेरे मौनव्रत ने कर दिखलाया।

जिसे ज्ञान का अनुभव प्राप्त हो चुका है वह बोलने अथवा वादविवाद के झगड़े में पड़ता ही नहीं
अपरोक्षानुभूति। ब्रह्म के विषय में बोलने का मौका आय कि बस उसकी वाक्शक्ति उसे छोड़ जाती है। एक ब्रह्म ही ऐसी वस्तु है कि जिसका, तादात्म्य वृत्ति से सिर्फ अनुभव लिया जाता है; उसका वर्णन कर्म नहीं किया जा सकता, अथवा वह जाना भी नहीं जा सकता। अनुभव को छोड़कर उसके विषय में अन्य बात ही नहीं है। सब शंकाओं की निवृत्ति होना ही, अर्थात् शब्दाडम्बर बिलकुल दूर होना ही, अथवा तार्किक वाद-विवाद बन्द पड़ना ही वास्तव में अपरोक्षानुभव होने का मुख्य लक्षण है।

जब हम कढ़ाई में मक्खन को डाल कर उसे आंच पर रखते हैं तब उसमें आवाज कब तक होती है? जब तक उसमें इतनी उष्णता नहीं आ जाती कि उसका जलांश जल जाय, या उसमें पानी का कुछ भी अंश न रहे, तभी तक। मक्खन जब तक अच्छी तरह—पूर्णतया—नहीं पक जाता तभी तक वह ऊपर को उबलता है और कल्-कल्-कल्-कल् आवाज करता है।

जो मक्खन अच्छी तरह पक कर निःशब्द हो गया है—घी बन गया है—वही ब्रह्मसाक्षात्कार किया हुआ सच्चा ज्ञानी पुरुष है। मक्खन को जिज्ञासु कह सकते हैं। उसमें जो पानी का अंश है। उसे अग्नि के संस्कार से निकाल डालना चाहिए। यह पानी का अंश अहंकार है। जब तक यह अहंकार निकलता निकलता है तब तक कैसा नृत्य करता है! पर जहां एक बार वह जलांश—अहंकार—बिलकुल नष्ट हो गया कि बस पक्का घी बन गया। फिर उसमें गड़बड़-सड़बड़ कुछ नहीं। (हँसी।)

जब मक्खन का जलांश—अहंकार—निकल जाता है तब उसका सब मैल कढ़ाई में नीचे जा बैठता है। यही मल विषय (कामिनी और कांचन) और उनके दुष्ट साथी (इन्द्रिय-लोलुपता, सकाम कर्म, आदि) हैं।

अच्छा, सिद्ध पुरुष, बिलकुल ऊपर तक भरे हुए घड़े के समान हैं। घड़ा जब तक भरता है तब तक वह भक्-भक्-भक्-भक् आवाज करता रहता है; पर ज्योंही भर गया त्योंही वह आवाज बिलकुल बन्द हो जाती है। यही आवाज विवेक या विचार है। इसी विवेक की सहायता से, यदि माता की कृपा हुई तो, ज्ञान की प्राप्ति होती है। घड़े से निकलनेवाली आवाज से यह जाना जाता है कि अभी वह घड़ा नहीं भरा। उसी प्रकार यदि विवेक या विचार हो रहा है तो इससे सिद्ध होता है कि अभी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हुआ।

फूल पर चुपके बैठकर भ्रमर जब तक मधुपान का प्रारम्भ नहीं करता तभी तक वह गूँऽऊँऽऊँ शब्द करता रहता है। परन्तु ज्योंही उसने मधु में मुख लगाया त्योंही उसका गुंजारव बन्द हो जाता है।

क्या ज्ञानप्राप्ति के बाद भी विवेक होता रहता है?

यहां एक प्रश्न उठता है कि गुरु ज्ञानी होता है; पर जब वह शिष्यसम्बन्धी अपना कर्तव्य करता है तब उसे विवेक का सहारा लेना पड़ता है—यह क्या बात है? शिष्य का अज्ञान दूर करने के लिए गुरु को बोलना ही चाहिए। यह विवेक है जरूर; तथापि वह बाधक नहीं होता।

कढ़ाई का वह मक्खन जब आंच से पक कर पका घी हो जाता है तब वह आवाज नहीं करता, यह सच है। इसमें कोई सन्देह नहीं। पर उस पक्के घी में कच्ची 'पूरी' डाल कर तो देखो, तुरन्त ही आवाज निकलने लगती है। जहां उस तप्त

हुए घी से, 'पूरी' के पानी का संयोग हुआ कि फिर तुरन्त ही आवाज शुरू हो जाती है और जब तक वह 'पूरी' पक कर खाने योग्य नहीं हो जाती तब तक वह आवाज नहीं रुकती।

यह 'पूरी' ही शिष्य है। तपा हुआ घी जो फिर बोलने लगता है—गुरु फिर जो विवेक का अवलम्बन करने लगत है—यह सिर्फ 'पूरी' के कच्चेपन—शिष्य के अज्ञान—को मिटाने के लिए करता है। आवाज बन्द होते ही समझ लेना चाहिए कि शिष्य में पक्कापन आ जाने के कारण गुरु ने बोलना बन्द किया है।

आत्मा का ज्ञान केवल आत्मा ही को होता है।

अब तक जो निरूपण किया गया उसका यहाँ निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा का ज्ञान सिर्फ आत्मा ही को होता है। जो बोधस्वरूप है, उसकी पहचान सिर्फ वही कर सकता है जो स्वयं बोधस्वरूप होगा। जब तक जीवात्मा की भिन्नता कायम है—जब तक उसने माया का संग नहीं छोड़ा—तब तक उसे अपरोक्षानुभव की आशा रखना व्यर्थ है। ब्रह्म होकर ही ब्रह्मपद के सुख का अनुभव कर सकते हैं।

यह जो कहते हैं कि 'ईश्वर अज्ञान और अज्ञेय है' उसका अर्थ यही है—(उपर्युक्त निष्कर्ष।)

माया मिथ्या है। शांकर मत।

सब भेद माया के राज्य में छाये रहते हैं। अर्थात् माया के कारण ही सब भेद उत्पन्न होते हैं माया का निरास होते ही भेद समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्माण्ड की सारी बातें—प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अवस्था—उत्पत्ति, स्थिति, लय—देह, मन और आत्मा के कार्य और दशा—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, ध्यान आदि अवस्था—ये सब केवल माया के खेल हैं। शंकर आदि आचार्यों के मत

के जो अनुयायी हैं—जो वेदान्ती अथवा ज्ञानी हैं—उनकी दृष्टि से ये सब बातें मायिक अथवा मिथ्या हैं।

इनके मतानुसार सिर्फ एक ब्रह्म ही सत्य है; जग मिथ्या है, अर्थात् ब्रह्म की दृष्टि से देखा जाय तो जग मिथ्या ठहरता है। ब्रह्म के तईं यह सृष्टि, मनुष्य, जीवमात्र मिथ्या हैं, क्योंकि एक ब्रह्ममात्र सत्य है। माया के मिथ्यापन का अनुभव होते ही अहंभाव उड़ जाता है, अथवा कहिये कि वह फिर अस्त हो जाता है या मिट जाता है। इस अहंकार का नाममात्र भी नहीं रहता। यही निर्विकल्प समाधि है।

जब तक हमारी यह दृढ़ भावना है कि मैं (देह) सत्य हूं, तब तक यह कहना, कि, ' जग मिथ्या है, ' बिलकुल पागलपन है ! जिसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ—जिसे अपरोक्षानुभव नहीं हुआ—उसे जग का मिथ्यापन भी नहीं मालूम हो सकता—अर्थात् तब तक उसे यह अनुभव भी नहीं हो सकता कि जग किस प्रकार मिथ्या है।

अब, जो सत्पुरुष समाधिपद छोड़ कर नीचे के अंग या अवस्था में, माता की इच्छा से, लौट आता है उसका अहंकार उसमें फिर उदित होता है। परन्तु वह भिन्न, मर्यादित और निर्मल तथा विशुद्ध होता है। अहंकार का उदय होते ही वह योगी फिर कर्मभूमि में—इस मायिक जगत् में—संचार करने लगता है। जब तक उसका अहंकार (स्वत्व, अस्तित्व, देह) उसे सत्य (सापेक्ष भाव से) मालूम होते रहता है तब तक जगत् भी सत्य रहता है और ब्रह्म मिथ्या (सापेक्षता से) रहता है।

उसकी अहंवृत्ति—मैंपन—ज्योंही फिर उसमें आ जाती है, त्योंही उसे यह मायानिर्मित—प्रकृतिनिर्मित—सृष्टि सत्य मालूम होने लगती है। परन्तु, चूंकि उसकी अहंवृत्ति ब्रह्म-साक्षात्कार के कारण निर्मल, निर्लेप अथवा पुनीत होती है; इसलिए

उसे यह सृष्टि, अव्यक्त का ही, व्यक्तरूप देख पड़ती है—उसे जान पड़ता है कि यह चारों ओर विश्वरूप से ब्रह्म ही फैला है—इस सृष्टिरूप से ब्रह्म ही दरस रहा है। इस विश्व में उसे जहां तहां ब्रह्म ही दिखने लगता है और इस दृष्टि से उसमें सत्यता आती है।

उसी प्रकार उसे यह भी देख पड़ता है कि यह माया विद्या रूप है या अविद्यारूप। इस माया में—इस विश्व में—जैसी उसे विद्या देख पड़ती है वैसी ही अविद्या भी देख पड़ती है—अर्थात् इन दोनों का अस्तित्व उसे देख पड़ता है।

विद्या ईश्वराभिमुख करनेवाली—ईश्वरप्राप्ति के लिए साधक है। विवेक, वैराग्य, भक्ति, इत्यादि उसके अंग हैं। अविद्या ईश्वर-पराङ्मुख करनेवाली—ईश्वरप्राप्ति में बाधक है। कामिनी, कांचन, महत्व, सन्मान, कर्मासक्ति, इत्यादि उसके अंग हैं।

अपरोक्षानुभवः—द्वैत और अद्वैत का समन्वय।

परमेश्वर का सगुणत्व और परमेश्वर का निर्गुणत्व—इन दोनों का जिन्होंने समाधि में अनुभव किया है—परमेश्वर के दोनों रूपों का—अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों का—अपरोक्ष ज्ञान जिन्हें समाधि में हुआ है—उन्हींको विज्ञानी कहते हैं। (जिसे परमेश्वर का विशेष ज्ञान हो गया है—जिसने परमेश्वर को प्रत्यक्ष अथवा अनुभव से जान लिया है—वही विज्ञानी है। यही विज्ञानी शब्द का भात्पर्य या मूलार्थ है।)

ईश्वर, माया, आत्मा, जगत्, इत्यादि भेदों के लिए, आदि-माया—प्रकृति—के रूप से, ब्रह्म ही कारण होता है—ये भेद, प्रकृति के रूप से, पुरुष ही निर्माण करता है—यह बात विज्ञानी पुरुषों के प्रत्यय में आ जाती है। भीतर-बाहर (अन्तरंग में और बाह्य जगत् में) उन्हें परमेश्वर दिखता रहता है और यह साक्षात्कार उन्हें स्वयं उसीसे मिलता है।

परमेश्वर (सगुण) ने उनसे यह कहा है, कि "समाधि में, निर्गुण ब्रह्म के रूप से, मैं ही भासमान होता हूं। वे भेद मने ही निर्माण किये हैं। चोबीस पदार्थों या तत्वों का--जीवात्मा और जगत् का--आदिकारण मैं ही हूं।

सगुण ब्रह्म (प्रकृति) ही सारे नामरूपात्मक भेदों का—उत्पत्ति स्थिति लय का—कारण होता है. जो परमेश्वर के सिर्फ सगुण रूप के ही भूखे होते हैं—अर्थात् जो भक्तिमार्गी होते हैं—उनके लिए वह (सगुण ब्रह्म) अनेक रूपों से प्रकट होता है, भक्तों का सम्पूर्ण जीव परमेश्वर का सगुण रूप ही है और यह सगुण रूप ही इस भेद प्रपंच का मूल कारण है, अतएव वह (सगुण ईश्वर) उन्हें नानारूपात्मक देख पड़ता है। विज्ञानी पुरुष के लिए वह (सगुण परमेश्वर) सिर्फ एक ही त्रिगुणात्मक रूप से प्रकट होता है। विज्ञानी को चारो ओर उसका सिर्फ एक त्रिगुणात्मक रूप देख पड़ता है, भक्तों को वही बहुरूपी देख पड़ता है।

परमेश्वर (सगुण) अपने सतोगुण से पालन करता है, रजोगुण से उत्पत्ति करता है और तमोगुण से संहार या लय करता है। इन गुणों की वसति परमेश्वर के तई रहती है—ये गुण परमेश्वर में रहते हैं, परन्तु वह उनमें नहीं रहता--वह बिलकुल अलिप्त रहता है।

परमेश्वर (सगुण या निर्गुण) के लिए प्रमाण एक ही है—साक्षात्कार।

विज्ञानी की आत्मा (अहंवृत्ति) निर्मल और पुनीत होती है, अतएव उसे परमेश्वर दिखता रहता है, वह उसका सगुण तथा निर्गुण अंग भी देख चुका है। अपने भीतर और अपने बाहर वह उसकी वाणी सुन चुका है। इतना ही नहीं, किन्तु वह उससे प्रेम वार्ता भी कर चुका है। उसे पिता, माता, बन्धु, पत्नी, पुत्र, दास, इत्यादि मान कर वह उसको पुकार भी चुका है। अत-

एव इन विज्ञानी पुरुषों का, जो अधिकारी बन चुके हैं, वचन प्रमाण ही है। उसके कथनानुसार माया (सृष्टि) कुछ मिथ्या नहीं है। विज्ञानियों के अनुभव के अनुसार माया अव्यक्त की ही व्यक्तावस्था अथवा निर्गुण ब्रह्म का ही सगुण रूप है। माया निर्गुण ब्रह्म के सगुण अंग का सिर्फ बाहरी विस्तार है। मानवी योनि के अथवा तिर्यग्योनि के जीवात्मा तथा ब्रह्मांड के यावत् दृश्य पदार्थ उसी सगुणरूप ने उत्पन्न किये हैं। (अथवा यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि ये सब उस सगुणरूप से उत्क्रान्त हुए हैं।)

विज्ञानियों का यह आधार—उनका यह प्रमाण—बिलकुल अकाट्य अथवा अमोघ है; क्योंकि उनको साक्षात्कार का सहारा है।

परमात्मा ने अपने सगुण और निर्गुण दोनों रूपों से—दोनों अंगों से—ऋषियों को साक्षात्कार कराया है। मनुष्यों का उद्धार करने के लिए तथा भक्तों को सन्तुष्ट करने के लिए समय-पर ऐसा साक्षात्कार होता है।

सगुण और निर्गुण परमात्मा।

परमात्मा निष्क्रिय अकर्मक है—वह उत्पत्ति, स्थिति, लय, आदि कुछ नहीं करता—ऐसा जब मैं उसे मान लेता हूं, ऐसी उसके सम्बन्ध में जब मैं भावना कर लेता हूं तब मैं उसे ब्रह्म, अथवा पुरुष, अथवा निर्गुण परमात्मा कहता हूं; और उसीको जब मैं सक्रिय अथवा सकर्मक—उत्पत्ति स्थिति लय, आदि कार्य करनेवाला—मानता हूं, अथवा उसके विषय में जब मैं उक्त भावना करता हूं तब मैं उसीको शक्ति, माया, प्रकृति, अथवा सगुण परमात्मा नाम देता हूं।

उपमाओं का उपयोग।

उपमान और उपमेय सब प्रकार से बिलकुल समान कभी नहीं होते। उपमाएँ सदा एकांगी अथवा एकदेशीय होती हैं। उपमाओं की योजना इस लिए की जाती है कि जिससे अज्ञात वस्तु का विशेष गुण अथवा लक्षण स्पष्ट रीति

से दृष्टि में आ जाय और तद्विषयक सामान्य विचार श्रोताओं के मन में प्रकट हो जाय--उसका साधारण ज्ञान उन्हें हो जाय।

उदाहरणार्थः--यदि हमने कहा कि 'वह बाघ के समान है' तो ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वह सब बातों में--शिर, दांत, नख, पूँछ इत्यादि में--बाघ के समान ही है। उस समय हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि बाघ के समान उसके पूँछ है या बाघ की तरह उसके नख हैं। किन्तु उस वाक्य का सिर्फ इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि 'उसका रूप उग्र है; अथवा वह बाघ के समान पराक्रमी और साहसी है; तथा जिस काम को वह चाहेगा, कर सकता है--किसी काम में भी वह डर कर पीछे नहीं हट सकता।'

अतएव परमेश्वर के सगुण और निर्गुण रूपों का सम्बन्ध समझाने में चाहे जितनी अच्छी उपमाओं की योजना की जाय, तथापि उनसे पूर्ण समाधान नहीं हो सकता। वह, अनुभव का ही काम है।

तथापि यह नहीं हो सकता कि उनका बिलकुल ही उपयोग न हो। आध्यात्मिक ज्ञान इन्द्रियातीत होता है। अतएव उसके सच्चे स्वरूप का रूप रंग--चाहे बिलकुल ही धुंधला क्यों न हो--मनरूपी चक्षुओं के सामने आने में उपमाओं से बड़ी मदद मिल सकती है।

दोनों एक हो हैं।

पर, यदि वास्तव में देखा जाय तो ब्रह्म, अथवा निर्गुण परमात्मा और शक्ति, अथवा सगुण परमात्मा, दोनों का अन्तर शून्य है। इनमें बिलकुल ही अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं।

अग्नि और उसकी दाहकशक्ति जैसे एक है वैसे ही सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म दोनों एक ही हैं। दाहक शक्ति से विरहित अग्नि की क्या कोई कुछ भी कल्पना कर सकता है !

दूध और उसकी शुभ्रता ये दोनों जैसे एक हैं वैसे ही वे भी एक हैं। शुभ्रता विना दूध की कल्पना मन में नहीं आती।

रत्न और तेज जैसे एक हैं वैसे ही वे भी एक हैं। तेज को छोड़ कर केवल रत्न की कल्पना हम कर ही नहीं सकते।

सर्प और उसकी वक्रगति ये दोनों जिस प्रकार अभिन्न हैं, उसी प्रकार वे भी अभिन्न हैं। वक्रगति विना सर्प की कल्पना नहीं की जा सकती।

विन्दु १०।

(ब्रह्मनिरूपण।)

ईश्वर क्या पक्षपाती है ? क्या सब मनुष्य समान होते हैं ?

महाराजः—मैं यह पहले बतला ही चुका हूं कि उत्पत्ति, स्थिति और लय का काम शक्ति (माया, प्रकृति, सगुण ब्रह्म) करती है। उसके दो स्वरूप हैं:—विद्याशक्ति और अविद्याशक्ति। घटाघट में ये बराबर प्रकाशित नहीं होते—प्रत्येक घट में ये बराबर प्रमाण में व्यक्त नहीं होते। यह प्रमाण सदा भिन्न होता है। चाहे मनुष्य हो, चाहे कोई अन्य प्राणी हो—वह सब में भिन्न ही भिन्न होता है। क्योंकि भिन्नत्व, वैचित्र्य अथवा विषमता ही सृष्टि का सामान्य नियम है। एकत्व अथवा समता उसका नियम नहीं है।

विद्यासागरः—तो फिर, महाराज, हम जब संसार में आते हैं त हम सब को ईश्वरी दान (बुद्धि, रूप, गुण, लक्षण, त्यादि) बराबर न मिलना कैसी बात है । क्या कुछ चुने ए प्यारे लोगों के लिए ईश्वर पक्षपात करता है ?

महाराजः—हाँ, देखिए, मैं समझता हूं कि जैसी संसार की शा हो उसीके अनुसार हमें चलना चाहिए। ईश्वर के कार्यों ा ज्ञान मनुष्य को कभी नहीं हो सकता—उसके 'हेतु' मनुष्य कभी नहीं समझ सकता।

वह विभु (सर्वव्यापक) है, अतएव सब प्राणियों में—चींटी के समान क्षुद्र प्राणियों में भी—यही नहीं, प्रत्येक वस्तु में, वह भरा हुआ है। यह सच है कि ईश्वर अपने सब प्राणियों में अधिष्ठित—व्याप्त—रहता है, तथापि यह भी झूठ नहीं है कि सब प्राणी सामर्थ्य और गुणलक्षणों में भिन्न भिन्न होते हैं।

अन्यथा एक ही मनुष्य दस मनुष्यों के लिए भी बली होकर उनको पराजित कैसे करता है ? किसी अधिक शक्तिवान् पुरुष को देख कर अकेला-दुकेला आदमी भग जाता है—उसके सामने अकेले-दुकेले पुरुष की दाल नहीं गल सकती। यह सभी जानते हैं।

शारीरिक बल का जैसा यह हाल है वैसा ही नैतिक बल का भी है। धार्मिकता और आध्यात्मिकता का भी यही हाल है। नीतिमत्ता भिन्न भिन्न होती है। आध्यात्मिकता का भी सर्वत्र बराबर प्रमाण नहीं होता।

मैं आप ही से पूछता हूं कि अन्य तमाम लोगों की अपेक्षा लोग आपका इतना अधिक क्यों सन्मान करते हैं ? कुछ यह तो नहीं है कि आप कोई विलक्षण मनुष्य हों—आपके मस्तक पर दो शृंग हों—और इसीलिए आपको देखने के लिए इतनी भीड़ लगी रहती हो ! (हँसी।)

नहीं। सृष्टि के नियमानुसार उसमें भिन्नता रहनी ही चाहिए, और मेरी माता—शक्ति—ही इन अनेक रूपों से व्यक्त हुई है। उसका निज का सामर्थ्य अनन्त है और वही जगत् तथा जीव के रूपों से—शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक अथवा आध्यात्मिक विषयों में भिन्न भिन्न अनेक वस्तुओं अथवा प्राणियों के रूपों से—नाट्य कर रही है।

और यह मेरी माता और कोई नहीं है—ब्रह्म है। यह कह कर महाराज ने निराकार परब्रह्मरूपिणी काली माता का एक पद गाया।

महाराज की समाधि लगती है—समाधि में साक्षात्कार।

वह स्तोत्रमय पद समाप्त होते ही जान पड़ा कि महाराज ने समाधि के अवर्णनीय प्रदेश में प्रवेश किया है। उनका वह दिव्य और श्रुति मधुर शब्द बन्द हो गया। बाह्य चक्षु निश्चल और स्थिर हुए। अन्तश्चक्षु भीतर ही भीतर उस दिव्य दर्शन के सुख का अनुभव करने लगे। थोड़ी देर तक ब्रह्मसाक्षात्कारामृत में महाराज ने मज्जन किया। उनके मुख पर दिव्य तेज झलकने लगा और अन्त में मन्दस्मित की लहरें उनके मुख पर उठने लगीं।

अधूरी जागृतावस्था में आकर वे बोले—हाँ, मेरी माता—काली—केवल ब्रह्म ही है। षड्दर्शनों ने इतना उत्कृष्ट विवेचन किया है, तथापि वे जिस वस्तु का पता नहीं लगा सके वह वस्तु मेरी माता ही है।

सब समर्थ माता।

उस माता की कृपा से जहाँ अहंवृत्ति का नाश हुआ कि समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और तब वह परमात्मा—जीवात्मा नहीं—ब्रह्मत्व का उपभोग करता है। यदि अहंकार, अथवा जीवात्मा, निर्मल होकर वैसा ही बना रहा तो सगुण परमात्मा का अथवा उसके किसी स्वरूप का—श्रीकृष्ण चैतन्य

देव, आदि—अवतारी पुरुष के रूप से; अथवा पुरुष, स्त्रियाँ, लड़के और सारे सजीव प्राणियों के रूप से, किंबहुना सम्पूर्ण चौवीस तत्वों अथवा पदार्थों के रूप से व्यक्त होनेवाले उसके स्वरूप का; दर्शन अथवा अपरोक्षानुभव होना उसकी कृपा से सम्भव है।

मेरी माता (सगुण परमात्मा) निर्विकल्प समाधि में अहंवृत्ति स्वयं ही निकाल डालती है—उसका लय कर देती है। जिसका परिणाम यह होता है कि समाधि में ब्रह्मरस लूटने को मिलता है।

कभी कभी अपनी इच्छा के अनुसार वह अपने भक्तों के तईं अहंवृत्ति स्थिर रखती है, उन्हें दर्शन (साकार अथवा सगुण रूप से) देती है और उनसे बातें करती है।

साक्षात्कार और तर्क अथवा अनुमान; ईश्वर के सगुणत्व का प्रमाण; ईश्वर के निर्गुणत्व का प्रमाण।

ब्रह्म-भाण्डार की कुञ्जी सिर्फ शक्ति ही के पास—उपनिषदों के वर्णन किए हुए सगुण ब्रह्म ही के पास, अथवा भक्तों के साकार देवता ही के पास—रहती है। तत्ववेत्ता अथवा मीमांसक लोगों का जिस पर सारा निर्भर है वह उसकी विचारशक्ति अथवा तर्कशक्ति उसी से—मेरी माता ही से—सगुण परमेश्वर ही से—उन्हें प्राप्त होती है।

इसके सिवाय प्रार्थना, ध्यान, भक्ति, आत्मसमर्पण, इत्यादि का उद्गम भी मेरी सर्वसमर्थ माता ही से है।

फिर एक बात और है, विज्ञानी पुरुष की समाधिस्थिति कभी कभी वैसी ही स्थिर रहती है और कभी कभी नहीं रहती। उस परमानन्द स्थिति में उसे भला कौन स्थिर रखता है? उसे जागृतावस्था ही में भला कौन लाता है? सगुण ईश्वर—मेरी माता ही। और कौन?

यह मेरी माता मिथ्या कैसे हो सकती है? कदापि नहीं हो सकती। एक ही सत्य का--ब्रह्म का--यह केवल सगुण अंग है। हाँ, इसी मेरी माता ने अपने लड़कों को यह आश्वासन दिया है:--' मैं हूं', ' मैं जगज्जननी हूं', 'वेदान्त का ब्रह्म मैं ही हूं', ' उपनिषदों का आत्मा भी मैं ही हूं।'

इस प्रकार सगुण ईश्वर साक्षात्कार देता है। साक्षात्कार ही उसके अस्तित्व का प्रमाण है।

अच्छा ब्रह्म का साक्षात् अनुभव काली ही (अर्थात् महाकाल का सगुणांग) ला देती है। जो योगी समाधि में है वह ब्रह्म के विषय में कुछ भी नहीं; बोल सकता। समुद्र में लय होनेवाली नमक की पुतली की तरह वह भी लय हुआ रहता है--उसका स्वत्व नहीं रहता--वह अद्वैतावस्था में रहता है--अच्छा, समाधि छूटने के बाद भी वह ब्रह्म के विषय में कुछ नहीं बोल सकता। जहां वह द्वैत में आया कि बस वह अद्वैत के विषय में--ब्रह्म के विषय में--निश्शब्द--मूक--हो जाता है। जहां वह एक बार सापेक्ष अथवा दिकालादि मर्यादित जगत् में आ गया, कि बस फिर केवल और मुक्त ब्रह्म के सम्बन्ध में उसका मुहँ बंद हो जाता है।

मेरी माता (ब्रह्म सगुणांग) यह 'कहती है, ' मैं ब्रह्म (उपनिषदों में वर्णन किया हुआ निर्गुण ब्रह्म) हूँ।'

इस कारण भी साक्षात्कार ही निर्गुण ब्रह्म का प्रमाण है। चाहे कोई भी ब्रह्म को चाहे जितना वर्णन करे, तथापि उस वर्णन में उसके अहंकार का गंध लगे बिना कभी नहीं रहेगा--उस वर्णन में उसका अहंकार--उसका द्वैतपन--अवश्य ही प्रतिबिम्बित होगा। कम से कम उसके ब्रह्म पर इस अहंभाव की छाया तो पड़े ही गी, अथवा उसके उस ब्रह्म पर इस अहंभाव का अवगुंठन अवश्य ही पड़ेगा!